# चित्त और मन

आचार्य महाप्रज्ञ



# चित्त और मन

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

*मुख्य-संपादक :*

**मुनि दुलहराज**

*संपादक :*

**मुनि धनंजय कुमार**

*संकलन*

**समणी स्थितप्रज्ञा**

ISBN 81-7195-040-X

*मूल्य* : 60 रुपये

*तृतीय संस्करण* : 1994

*प्रकाशक* : जैन विश्व भारती, लाडनूं 341306 (राज०)

*मुद्रक* : कोणार्क प्रेस, 5/201, ललिता पार्क, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92

**CHITT AUR MAN** –Acharya Mahaprajna

Rs. 60.00

# आशीर्वचन

मनुष्य का शरीर अनेक रहस्यों का पिण्ड है। चेतना-संवलित शरीर और अधिक रहस्यमय है। उन रहस्यों को खोलने का प्रयास चल रहा है। कुछ खुले हैं, कुछ अधिक गहरे हुए हैं। मन भी मनुष्य के शरीर तंत्र का एक अंग है। इसे समझना बहुत कठिन है। इसके अनेक रूप हैं। कब यह अपने एक रूप को बदलकर दूसरा परिधान पहन लेता है, कुछ पता ही नहीं चलता। मन क्या है? चित्त-वृत्तियों की अनेकरूपता मन को नए-नए रूप देती हैं अथवा मन की स्थिरता से चित्त का निरोध होता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं, जो मन की जटिलता को प्रकट करते हैं।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्त और मन की विशद व्याख्या की है। विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से इसके स्वरूप को विश्लेषित किया है। वे कठिन से कठिन तत्त्व को सरलता से प्रस्तुति देने की कला में निष्णात हैं। अब तक जिस विषय को काफी जटिल समझा जा रहा था, उसे सहजता से बोधगम्य कराने का एक प्रयत्न है उनकी नई पुस्तक 'चित्त और मन'। अनेक दृष्टियों से चित्त और मन का विश्लेषण करने वाली यह पुस्तक प्रेक्षासाधकों के लिए तो उपयोगी है ही, पाठ्यक्रम में भी इसका उपयोग किया जाए तो इससे व्यापक लाभ उठाया जा सकता है।

६ जून, १६६०
राणावास

**आचार्य तुलसी**

# प्रस्तुति

एक विशाल साम्राज्य है मन का। योग का प्रसिद्ध सूक्त है--**यत्र पवनस्तत्र मनः**, जहां पवन है वहां मन है। मन शब्द से हर कोई परिचित है। चित्त को बहुत कम लोग जानते हैं। आगम साहित्य में चित्त की चर्चा है। पातंजल योगदर्शन में चित्त का उल्लेख है। अधिकांश दर्शनों में चित्त और मन की भेदरेखा स्पष्ट नहीं है। फ्रायड ने मन को ही मानकर मनोविज्ञान को आगे बढ़ाया। कार्ल गुस्ताव यूंग ने मन से अधिक महत्त्व चित्त (साइक) को दिया। क्षेत्र दर्शन का हो, अध्यात्म का हो या मनोविज्ञान का। चित्त और मन के अन्तर को समझना अति आवश्यक है। चित्त हमारी चेतना है। मन अचेतन है। चित्त ज्ञाता है। मन उसका एक यन्त्र है, उपकरण है।

हम सन् १९७९ का चातुर्मास लुधियाना में बिता रहे थे। प्रेक्षाध्यान का शिविर। चित्त और मन के अन्तर की चर्चा। सी० एम० सी० हॉस्पिटल के फिजियोलॉजी विभाग के प्रोफेसर डा० मुखर्जी ने पूछा--चित्त और मन में क्या अन्तर है? उन्हें बताया गया--चित्त हमारे अस्तित्व का एक अंग है और मन हमारी प्रवृत्ति का एक तन्त्र है। इस स्पष्ट भेद-रेखा को प्राप्त कर वे भाव-विभोर हो उठे। उन्होंने कहा--यह प्रश्न मैंने युनिवर्सिटी के प्रोफेसरों और मेडिकल साइंस के अध्येताओं से अनेक बार पूछा पर इसका उचित समाधान नहीं मिला। अब मैं समाहित हो चुका हूं। इस विषय का एक नोट बनाकर अपने प्रोफेसर के पास भेजूंगा।

यह उलझन अनेक क्षेत्रों और अनेक लोगों की है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में समय-समय पर इस उलझन को सुलझाने का सूत्र खोजा गया। मुनि दुलहराजजी प्रारंभ से ही साहित्य सम्पादन के कार्य में लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुनि धनंजयकुमार एवं समणी स्थितप्रज्ञ ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

आचार्यश्री तुलसी ने प्रेक्षाध्यान एवं जीवन विज्ञान के प्रति अपनी जो तन्मयता प्रकट की है, जिस प्रकार जन-जन को उसकी ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है, उसकी सार्थकता सिद्ध होगी और उनका सार्थक आशीर्वाद जन-जन तक पहुंच सकेगा।

१४ जून, १९९०
मारवाड़ जंक्शन
पाली (राज०)

**युवाचार्य महाप्रज्ञ**

# सम्पादकीय

- अध्यात्म/दर्शन/विज्ञान
  योग और मनोविज्ञान
  के क्षेत्र का उलझा हुआ प्रश्न
  एक अबूझ पहेली है मन
  स्वरूप है स्मृति, कल्पना और चिन्तन
  प्रस्तुत है उसका विशद विवेचन।

- मन से परे है चित्त का अस्तित्व
  जिससे बना है हमारा व्यक्तित्व
  बहुत कुछ और भी है चित्त से परे
  उसे भी जानें, गहराई में उतरें।

- एक ओर चैतन्य की उपलब्धि का प्रश्न
  दूसरी ओर मन की बढ़ती हुई उलझन
  महाप्रज्ञ कहते हैं--
  समस्या है मन
  समाधान है अ--मन
  मन का विलय करें, अमन बनें
  सुलझेंगी स्वतः जीवन की उलझनें
  स्पष्ट होगी चित्त और मन की भेद-रेखा
  प्राप्त होगा पथ अलौकिक/अनदेखा
  पूरी होगी अस्तित्व को पाने की चाह
  बन जाएंगे एक राही और राह
  प्रस्तुत पुस्तक में निर्दिष्ट है उसकी प्रक्रिया और दर्शन
  जीवन के अनसुलझे प्रश्नों का मार्मिक विश्लेषण।

- हम पढ़ें *चित्त और मन*

  इसमें संदृब्ध है जैन मनोविज्ञान
  फ्रायड और यूंग की परम्परा को महाप्रज्ञ का अवदान
  मनोविज्ञान/मनोवैज्ञानिक के लिए एक नया प्रस्थान।

- आचार्य श्री तुलसी की अमोघ प्रेरणा/आशीर्वचन
  महाप्रज्ञ की प्रज्ञा से निःसृत चिन्तन-मन्थन
  मुनिश्री दुलहराज की कर्मजा शक्ति से निष्पन्न
  महाप्रज्ञ साहित्य का अभिनव आकल्पन
  समणी स्थितप्रज्ञा के श्रद्धासिक्त श्रम का परिणाम
  चित्त और मन को मिला एक अपूर्व आयाम
  जो नया भी नहीं है, पुराना भी नहीं है
  जो नया भी है, पुराना भी है
  किन्तु है अनुपमेय।

१४ जून, १९९०
मारवाड़ जंक्शन
पाली (राज०)

मुनि धनंजयकुमार

# अनुक्रमण

मन

# मन

## मन : परिभाषा

वर्तमान युग मानसिक समस्याओं का युग है। व्यक्ति मन की समस्या से संत्रस्त बना हुआ है। सुख एवं शान्तिपूर्ण जीवन में प्रमुख बाधा है--मन का समस्याग्रस्त होना। व्यक्ति मन की समस्या से मुक्ति पाना चाहता है। मन की समस्या से मुक्ति पाने के लिए मन को समझना जरूरी है। मन को समझे बिना, उसके अस्तित्व और कर्तृत्व को पहचाने बिना मन की समस्या को समाहित नहीं किया जा सकता।

प्रश्न है--मन क्या है? मन कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। वह चेतना से सक्रिय बनता है। एक वाक्य में परिभाषा की जाए तो कहा जा सकता है--जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है। शरीर का अस्तित्व जैसे निरन्तर है वैसे भाषा और मन का अस्तित्व निरन्तर नहीं है, किन्तु प्रवाहात्मक है। 'भाष्यमाण' भाषा होती है। भाषण से पहले भी भाषा नहीं होती और भाषण के बाद भी भाषा नहीं होती। भाषा केवल भाषण-काल में होती है--'भासिज्जमाणी भासा।' इसी प्रकार 'मन्यमान' मन होता है। मनन से पहले भी मन नहीं होता और मनन के बाद भी मन नहीं होता। मन केवल मनन-काल में होता है--'मणिज्जमाणे मणे।' मन एक क्षण में एक होता है--'एगे मणे तंसि तंसि समयंसि।'

## मन : विभिन्न मत

मन के विषय में अनेक धारणाएं हैं--

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं--एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्‌गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता। वह पौद्‌गलिक वस्तु का रस नहीं है। पौद्‌गलिक वस्तु का रस भी पौद्‌गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत् में होता है, वह पौद्‌गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषंगिक उपज भी। वह कार्यक्षम और शरीर की नियामक है।

### मन का मुख्य केन्द्र

मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है इसलिए वह ज्ञानात्मक है। उसका कार्य स्नायुमण्डल, मस्तिष्क और चिंतन-योग्य पुद्‌गलों की सहायता से होता है इसलिए वह पौद्‌गलिक भी है। हमारी शारीरिक और मानसिक--दोनों प्रकार की क्रियाएं स्नायुमण्डल के द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होती हैं। मस्तिष्क के दो भाग हैं--

१. बृहन्मस्तिष्क २. लघु मस्तिष्क

ज्ञानवाही स्नायु बृहन्मस्तिष्क तक अपना सन्देश पहुंचाते हैं और उसके ज्ञान प्रकोष्ठ क्रियाशील हो जाते हैं। मन का मुख्य केन्द्र यह बृहन्मस्तिष्क है। बृहद् मस्तिष्क के द्वारा जो चैतन्य प्रकट होता है, जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है, उसका नाम है मन।

### मन का काम

मन क्रियातंत्र का एक अंग है। यह एक कर्मचारी है। इसका काम है स्वामी के निर्देशों का पालन करना। यह न अच्छा करता है और न बुरा। अच्छे या बुरे का सारा दायित्व स्वामी का होता है, कर्मचारी का नहीं। मन एक नौकर है। इसका काम है स्वामी की आज्ञा का पालन करना, चित्त के निर्देश की क्रियान्विति करना। अच्छे-बुरे का दायित्व इस पर नहीं है किन्तु सारा दोष मन पर ही मढ़ा जाता है। यही सामने आता है। काम करने वाला ही सामने आता है, आदेश देने वाला सामने नहीं आता, वह पर्दे के पीछे खड़ा रहता है। व्यवहार में भी देखते हैं--नौकर किसी का आदेश लेकर आता है और वह आदेश प्रिय नहीं होता है तो सबसे पहले नौकर ही रोष का भाजन बनता है। सारा रोष उस पर उतर आता है। प्राचीन काल में दूत एक राजा का संदेश लेकर दूसरे राजा के पास जाता था। यदि वह संदेश प्रतिकूल होता तो राजा सोचता--इस दूत को मार डालना चाहिए। किन्तु उस समय राजाओं के बीच ऐसी संधि होती थी, जिसके कारण दूत को नहीं मारा जाता था। मन के साथ भी चित्त की सन्धि है। वह बेचारा दूत है। अनुकूल और प्रतिकूल निर्देशों का वह उत्तरदायी नहीं है, वह मात्र संदेशवाहक है। यदि मन के साथ कोई संधि नहीं होती तो मन को कभी मार डाला जाता। वह निर्दोष है, फिर भी सारा दोष उसी का माना जाता है। अध्यवसाय और चित्त उसे जो काम सौंपते हैं, उसका वह निर्वाह मात्र करता है।

## मन का अर्थ

मन का अर्थ है—संकल्प-विकल्प। मन का अर्थ है—स्मृति और चिंतन। मन का अर्थ है—कल्पना। मन तीनों कालों में बंटा हुआ है। जो अतीत की स्मृति करता है, उसका नाम. है—मन। जो भविष्य की कल्पना करता है, उसका नाम है—मन। जो वर्तमान का चिंतन करता है, उसका नाम है—मन। तीनों चंचलताएं हैं। जब स्मृति, कल्पना और चिंतन नहीं होते तब मन नहीं होता। जब मन होता है तब स्मृति, कल्पना अथवा चिन्तन अवश्य होता है। ऐसी स्थिति में मन को स्थिर करने की बात प्राप्त नहीं हो सकती। मन को स्थिर करने की बात केवल एक भ्रांति है। इसका मिटना आवश्यक है।

हम मन को जिस रूप में बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। मन एक होता है। उसमें असंख्य पर्याय हैं। वह भिन्न-भिन्न आकारों में बदलता है। हम जैसा चाहते हैं, वह उसी प्रकार का आकार लेना शुरू कर देता है। यह मन की विशेषता है।

## मन की भूमिकाएं

मन की दो भूमिकाएं हैं। एक है व्यग्रता की भूमिका और दूसरी है एकाग्रता की भूमिका। व्यग्र मन अर्थात् एक अग्र-आलंबन पर न टिकने वाला मन। नाना अग्रों—आलंबनों पर भटकने वाला मन। उसका भटकाव कभी नहीं मिटता। एकाग्रमन अर्थात् एक ही अग्र पर टिकने वाला मन। इसमें भटकाव मिट जाता है।

जितनी व्यग्रता होती है उतनी ही लक्ष्य से दूरी बनी रहती है। व्यक्ति ध्येय के निकट नहीं पहुंच पाता। ध्येय तक पहुंचने के लिए व्यग्रता को कम करना होता है।

## मन का स्थान

एक प्रश्न है—मन कहां है? इस सम्बन्ध में चार विचारधाराएं हमारे सामने हैं—

- मन समूचे शरीर में व्याप्त है।
- मन का स्थान हृदय के नीचे है।
- मन हृदय-कमल के बीच में है। हृदय कमल की आठ पंखुड़ियां हैं, वहां मन है। कुछ योगाचार्यों का मत है—बाएं फेफड़े में जहां हृदय है, उसके एक इन्च नीचे मन का स्थान है।
- वर्तमान शरीरशास्त्र का अभिमत है कि मन का स्थान मस्तिष्क है।

वस्तुतः ये सारी सापेक्षताएं हैं। यदि हम कहें कि मन समूचे शरीर में व्याप्त है तो वह सापेक्ष ही होगा। हमारे स्नायु-संस्थान में जितने भी ग्राहक स्नायु हैं, जो बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं, उनका जाल समूचे शरीर में फैला हुआ है। वे शरीर के सब भागों से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मन का शासन सर्वत्र व्याप्त है। राजा

अपनी राजधानी में बैठा है। यदि पूछा जाए--राजा कहां है तो कहा जा सकता है--जहां तक राज्य की सीमा है वहां तक राजा है। वह भले ही राजधानी में हो किन्तु उसका शासन सारे राज्य की सीमा में चलता है इसीलिए राजा सर्वत्र व्याप्त है।

'मन हृदय के नीचे है'--यह भी सापेक्ष है। सुषुम्ना की एक धारा हृदय को छूती हुई जाती है। उसका हृदय के साथ सम्पर्क है इसलिए हृदय को मन का केन्द्र मानना बड़े महत्त्व की बात है। वह भावपक्ष का मुख्य स्थान है।

मन का स्थान मस्तिष्क है, यह बहुत स्पष्ट है। ज्ञानतंतुओं का संचालन इसी से होता है। यह उन पर नियन्त्रण और नियमन करता है।

## शरीरविज्ञान की दृष्टि

शरीर में दो ज्ञानकेन्द्र होते हैं--एक मस्तिष्क या बृहद् मस्तिष्क, दूसरा मेरुदंड। ये दो मुख्य केन्द्र हैं। सारे शरीर में तंतुओं का एक जाल जैसा बिछा हुआ है। उन तंतुओं में दो प्रकार के तंतु हैं--एक ज्ञानग्राही और एक ज्ञानवाही। मूली की जड़ में रेशे होते हैं, जो रस का आकर्षण करते हैं, रस को खींचते हैं। उसी प्रकार हमारे तंतुओं में एक रेशे जैसे ज्ञानग्राही तंतु होते हैं। वे तंतु विषय को ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा गृहीत विषय को ज्ञानवाही तंतु मस्तिष्क तक पहुंचा देते हैं मेरुदंड के माध्यम से। ये ज्ञानवाही तन्तु (Sensory Nerves) कहे जाते हैं। बृहद् मस्तिष्क का जो मध्यभाग है, उसे भेजा--कारटेक्स कहा जाता है। ज्ञानग्राही तंतु विषय को पकड़ते हैं, फिर ज्ञानवाही तंतु उसे ले जाते हैं और मस्तिष्क के कारटेक्स तक पहुंचा देते हैं। फिर अनुभव होता है, प्रत्यय होता है।

एक काम होता है ज्ञान का और दूसरा काम होता है चेष्टा का। मस्तिष्क में दो केन्द्र हैं--एक ज्ञानकेन्द्र (Sensory Centre) और एक चेष्टाकेन्द्र या क्रियाकेन्द्र (Motor Centre)। ज्ञानकेन्द्र का काम है ज्ञान को ग्रहण कर लेना। फिर अनुभव का आदेश होता है चेष्टाकेन्द्र को, क्रियाकेन्द्र को । वह फिर प्रवृत्ति करता है। पैर में कांटा चुभा, कांटा चुभते ही जो चुभन हुई, उसका ज्ञान ठेठ मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। वहां से हाथ को आदेश मिलता है कि कांटे को निकालो। चेष्टाकेन्द्र सक्रिय हो जाता है। क्रियाकेन्द्र का आदेश होता है और क्रियावाही तंतु सक्रिय होकर कांटे को निकाल लेते हैं। यह सारी व्यंजन से लेकर क्रिया करने तक की प्रक्रिया है।

## प्रत्यय : इन्द्रियजन्य ज्ञान

यह है हमारे शरीर की प्रक्रिया--ज्ञान करने की और क्रिया करने की। सर्दी का मौसम है, ठंडी हवा चल रही है। हमें सर्दी लग रही है। यह है प्रत्यय या निर्विकल्प प्रत्यक्ष। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे प्रत्यय (Percept) कहते हैं। यह इन्द्रिय का सम्यक् बोध है। इसके बाद हमारा जो प्रत्यय हुआ, इन्द्रिय का

ज्ञान हुआ, उसके साथ फिर मन जुड़ता है। हमारी भाषा में पहले व्यंजन होता है। व्यंजन का मतलब है—विषय के पुद्गलों का ग्रहण होकर मस्तिष्क तक पहुंच जाना। फिर उस व्यंजन का बोध होता है। पहले मन का योग नहीं, केवल इन्द्रियों का ज्ञान रहता है। यहां आते-आते मन साथ जुड़ जाता है और वह मानसिक विषय बन जाता है। हम उससे आगे चलते हैं। मन साथ में जुड़ा तब उस विषय में तर्क, ऊह, अपोह होता है, निर्णय होता है और उसके बाद धारणा हो जाती है, अनुभव का संचय हो जाता है, शक्ति का संचय हो जाता है।

## संस्कार, धारणा और स्मृति

शक्ति-संचय तक हम एक कक्षा में पहुंच जाते हैं। प्रत्यय और प्रत्यय से शक्ति-संचय यानी धारणा। उसके बाद अगली प्रक्रिया शुरू होती है मन की। धारणा हो गयी। हमारे मस्तिष्क में धारणा के प्रकोष्ठ हैं। प्रत्यय आता है और तत्काल चला जाता है। प्रत्यय सामने नहीं रहता। हमने एक व्यक्ति को देखा। व्यक्ति चला गया। किन्तु प्रत्यय या निर्विकल्प ज्ञान अपने संस्कार छोड़ जाता है। मस्तिष्क में एक परिर्वतन होता है कि वह वहां संचित रह जाता है। अब क्या होता है? प्रत्यय तो चला गया किन्तु हमारे मन में एक प्रतिभा बन गयी। दूसरी कोई उत्तेजना सामने आती है, वह धारणा फिर जागृत हो जाती है। उसे हम कहते हैं स्मृति। संस्कार के जागरण से होने वाला संवेदन स्मृति कहलाता है। संस्कार जागा, जो वासना में था, वह जागृत हुआ, स्मृति हो गई। संस्कार और वासना का एक नाम है अविच्युति। जो अनुभव हुआ, वह च्युत नहीं होता, टिका रह जाता है और वही हमारे सामने स्पष्ट होता रहता है।

## मन की व्यापकता : विषय की दृष्टि

इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त और अमूर्त—सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए—मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नहीं कहा जाता, इसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं—श्रुत के माध्यम से बनते हैं इसलिए मन का विषय श्रुत है।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रियों के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है इसलिए वह भी उसका निमित्त बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

## मन की व्यापकता : काल की दृष्टि

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है--मनन के समय ही मन होता है। मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तुज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता-अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक। त्रैकालिक संज्ञान में स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमें भूत और भविष्य के संकलन की क्षमता होती है इसलिए मन को दीर्घकालिक संज्ञान भी कहा जाता है।

## विकास का तरतमभाव

प्राणिमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता। बादल कितने ही गहरे क्यों न हों, सूर्य की प्रभा रहती ही है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है। उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा--गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पंचेन्द्रिय-गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है।

## अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है--मन-रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त--मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अध्वसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है--हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, चलना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं।

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं।

सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं में होता है।

## मानसिक विकास

मानसिक विकास के चार रूप हैं--

- औत्पत्तिकी बुद्धि--प्रतिभा या सहज बुद्धि।
- वैनयिकी बुद्धि--आत्मसंयम, अनुशासन या गुरु-शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि।
- कार्मिकी बुद्धि--कार्य करते-करते अभ्यास से प्राप्त कौशल।
- पारिणामिकी बुद्धि--आयु की परिपक्वता के साथ बढ़ने वाला अनुभव।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनन्तगुण तरतमभाव होता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर अनन्तगुण हीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

## मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं--

बुद्धि--इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान।

उत्साह--कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालनेवाले कर्म पुद्‌गल के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य।

उद्योग--क्रियाशीलता।

भावना--पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है--विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है--आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है--सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है--तन्मयता उत्पन्न करना।

## चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियां

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रवृत्तियां हैं--इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं । मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं--

संकल्प--बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प--हर्ष-विषाद का परिणाम--मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं आदि।

### मन की व्यापकता : काल की दृष्टि

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है--मनन के समय ही मन होता है। मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तुज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता-अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक। त्रैकालिक संज्ञान में स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमें भूत और भविष्य के संकलन की क्षमता होती है इसलिए मन को दीर्घकालिक संज्ञान भी कहा जाता है।

### विकास का तरतमभाव

प्राणिमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता। बादल कितने ही गहरे क्यों न हों, सूर्य की प्रभा रहती ही है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है। उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा--गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पंचेन्द्रिय-गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है।

### अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है--मन-रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त--मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अध्वसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है—हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, चलना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं।

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं।

सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं में होता है।

## मानसिक विकास

मानसिक विकास के चार रूप हैं--

- औत्पत्तिकी बुद्धि--प्रतिभा या सहज बुद्धि।
- वैनयिकी बुद्धि--आत्मसंयम, अनुशासन या गुरु-शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि।
- कार्मिकी बुद्धि--कार्य करते-करते अभ्यास से प्राप्त कौशल।
- पारिणामिकी बुद्धि--आयु की परिपक्वता के साथ बढ़ने वाला अनुभव।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनन्तगुण तरतमभाव होता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर अनन्तगुण हीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

## मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं--

बुद्धि--इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान।

उत्साह--कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालनेवाले कर्म पुद्गल के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य।

उद्योग--क्रियाशीलता।

भावना--पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है--विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है--आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है--सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है--तन्मयता उत्पन्न करना।

## चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियां

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रवृत्तियां हैं--इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं । मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं--

संकल्प--बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प--हर्ष-विषाद का परिणाम--मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं आदि।

निदान–सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति–दृष्ट, श्रुत और अनुभूत विषयों की याद।

जाति-स्मृति–पूर्व-जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा–पहचान।

कल्पना–तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान–मानसिक रुचि।

लेश्या–मानसिक परिणाम।

ध्यान–मानसिक एकाग्रता।

स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान–ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न–ये मोह प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान–ये मोह-प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

## साधना का आधार

मन के स्वरूप को जानना इसलिए आवश्यक है कि वह हमारी साधना का मुख्य आधार है। उसी के आधार पर ध्यान करना है, उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियों का लेखा-जोखा करना है। मन के साथ चेतना का योग न हो तो ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं। फिर हम स्वयं सिद्ध बन जाते हैं। 'चेतना मन के साथ जुड़ी नहीं'–इसका अर्थ है–मन सक्रिय होता ही नहीं। उस स्थिति में कोई विकल्प नहीं होता, संकल्प नहीं होता, चिन्ता नहीं होती। मन का यंत्र मृतवत् पड़ा रहता है। यह ध्यान की भूमिका है। यह शुद्ध उपयोग की भूमिका है। मन का स्वरूप चेतना की धारा से निर्मित होता है। वह अपने-आप में न कलुषित है और न निर्मल, न चंचल है और न स्थिर। जैसा उत्पादन होता है वैसा ही वह निर्मित हो जाता है।

## अशान्ति क्या है ?

चेतना अतीतकालीन विभिन्न संस्कारों से प्रभावित होती है। उसकी निर्मल धारा आती है और मन के साथ योग करती है तो मन निर्मल बनता है, राग-द्वेष-रहित बनता है। चेतना के साथ मल आता है, आसक्ति आती है, अज्ञान आता है, राग-द्वेष आता है तो मन का स्वरूप दूसरा हो जाता है। निर्मल चेतना का योग भी मन में सक्रियता लाता है और मलिन चेतना का योग भी उसमें सक्रियता लाता है। सक्रियता दोनों ओर से आती है, किन्तु मन की स्थिति में अन्तर आ जाता है। उसका प्रवाह दो दिशाओं में विभक्त हो जाता है। राग-द्वेष-रहित चेतना का योग होने पर मन होता है पर आसक्ति नहीं होती। राग-द्वेष-युक्त चेतना का प्रवाह आता है तब मन भी होता

है और आसक्ति भी होती है। यही चंचलता है। इसकी अतिरिक्त मात्रा या पुनरावर्तन ही अशान्ति है।

## मानव मन की ग्रन्थियां

वस्तुतः कोई भी भौगोलिक राज्य उतना बड़ा नहीं है, जितना मनोराज्य है। कोई भी यान उतना द्रुतगामी नहीं है, जितना मनोयान है। कोई भी शस्त्र उतना संहारक नहीं है, जितना मनःशस्त्र है। कोई भी शास्त्र उतना तारक नहीं है, जितना मनःशास्त्र है। उसकी ग्रन्थियों को फैलाया जाए तो वे पांचों महाद्वीपों में नहीं समा पातीं। इस छोटे-से शरीर में इन असंख्य ग्रन्थियों की संहति बहुत ही आश्चर्यजनक है। वे मुकुलित रहती हैं। सामग्री का योग मिलने पर उनके मार्ग खुल जाते हैं। सामग्री का हमारे जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। इसके योग में मन की अनेक ग्रन्थियां संकुचित होती हैं तो अनेक विस्तार पाती हैं। मन विशाल होता है, समुदाय विघ्न नहीं बनता। मन छोटा होता है, समुदाय बाधक बन जाता है। परिवार में दो आदमी बढ़ते हैं तो पृथक्करण की प्रवृत्ति जाग जाती है। कुछ व्यक्तियों को पृथक्करण नहीं भाता, भले फिर दस व्यक्ति बढ़ जाएं। ये दोनों मन की संकुचित और विकुचित ग्रन्थियों के ही कार्य हैं।

जहां दस आदमी रहते हैं, वहां अवांछनीय भी कुछ हो जाता है। एक व्यक्ति उसे देख तत्काल उबल पड़ता है और दूसरा उसका परिमार्जन करता है। ये दोनों मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियों के ही परिणाम हैं।

## आत्म-साक्षात्कार : अनात्म-साक्षात्कार

हमारे मन में हजारों-हजारों अवस्थाएं प्रतिदिन घटित होती हैं। एक घंटा में साठ मिनट होते हैं और इन साठ मिनटों में शायद सैकड़ों घटनाएं घटित हो जाती हैं। बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिनके मन में हजारों घटनाएं न घटित होती हों। यथार्थ के जगत् में कितनी घटनाएं घटित होती हैं, नहीं कहा जा सकता, किन्तु मानसिक जगत् में हजारों घटनाएं घटित होती हैं। भोजन करने में दस-बीस मिनट लगते होंगे किन्तु उस समय का लेखा-जोखा करें तो पता चलेगा–खाने की घटना एक है किन्तु उस घटना की मध्यावधि में पचासों-सैकड़ों और घटनाएं घटित हो जाती हैं। इसलिए कि हम बाह्य का साक्षात्कार कर रहे हैं। आत्म-साक्षात्कार से उल्टा है अनात्म का साक्षात्कार। जब मन बाह्य के साक्षात्कार में लगता है, तब हमारे मन में हजारों-हजारों घटनाएं घटित होती हैं। अकारण भय आ जाता है, अकारण प्रेम आ जाता है, अकारण ही शत्रुता का भाव आ जाता है। चलचित्र पर जितने रूप नहीं उभरते, उससे ज्यादा रूप हमारे मन के चित्रपट पर उभरते हैं।

## आत्म-साक्षात्कार का मार्ग

बाह्य साक्षात्कार में बड़ी परेशानियां होती हैं। मन में जितने विकल्प उठते हैं, उतना ही मन अशान्त होता है। आदमी थक जाता है और बेचैनी का अनुभव करता है तब आदमी सोचता है कि दूसरे रास्ते से चलना चाहिए। वह आत्म-साक्षात्कार का रास्ता है। हम अनावश्यक विकल्पों को समाप्त कर देते हैं। यह आत्म-साक्षात्कार की पहली भूमिका है। हम कुछ विकल्पों को पुष्ट कर देते हैं, भावित करते हैं। उन्हें हम कहते हैं--सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यह हमारी दूसरी भूमिका है। इसका अर्थ है--जो हजारों-हजारों अनचाही बातें आती थीं, वे समाप्त हो जाती हैं और कुछेक बातों पर मन टिक जाता है। यह भी अंतिम मंजिल नहीं है। हम आगे बढ़ते हैं आत्म-साक्षात्कार की तीसरी भूमिका की ओर। वहां जाने पर शुद्ध आत्मदर्शन होता है, जहां कोई विकल्प नहीं, कोई विचार नहीं, कोई संज्ञा नहीं और कोई अनुभव नहीं। चैतन्य के सिवाय दुनिया में कुछ और है, इसका अनुभव भी खो जाता है। केवल चैतन्य, केवल चैतन्य और केवल चैतन्य। यह वह स्थिति है, जहां सोना अपने मल को खो देता है, मिट्टी अपने विकारों को खो देती है। मिट्टी के सैकड़ों रूप बनते होंगे--सिकोरा, घड़ा आदि-आदि किन्तु वहां केवल मिट्टी रह जाती है। इस स्थिति में हम जितनी देर रहते हैं, उतनी देर आत्मा का साक्षात्कार होता है।

## चैतन्य की चार क्रियाएं

जहां चेतना खण्डित होती है, वहां आनन्द भी खण्डित होता है। जहां चेतना अखण्ड, वहां आनन्द भी अखण्ड। जब हम शुद्ध चैतन्य का अनुभव करते हैं तब कोरा आनन्द ही आनन्द रहता है। जानना, देखना, शक्ति का अनुभव और आनन्द का अनुभव--ये चैतन्य की चार क्रियाएं हैं। अचेतन में ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं और आनन्द नहीं, केवल शक्ति है। शक्ति बहुत है। चेतन में अनन्त शक्ति है तो जड़ में भी अनन्त शक्ति है। पर चेतन में शक्ति के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है, इसलिए उसका साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है।

# मन की अवधारणा

विरोधी विचार आदमी के मन में पैदा होते रहते हैं। एक मन कहता है–यह काम करूं और दूसरा मन कहता है–वह काम करूं। एक मन कहता है–यह करूं तो दूसरा मन कहता है–यह न करूं। कितने मन हैं। शायद हर आदमी के मन में ऐसा प्रश्न उठता होगा और हर व्यक्ति यह सोचता होगा कि कितने मन हैं! अहिंसा के मार्ग में चलने वाले व्यक्ति के मन में कभी-कभी विचार आ जाता है हिंसा करने का और हिंसा के मार्ग में चलने वाले व्यक्ति के मन में कभी-कभी विचार उठ जाता है हिंसा न करने का। ब्रह्मचर्य पर चलने वाला अब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है और अब्रह्मचर्य पर चलने वाला ब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है। कितने विरोधी भाव हमारे मन में पैदा होते रहते हैं? सहज ही प्रश्न होता है–आदमी के मन कितने हैं?

### अनेक हैं चित्त की वृत्तियां

भगवान् महावीर ने कहा–'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे'–यह पुरुष अनेक चित्तों वाला है। मन तो एक ही है। हमारे चित्त अनेक होते हैं। हमारे चित्त की वृत्तियां अनेक होती हैं। चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियां जागती हैं, नाना प्रकार के चित्त जागते हैं और मन अनेक बन जाते हैं। मन अपने आप में एक होता है। चित्त की वृत्तियों के कारण और अनेक चित्तों के कारण मन भी अनेक जैसा प्रतिभासित होने लग जाता है।

### अज्ञात की दिशा

यह जो मानसिक अनेकाग्रता का प्रश्न है, मानसिक परिवर्तनशीलता, मानसिक चंचलता और विविधता का प्रश्न है, वह हमारे लिये एक मोड़ है। यहां से हम अज्ञात की खोज में प्रस्थान कर सकते हैं। यहां एक प्रश्न होता है और उस प्रश्न का समाधान अज्ञात में होता है। यदि सब कुछ ज्ञात मन ही करता तो इतने प्रकार के मन नहीं होते। ज्ञात के सिवाय भी कोई दूसरी दुनिया है और वह है अज्ञात की दुनिया। अज्ञात की दुनिया को खोजने पर हमारे व्यवहार की व्याख्या हो सकती है। आज के मनोविज्ञान ने इस अज्ञात की खोज कर हमारे व्यवहार की व्याख्या की है। एक प्रकार से उसने

आत्मा की दिशा में प्रस्थान कर दिया, स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् की दिशा में प्रस्थान कर दिया। यदि मनोविज्ञान की यह व्याख्या नहीं होती, 'डेप्थ साइकोलोजी' का 'कन्सेप्ट' हमारे सामने नहीं होता तो शायद हम केवल ज्ञात दुनिया की बात करते। जो दिखाई देता है, जो ज्ञात है, दृष्ट है, श्रुत है, उस सीमा में हमारी परिक्रमा होती, किन्तु इस अचेतन मन की मीमांसा ने आदमी को बहुत गहरे में उतार दिया।

## समग्र व्याख्या

फ्रायड ने कहा था–मनुष्य का मन एक हिमखंड जैसा होता है। हिमखंड का बहुत सारा भाग समुद्र में छिपा होता है। केवल थोड़ा-सा ऊपर का सिरा दिखाई देता है। जितना दिखाई देता है हिमखंड, उतना ही नहीं है। बहुत बड़ा है। दिखने वाला भाग छोटा है और न दिखने वाला बहुत बड़ा। ज्ञात छोटा और अज्ञात बड़ा।

यूंग ने मन की तुलना एक महासागर से की है। मन एक महासागर है। उसमें ज्ञात मन केवल एक द्वीप जैसा है। अज्ञात मन महासागर जैसा है और ज्ञात मन महासागर में होने वाले एक छोटे टापू जैसा है। हम अपने सारे व्यवहार और आचरण की व्याख्या ज्ञात मन के माध्यम से करना चाहते हैं। यह कभी संभव नहीं होगा। केवल ज्ञात मन के द्वारा जो व्याख्या की जाएगी, वह अधूरी होगी, मिथ्या होगी। जब ज्ञात और अज्ञात–दोनों मनों की समष्टि करेंगे तो सम्पूर्ण व्याख्या होगी।

## डेप्थ साइकोलॉजी

अज्ञात मन के लिये फ्रायड ने 'डेप्थ साइकोलोजी' की व्याख्या की। आज के मनोविज्ञान ने जो अचेतन मन की व्याख्या की, वह व्याख्या भारतीय दर्शनों ने कर्मवाद के आधार पर की, सूक्ष्म चेतना और चित्त के आधार पर की। मनोविज्ञान में मन और चित्त–दोनों में भेद नहीं किया गया किन्तु जैन दर्शन में बहुत स्पष्ट भेद किया गया है–मन भिन्न है और चित्त भिन्न है। मन अचेतन है और चित्त चेतन है। मन ऊपर का हिस्सा है, जो चित्त का स्पर्श पाकर चेतन जैसा प्रतीत होता है। चित्त हमारी भीतर की सारी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। अज्ञात मन, अचेतन मन को चित्त कहा जा सकता है और ज्ञात मन को मन कहा जा सकता है।

## मनोविज्ञान में मन के प्रकार

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किए हैं–

- अदस् (Id) मन
- अहं (Ego) मन।
- अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग में आकांक्षाएं पैदा होती हैं। जितनी

प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सब इस मन में पैदा होती हैं। इसमें अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अहं मन'। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं नियंत्रित हो जाती हैं, परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। मन में जो आकांक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अहं मन' उसे क्रियान्वित नहीं करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता मन'। यह 'अहं मन' पर भी अंकुश रखता है, उसे नियंत्रित करता है।

## दृष्टिकोण फ्रायड और यूंग का

चेतना की दृष्टि से उसके दो रूप सामने आते हैं--व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना। मनोविज्ञान में इन्हें चेतन और अचेतन कहा गया है। 'फ्रायड' ने मन के दो संभाग बतलाए--चेतन मन और अचेतन मन। 'यूंग' ने इस अवधारणा को बदल दिया। उन्होंने कहा--मन के दो संभाग ठीक नहीं हैं, क्योंकि मन के आधार पर बहुत निर्णय नहीं लिए जा सकते। मन बहुत जल्दी बदल जाता है। उसमें छिछलापन है, स्थायित्व नहीं है, गंभीरता नहीं है। जो इतना जल्दी बदल जाता है, उसके आधार पर कैसे निर्णय किया जा सकता है? उन्होंने मन को बहुत मूल्य नहीं दिया, माइंड की उपेक्षा कर उसके स्थान पर 'साइक' शब्द का प्रयोग किया। यह अधिक दायित्व वाला है, अधिक स्थायी है।

यूंग ने चित्त के दो संभाग कर दिए--चेतन और अचेतन। फ्रायड ने कहा--अचेतन मन में गंदगी भरी पड़ी है, कूड़ा भरा पड़ा है। वह दमित इच्छाओं का भंडार है। जो वासनाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं दमित हो जाती हैं, वे अचेतन में चली जाती हैं। वहां दबी पड़ी रहती हैं और स्वप्न के रूप में उभर कर सामने आती रहती हैं। यूंग ने इसका भी प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा--अचेतन मन केवल दमित इच्छाओं का भण्डार नहीं है। इसमें बहुत सारे अच्छे संस्कार भी हैं। दमित इच्छाएं हैं तो साथ-साथ में अच्छाइयां भी हैं। स्वरूप बदल गया।

## कर्मशास्त्र का संदर्भ

कर्मशास्त्र में हजारों वर्ष पहले इस विषय पर बहुत काम हुआ था। उसके संदर्भ में आज के मनोविज्ञान की समीक्षा करते हैं तो यूंग का मत अधिक संगत प्रतीत होता है। जैन आचार्यों ने कर्मशास्त्र के आधार पर दो प्रणालियां निर्धारित कीं। एक प्रणाली का नाम है औदयिक प्रणाली, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में स्टिमुलेशन ऑफ टेन्सन' कहा जा सकता है। यह आवेशों को उत्तेजना देती है। दूसरी है--क्षायोपशमिक प्रणाली, यह उत्तेजना का विलय करती है, उसे शान्त करती है।

औदयिक और क्षायोपशमिक प्रणाली का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है।

### संदर्भ इच्छा का

हम ज्यादा काम लेते हैं चेतन चित्त से। जो इच्छाएं और आकांक्षाएं पैदा होती हैं, वे चेतन चित्त के स्तर पर होती हैं। एक इच्छा के पैदा होने पर हमारे सामने दो विकल्प प्रस्तुत होते हैं--

१. इच्छा को पूर्ण करें। २. इच्छा का दमन करें।

हर इच्छा को पूरा करें--यह सामाजिक जीवन में संभव नहीं। कई इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता। इच्छा पर एक नियंत्रण है समाज की व्यवस्था का। इच्छा पर एक नियंत्रण है सभ्यता और शिष्टता का। उसका एक सूत्र है--अशिष्ट आचरण नहीं करना चाहिए। कुछ इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिन्हें पूरा भी किया जा सकता हैं। वे पूर्ण हो जाती हैं। एक अपूर्ण इच्छा, जिसको मनोविज्ञान की भाषा में दमित इच्छा कहा जाता है, भीतर चली जाती है, अचेतन में चली जाती है और वह बार-बार उभरती रहती है। वह सामान्य उपायों से निकलती नहीं, मिटती नहीं।

### इच्छापूर्ति का अर्थ

इच्छा को पूरा करने का अर्थ है--अचेतन इच्छा को और अधिक बलवान् बना देना, सशक्त बना देना। जिस इच्छा को भोगा, उस इच्छा का हमारा अभ्यास हो गया। जिसका अभ्यास हो जाता है, उसको टालना बहुत मुश्किल होता है। हम नए घर में जाएं, सीढ़ियों पर चढ़ें या सीढ़ियों पर से उतरें, हमें सावधानी बरतनी पड़ती है। क्योंकि हम उन सीढ़ियों से परिचित नहीं हैं। उन पर चढ़ने और उतरने का अभ्यास नहीं है, पर पांच-सात दिन चढ़ते रहें और उतरते रहें तो स्नायुओं को अभ्यास हो जाता है। उसके बाद घबराने की आवश्यकता नहीं होती। चाहे आँख मूंदकर सीढ़ियों पर चढ़ जाएं और चाहे उतर जाएं, कोई खतरा नहीं होता। आदमी की बात को छोड़ दें। कोई बैल गाड़ी के जुता हुआ है। दस कोश जाना है। एक दिन, दो दिन, दस दिन जिस रास्ते से गए और उसी रास्ते से वापस आए। इस स्थिति में बैल को हांकने की कोई जरूरत नहीं होती। उसे हांकने वाला मजे से सो जाता है, बैल अपने आप मार्ग पर चलता जाता है। कहां रुकना और कहां मुड़ना, वह अपने आप जान लेता है। यह होता है स्नायविक अभ्यास। इच्छा को पूरा करने का अर्थ है--एक स्नायविक आदत को डाल देना।

### इच्छा : दमन या भोग

दमित इच्छाएं, जो अचेतन इच्छाएं बन गईं, अचेतन में चली गईं, वे बार-बार

उभरती रहती हैं। प्रश्न है—इच्छा को पूरा करें या उसका दमन करें। पूरा करें, यह संभव नहीं। बहुत सारे उस पर नियंत्रण करने वाले तत्त्व हैं और यदि दमित करें तो वह बार-बार उभरती रहती है। आखिर समाधान क्या होगा? कैसे हम उस इच्छा से छुटकारा पा सकेंगे? एक रास्ता खोजना है। 'इच्छा पूर्ण कर लें' यह एक रास्ता है। पर इससे समाज व्यवस्था में उच्छृंखलता बढ़ती है। उस उच्छृंखलता के दुष्परिणाम भी आते हैं, आए हैं। आज एक छोटे बच्चे के मन में भी यह भावना बन गई—इच्छा को रोकना नहीं चाहिए, उसे भोग लेना चाहिए, पूरा कर लेना चाहिए। इच्छा को पूरा करना भी एक समस्या है।

**संदर्भ ब्रह्मचर्य का**

कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं का दमन करने से आदमी पागल बनता है। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य निषेधात्मक प्रवृत्ति है। इसलिए उसकी उपादेयता में उन्हें विश्वास नहीं है।

भारतीय चिन्तन इससे भिन्न रहा है। भारतीय मनीषी ब्रह्मचर्य को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं। उसमें निषेध केवल बाह्य उद्दीपनों का है। वह आन्तरिक चेतना के विकास और मुक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है इसलिए उसकी सृजनात्मक शक्ति बहुत व्यापक है।

योग के आचार्यों ने हमारे शरीर में सात चक्र माने हैं। उनमें दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान है। यह काम-चक्र है। यह चक्र विकसित नहीं होता तब मनुष्य वासना में रस लेता है। इस चक्र को हम विशुद्धि चक्र (कण्ठ-मणि) से संपृक्त कर देते हैं, तब हमारी आनन्दानुभूति का स्रोत बदल जाता है। हम आज्ञा-चक्र को विकसित कर लेते हैं, तब हमारी आनन्दानुभूति का मार्ग बदल जाता है। मानसशास्त्र के अनुसार काम का उदात्तीकरण होता है। योगशास्त्र के अनुसार काम-चक्र का ऊर्ध्वीकरण होता है। इस ऊर्ध्वीकरण से हमारे मन का सहज आनन्द के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुखानुभूति के द्वार को बन्द कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। आनन्दानुभूति के द्वार को खोल कर ही वह ब्रह्मचारी बन सकता है।

**चेतन : अचेतन**

हमारे भीतर असंख्य शब्द, रूप, गंध कैद किए हुए पड़े हैं। हजारों-लाखों वर्षों से यह क्रम चल रहा है। बाहर से एक बार बंद कर देते हैं किन्तु जब ये भीतर में संगृहीत शब्द, रूप आदि उभरते हैं तब आदमी विस्मय से भर जाता है। जो व्यक्ति ध्यान से पूर्व स्थिर था, चंचल नहीं था, वह एकाग्र होते ही इतना चंचल हो जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। हम ध्यान दें, शब्द कहां से आ रहे हैं? बाहर का दरवाजा बन्द है। बाहर से कोई प्रवेश नहीं कर पाता। जब कोई बाहर

से प्रवेश करता था, तब भीतर वाला सोया पड़ा था। जब बाहर से कोई नहीं आ रहा है तब भीतर वाले को जागने का अवसर मिल जाता है। जब चेतन मन जागता है तब अचेतन मन सोया रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है, जब कोन्शियस माइंड काम करता है तब अनकॉन्शियस माइंड काम नहीं करता। स्थानांग सूत्र का कथन है—जब संयमी जागता है तब उसके शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये पांच सोए रहते हैं। जब संयमी सोता है तब ये पांचों जाग जाते हैं। जब चेतन मन जागता है तब भीतर का तंत्र सोया रहता है। जब हम इस चेतन मन को सुला देते हैं तब भीतरी मन जाग जाता है। जब बाहरी मन जागता रहता है तब भीतर का भंडार भरता जाता है और एक दिन ऐसा आ सकता है कि एक भीषण विस्फोट होता है और आदमी उसे झेल नहीं पाता। जब चेतन मन जागृत रहता है तब हमें समस्याओं का अनुभव ही नहीं होता। वास्तव में जब हम ध्यान-साधना के द्वारा चेतन मन को सुला देते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि भीतर क्या-क्या है। जब तक सफाई का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक कुछ भी पता नहीं लगता।

**शोधन की प्रक्रिया**

जब शोधन की प्रक्रिया चलती है तब शब्द जागते हैं, भावनाएं जागती हैं। ऐसे शब्द और ऐसी भावनाएं जागती हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो आदमी भला और सज्जन दिखायी देता रहा है, वह भी अचानक हिंसक और बेईमान हो जाता है। उसके मन में बुराई की भावना जागती है, हिंसा की बात उभरती है, आत्महत्या के विचार आते हैं, चोरी करने की भावना जागृत होती है। गृहस्थ में ही नहीं, साधु-संन्यासी में भी ऐसा परिवर्तन होता है। जब वह ध्यान की गहराइयों में जाता है तब संस्कार उभरते हैं और परिणाम-स्वरूप ये सारी वृत्तियां जाग जाती हैं। तब स्वयं के मन में इन वृत्तियों के प्रति ग्लानि होती है। वह सोचता है—अरे, यह क्या? मैंने कभी इन निम्न वृत्तियों को पोषण दिया ही नहीं, फिर ये क्यों उभर रही हैं? ये वृत्तियां इसीलिए उभरती हैं कि उनके मूल संस्कार चेतना की गहराई में दबे होते हैं। ध्यान से वे जब छेड़े जाते हैं तब विपरीत भावनाएं आती हैं और व्यक्ति को बदल देती हैं। ध्यान भीतर तक पहुंचने वाली प्रक्रिया है। चित्त पर जो मैल जमा हुआ है, जो दोष जमे हुए हैं, संस्कार की परते गहरी जमी हुई हैं, उनको उखाड़ना, उखाड़ना और इतना उखाड़ देना कि पूरी धुलाई हो जाए। यह ब्रेनवाशिंग की प्रक्रिया भी नहीं है। मस्तिष्क की धुलाई भी ऊपर की बात है। यह पूरे ग्रंथितंत्र की धुलाई की बात है, जहां से सारे व्यवहार और आचार की प्रेरणाएं मनुष्य को उपलब्ध हो रही हैं।

**अवचेतन मन**

हमारे शरीर में जितनी भी ग्रंथियां हैं, ग्लैंड्स हैं, वे सब अवचेतन मन हैं,

सबकोन्शियस माइंड हैं। सारा ग्रन्थितन्त्र अवचेतन मन है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। यह ग्रन्थितंत्र मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान् है। इसे हमें जागृत करना है। यदि इसे सही साधनों के द्वारा जागृत करते हैं तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्त होने का अर्थ है सारी बाधाओं से मुक्त होना। शरीरशास्त्र अभी यह बताने में समर्थ नहीं है कि ग्रन्थियों की जागृति के सही साधन क्या हैं? अध्यात्म के पास इसका उत्तर है और वह उत्तर प्रयोगात्मक है।

### जागरण की प्रक्रिया

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, आत्म-प्रेक्षा, लेश्याओं का ध्यान–ये सब ग्रन्थियों को सक्रिय करने के साधन हैं। हम चैतन्य केन्द्रों (ग्रन्थियों) पर ध्यान करें, वे सक्रिय होंगे। ज्यों-ज्यों हम उन पर अधिक केन्द्रित होंगे, वे अधिक सक्रिय होते जाएंगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होंगे, सब कुछ समाप्त हो जाएगा। एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

### अपूर्वकरण

एक साधक ने कहा–'मुझे आज ध्यानकाल में ऐसा अनुभव हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। ग्रन्थि-विमोचन का यह अनुभव अपूर्व था।' मैंने कहा–सच है। इसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं। साधना करते-करते दो बार अपूर्वकरण का अनुभव होता है। एक बार जब सम्यग् दृष्टि का पूरा जागरण होता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है और दूसरी बार जब साधक 'क्षपक श्रेणी' का आरोहण करता है, ध्यान की विशिष्ट श्रेणी में चढ़ता है, शुक्ल ध्यान में आरोहण करता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। 'अपूर्वकरण' का अर्थ है–वह करण, जो पहले कभी नहीं हुआ था। अपूर्व वही होता है, जो पहले कभी नहीं हुआ हो। 'करण' का अर्थ है मनोभाव। ऐसे मनोभाव का जागरण होता है, जो पहले कभी नहीं हुआ था।

### प्रश्न अचेतन मन का

मनोविज्ञान ने जब मस्तिष्क की त्रि-आयामी व्याख्या प्रस्तुत की, तब अज्ञात को जानने का अवसर मिला। चेतन और अचेतन मन से हम परिचित हैं। दोनों संबद्ध हैं। कभी चेतन अचेतन मन में बदल जाता है और कभी अचेतन मन चेतन मन में परिवर्तित हो जाता है। दोनों मिले जुले हैं। किन्तु अचेतन मन की कल्पना नये रूप में प्रस्तुत हुई है। इस अन-कोन्शियस माइंड के विषय में फ्रायड ने जो कुछ कहा, वह नई बात थी और संभवतः आज भी वह नई मानी जाती है। मनुष्य के आचरण और व्यवहार को समझने के लिए मनोविज्ञान में अचेतन मन को बहुत महत्त्व दिया जाता है किन्तु यह अंतिम बात नहीं है। आज का भारतीय विद्यार्थी भारत की प्राचीन

परम्परा को नहीं जानता, वह अचेतन मन पर आकर रुक जाता है इसलिए उसे व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं मिलती, व्यवहार और आचरण का पूरा विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता। केवल दमित वासनाएं और इच्छाएं ही हमारे व्यक्तित्व को प्रेरित करती हैं, यह बात अधिक तथ्यपूर्ण नहीं है। भारतीय दार्शनिकों ने सूक्ष्म शरीर की बात बताई। यदि हम सूक्ष्म शरीर का अध्ययन करते तो और आगे बढ़ जाते, व्यवहार तथा आचरण की कई गुत्थियां सुलझ जातीं।

## सूक्ष्म शरीर

आदमी का स्थूल या दृश्य शरीर ही सब कुछ नहीं है। इसके भीतर सूक्ष्म शरीर विद्यमान है। हम उसे कर्म-शरीर कहें, संस्कार-शरीर कहें या वासना-शरीर कहें, वह भीतर विद्यमान है। आदमी की प्रत्येक प्रवृत्ति, चिंतन और आचरण का उसमें अंकन होता है। जब-जब वह अंकन प्रगट होता है तब-तब व्यक्तित्व की नई-नई चेतनाएं उद्भूत होती हैं, वे अच्छी भी होती हैं और बुरी भी। उस सूक्ष्म शरीर में केवल दमित वासनाएं ही नहीं हैं, अच्छे संस्कार भी हैं। यदि केवल इच्छाएं और वासनाएं ही होतीं तो व्यक्तित्व का रूप अत्यन्त भद्दा हो जाता। उसमें कभी सौन्दर्य नहीं आ पाता। व्यक्ति के जीवन में सौन्दर्य के लिए भी बहुत बड़ा अवकाश है। उसमें अच्छा आचरण भी है, अच्छा व्यवहार भी है। हमारे व्यक्तित्व में जितनी अच्छाइयां हैं, जितना सौन्दर्य है, वह दमित वासनाओं का परिणाम नहीं है। सूक्ष्म शरीर की व्याख्या से ये दोनों तथ्य बहुत स्पष्ट हो जाते हैं कि उसमें हमारा अच्छा और बुरा आचरण, अच्छा और बुरा चिन्तन–दोनों अंकित होते हैं, संचित होते हैं। जब ये संचित संस्कार प्रगट होते हैं तब अच्छाई भी प्रगट होती है और बुराई भी प्रगट होती है। दोनों की अपनी सीमाएं हैं, रेखाएं हैं।

## क्रान्ति का स्वर

वर्तमान वैज्ञानिकों और मानसशास्त्रियों ने बहुत बड़ी क्रांति की। उन्होंने कहा–'चेतन मन के स्तर पर या भौतिक स्तर पर जो घटित हो रहा है, वह अचेतन मन का प्रतिबिम्ब है।' यह भौतिक जगत् में बहुत बड़ी घटना है, जो समूचे सिद्धांत को बदल देती है। जहां केवल शरीर या स्थूल मन के आधार पर सारी अवधारणाएं चलती हैं, उस स्थिति में यह प्रतिपादन सामने आया कि व्यक्ति जो स्वप्न लेता है, व्यक्ति के मन में जो वासनाएं उभरती हैं, वे सब दमित वासनाएं हैं।

## कर्म और अचेतन मन

मन के दो स्तर हैं–चेतन मन का स्तर और अचेतन मन का स्तर। अचेतन मन का स्तर अत्यन्त शक्तिशाली है। चेतन मन उससे कुछ अवदान प्राप्त कर अपना

कार्य चलाता है। जितनी घटनाएं घटित होती हैं, हमारे जितने आचरण हैं, उन सबका स्रोत है—अचेतन मन। कर्मशास्त्र ने हजारों वर्ष पूर्व इस विषय का प्रतिपादन किया था कि व्यक्ति जो कुछ करता है, उसके पीछे कर्म की प्रेरणा होती है। 'कम्मुणा जायई'—कर्म से ही होता है। यही प्रेरक तत्त्व है। हमारे सभी आचरणों का स्रोत है कर्म। जो कर्म संचित हैं, जो कर्म अस्तित्व में हैं, सत्ता में हैं और जब वे उदय में आते हैं, जब उनका विपाक होता है तब नाना प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं। सारा का सारा व्यक्तित्व उनके आधार पर चलता है। कर्मशास्त्र की भाषा में जिसे हम कर्मों का विपाक कहते हैं, उसे ही मनोविज्ञान की भाषा में दमित इच्छाओं का उभार कहते हैं। दोनों का आशय तो निकट है ही, भाषा की दूरी भी नहीं है।

हमारे समूचे व्यक्तित्व के पीछे, हमारे जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के पीछे जो रहस्यमय सत्ता छिपी हुई है, वह है सूक्ष्म शरीर या कर्मशरीर की सत्ता या सूक्ष्मशरीरीय चेतना की सत्ता। इसे हम परामानसिक सत्ता कहते हैं। इस तक पहुंचे बिना किसी भी कार्य या घटना की व्याख्या नहीं की जा सकती।

# मन का स्वरूप

ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए या व्यवस्थित कार्य करने वाले व्यक्ति के लिए मन के स्वरूप को समझना बहुत जरूरी है और मन को समझने के लिए उसके कार्य को समझना आवश्यक है। स्मृति, कल्पना और विचार--इनके द्वारा मन को समझा जा सकता है। ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं।

**स्मृति**

हमारे संस्कारों का जागरण होता है, स्मृतियां उभरती रहती हैं। जो हमने देखा है, सुना है, अनुभव किया है, वे सब हमारे मस्तिष्क में संचित रहते हैं। स्मृति के प्रकोष्ठक हैं। उनमें और सूक्ष्म-शरीर में ये संचित रहते हैं। दोनों में सम्बन्ध है। वे संचितभाव धारणा बने हुए हैं। वे धारणाएं निमित्त और उद्दीपन पाकर समय-समय पर जागृत होती रहती हैं। हम जो देखते हैं, सुनते हैं, उनका निश्चय होता है। निश्चय होने के बाद वह बात धारणा में चली जाती है, स्मृति-चिन्ह बन जाती है। जो कुछ भी देखा , उसके स्मृति-चिन्ह नहीं बनते। बहुत सारी बातें हम देखते हैं, सामने आती हैं, चली जाती हैं। जिनका अध्यवसाय नहीं होता, निर्णय नहीं होता, वे स्मृति-चिन्ह नहीं बनते। जिनका अध्यवसाय हो जाता है, जिनकी धारणा बन जाती है, वे धारणाएं संचित रहती हैं, अविच्युत बनी रहती हैं, निमित्त के साथ प्रकट होती हैं।

**स्मृति और प्रत्यभिज्ञा**

स्मृति का दार्शनिक अर्थ है–'संस्कारप्रबोधसम्भवा स्मृतिः'–संस्कार के जागरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है। स्मृति का आकार है 'वह'। दो बातें हैं। एक है–स्मृति और दूसरी है--पहचान। पहचान अलग होती है, स्मृति अलग होती है। स्मृति में वस्तु, व्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं होता, परोक्ष ही रहता है, किन्तु पहचान में वह प्रत्यक्ष ही होता है इसीलिए स्मृति का आकार बनता है 'वह' और पहचान का आकार बनता है–'यह वह'। 'वह यह'–इसमें स्मृति और पहचान--दोनों हैं। स्मृति और पहचान में प्रत्यक्ष और परोक्ष--दोनों होते हैं।

**मानसज्ञान : चार विकल्प**

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध–ये पांच शब्द हैं। जो हम सामने

देखते हैं, नियतरूप से देखते हैं, उस बोध का नाम है 'अभिनिबोध'। इस बोध की दो शर्तें हैं। एक है–सामने होना और दूसरी है–नियत होना। सभी इन्द्रियों के कार्य नियत होते हैं। आंख का काम है देखना और कान का काम है सुनना। ये नियत हैं। इन दो शर्तों के साथ जो ज्ञान होता है, उसका नाम है–अभिनिबोध। इसके चार रूप बनते हैं–मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता। मति का अर्थ है मनन, विचार। स्मृति का अर्थ है–याद होना। संज्ञा का अर्थ है--प्रत्यभिज्ञा, पहचान। चिन्ता का अर्थ है–तर्कपूर्ण चिन्तन, व्याप्ति या संबंधों की खोज।

इन्द्रियज्ञान या मानसज्ञान के भी ये चार विकल्प बन जाते हैं।

### प्राणी का लक्षण

चेतना प्राणी का स्वरूपगत लक्षण है। इच्छा उसका व्यावहारिक लक्षण है। जिसमें इच्छा होती है, वह होता है जीव और जिसमें इच्छा नहीं होती, वह होता है अजीव। इसका हेतु यह है कि चेतना अभिव्यक्त होती है इच्छा के माध्यम से। एक चींटी चलती है। उसे देखते ही हम जान लेते हैं कि वह जीव है। उसकी गति का हेतु है उसकी स्वतंत्र इच्छा। उस इच्छा के माध्यम से वह स्वतंत्र रूप में गति करती है। उसी के माध्यम से उसका जीवन अभिव्यक्त होता है। यदि उसमें इच्छा नहीं होती तो उसमें गति नहीं होती और तब सहसा यह ज्ञात नहीं होता कि तिनके का टुकड़ा पड़ा है या चींटी है। आकार चेतन में भी होता है और अचेतन में भी। चेतन की पहचान होती है उसकी गति के द्वारा, प्रवृत्ति के द्वारा। गति और प्रवृत्ति इच्छापूर्वक ही हो सकती है, इसलिए जीव का व्यावहारिक लक्षण है–इच्छा।

### कल्पना

इच्छा और अभिलाषा की अभिव्यक्ति है कल्पना। प्राणी में इच्छा होती है और वह मनोरथ या कल्पना के रूप में प्रगट होती है। कल्पना में कोई नया ज्ञान नहीं होता, केवल ज्ञान का संयोजन होता है। जो बातें ज्ञात हैं, उनका विभिन्न प्रकार से संयोजन होता है। भारतीय साहित्य में 'नरसिंह' की कल्पना की गई। इसमें मुंह सिंह का होता है और धड़ मनुष्य का। सिंह भी जाना हुआ है और आदमी भी जाना हुआ है। किन्तु दोनों का संयोजन विभिन्न प्रकार से कर लिया गया और 'नरसिंह' का रूप बन गया। इसी प्रकार 'आग ठंडी है' यह एक कल्पना है। इसमें भी दो बातें हैं। दोनों हमें ज्ञात हैं। हम आग को भी जानते हैं और ठंड को भी जानते हैं। दोनों का हमने एकत्र संयोजन कर दिया और 'आग ठंडी है' यह हमारी कल्पना में आ गया।

### इच्छा : कल्पना

इस प्रकार दो या अनेक ज्ञात तत्त्वों का संयोजन कर देना कल्पना है। स्वप्न

में भी ऐसा ही होता है। इस दृष्टि से स्वप्न और कल्पना--दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। इसलिए जो आदमी बहुत कल्पनाएं करता है उसको हम 'दिवास्वप्न' से अभिहित करते हैं। दिवास्वप्न का अर्थ है--आकाशी उड़ान। आदमी दिन में भी स्वप्न देखता है अर्थात् वह लंबी-चौड़ी कल्पनाएं करता रहता है। आदमी स्वाभाविक और अस्वाभाविक--दोनों प्रकार की कल्पनाएं करता रहता है। वह अनेक चीजों का संयोजन कर देता है। स्वप्न में हम विचित्र प्रकार के आकार देखते हैं। उन आकृतियों में आंख किसी की होती है तो टांग किसी की होती है। इसी प्रकार कल्पना के आधार पर भी विचित्र आकार बना लिए जाते हैं, जिनमें कोई संगति प्रतीत नहीं होती। पर यह एक तथ्य है--कल्पना में जिस प्रकार का आकार, रूप, रंग आया, उससे यह पता चल जाता है कि इच्छा क्या चाहती है और किस रूप में प्रगट होना चाहती है। कल्पना के आधार पर इच्छा या आन्तरिक अभिलाषा को जाना जा सकता है।

### कल्पना की सार्थकता

कल्पना का बहुत बड़ा उपयोग है। आदमी कल्पना करता है। वह कल्पना प्रेरक बनती है। वह कल्पना हमारे पुरुषार्थ और उद्यम की निमित्त बनती है। कल्पना के आधार पर ही आदमी पुरुषार्थ करता है और उस कल्पना को साकार बनाता है। विश्व में जितने भी आविष्कार होते हैं, पहले उन सबकी कल्पना की जाती है। आदमी ने एक बार कल्पना की थी कि आकाश में उड़ा जा सकता है। उसने इस दिशा में प्रयत्न प्रारंभ किया और एक दिन वह आकाश में उड़ने लगा। प्रत्येक आविष्कार का प्रारूप हमारी कल्पना में बनता है और वह धीरे-धीरे आकार ग्रहण करता है। कल्पना को आकार तक पहुंचने में लंबी प्रक्रिया से गुजरना होता है। वह प्रक्रिया योजना कहलाती है। योजना कल्पना का ही पूरक तत्त्व है। कल्पना, योजना और फिर उस प्रकार के विचारों, चिन्तनों और व्यवहारों या साधनों का संघटन करना होता है। वह कल्पना जब क्रियान्वित होती है, आकार लेती है तब नया तथ्य संसार के सामने आ जाता है।

### कल्पना और संकल्प

भारतीय साहित्य में तीन शब्द बहुत प्रचलित हैं--कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न। कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न--ये कल्पना के ही सशक्त रूप हैं। वास्तव में इनका अस्तित्व ही नहीं होता। जिस व्यक्ति की कल्पना सघन और सुदृढ़ बन जाती है, वह संकल्प का रूप ले लेती है तब उसमें अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। वह संकल्प उस व्यक्ति के लिए कामधेनु, कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न बन जाता है अर्थात् उसके लिए सब कुछ बन जाता है।

संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है। जिस प्रकार का संकल्प होता है, परमाणुओं

को भी उसी रूप में संगठित होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। आकाश में बादल नहीं है। आदमी ने संकल्प किया। वह सघन और सुदृढ़ हुआ । इस स्थिति में परमाणुओं को बादल के रूप में बदलना होता है। यह इच्छाशक्ति का निदर्शन है कि वह परमाणुओं का संयोजन या वियोजन करने में सक्षम है।

### कल्पना और विकल्प

कल्पना का दूसरा रूप है—विकल्प। यह मान लेना कि मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं—यह कल्पना ही तो है। वास्तव में सुख-दुःख अनुभव के साथ जुड़ता है। कल्पना के साथ ही सुख और दुःख की तीव्रता आती है। यदि आदमी दृढ़ता से यह मान लेता है कि कुछ भी पीड़ा नहीं है तो वास्तव में उसका कष्ट पच्चीस प्रतिशत कम हो जाएगा। थोड़ी पीड़ा भी संकल्प के साथ अधिक तीव्र बन जाती है। पीड़ा की तीव्रता और मन्दता विकल्प के आधार पर होती है। जिस प्रकार की विकल्पना होती है, उसी प्रकार की अनुभूति होने लग जाती है।

यह टेबल है, यह घड़ी है—ये सारे हमारे विकल्प हैं। वास्तव में ये सब परमाणुओं के संगठनमात्र हैं। ये सभी पदार्थ परमाणुओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं किन्तु हमने एक आकार के साथ अपनी कल्पना जोड़ दी और उसको एक नाम दे दिया। यह विकल्प है। इस प्रकार कल्पना के तीन रूप बन जाते हैं—कल्पना, संकल्प और विकल्प।

### विचार

तीसरा तत्त्व है—विचार। आदमी निरंतर चिन्तन करता रहता है, सोचता रहता है। शब्द का व्यवहरण उसका माध्यम है। शब्द भी विचार है। विचार का अर्थ है—विचरण करना, गतिशील होना। इन्द्रियां अपने-अपने प्रतिनियत विषयों का ग्रहण करती हैं और वे सारे ग्रहण हमारे मस्तिष्क में अंकित होते रहते हैं। अब क्रिया का दूसरा क्रम चालू होता है। जो विषय गृहीत हैं, उनका निर्धारण करना, विश्लेषण करना, यह सारा कार्य मन करता है। एक दुःखी व्यक्ति है। उसने जो कार्य किया है, उसको बाहरी जगत् तक पहुंचा देना विचार का काम है। हमारे भीतर जो संस्कार, वृत्तियां और इच्छाएं हैं, उनका संयोजन करना, नियोजन करना, वियोजन करना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के विषय में, एक वस्तु से दूसरी वस्तु के विषय में, एक स्थान या काल से दूसरे स्थान या काल के विषय में—इन सारे संबंधों में आना-जाना, इनसे संपर्क स्थापित करना, ये सारी मानसिक क्रियाएं विचार कहलाती हैं।

### मन का कार्य

विचार के बिना एक-दूसरे के साथ संपर्क स्थापित नहीं हो सकता। इन्द्रियों का

काम संपर्क स्थापित करना नहीं है। आंख ने एक कमरे के पंखे को देखा और कुछ ही समय पश्चात् दूसरे कमरे के पंखे को देखा। आंख यह नहीं सोच सकती कि यह वैसा ही पंखा है, जो पहले वाले कमरे में है। आंख का काम है आकार को पकड़ लेना। पंखे का तुलनात्मक अध्ययन करना, यह पंखा वैसा ही है या भिन्न है, इसका निर्णय करना मन का काम है, आंख का काम नहीं है। संपर्क का सूत्र है मन। यहां ठंड है, वहां गर्म है--यह निर्णय इन्द्रिय का नहीं, मन का होता है। गतिशील होना, सारे संबंधों को इधर-उधर ले जाना, परस्पर जोड़ना, संयोजन-वियोजन करना--यह है मन का कार्य।

**विचार : संबंध-सूत्र**

उच्छृंखलता से, बिना किसी पौर्वापर्य या संबंधों के विचारों का प्रवाह चलता रहता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हमारे भीतर इच्छाओं, संस्कारों और वृत्तियों का गहरा जमाव है। वे वृत्तियां निरंतर स्पंदित होती रहती हैं। हमारे कर्मशरीर मे स्पंदन होते रहते हैं, वे कभी रुकते नहीं। कर्मशरीर के सूक्ष्म स्पंदन हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं। उसी के कारण विचार का सिलसिला चालू रहता है, कभी नहीं रुकता। उनमें संबंध-सूत्र खोजा जा सकता है, किन्तु यह बहुत सूक्ष्म बात है।

**असंबद्ध विचार क्यों?**

व्यक्ति अतीत के साथ जुड़ा हुआ है। उसने अतीत में कब, क्या, कैसे सोचा, किस प्रकार का आचरण और व्यवहार किया--इन सबके साथ वह जुड़ा हुआ है। किन्तु ये तथ्य इतने अज्ञात और सूक्ष्म हैं कि उनका संबंध-सूत्र खोजा नहीं जा सकता। हर व्यक्ति खोज नहीं सकता। इसलिए ऐसा लगता है--जो विचारों की श्रृंखला चल रही है, वह असंबद्ध है। स्थूलदृष्टि से ऐसा मान लिया जाता है। वास्तव में सारे विचार संबद्ध होते हैं। क्योंकि वे सब सहेतुक होते हैं, निर्हेतुक नहीं होते। अज्ञात होने के कारण उन्हें पकड़ नहीं सकते इसलिए हम उन्हें असंबद्ध मान लेते हैं। यह हमारा माना हुआ सत्य है, वास्तविक सत्य नहीं है।

**संबद्ध विचार**

दूसरे प्रकार का विचार होता है--संबद्ध विचार। आदमी किसी एक प्रश्न या समस्या पर विचार प्रारंभ करता है। वह उसी समस्या पर चिंतन करता चला जाता है। जब समस्या को हल करने के लिए श्रृंखलाबद्ध, तर्कपूर्ण और व्यवस्थित चिन्तन चलता है तब हमें लगता है--ये विचार एक दिशा में चल रहे हैं। हमें सब कुछ पूर्ण संबद्ध प्रतीत होता है। संबद्ध विचार अधिकांशतः वर्तमान की समस्या, घटना या परिस्थिति के आधार पर चलता है। उसमें अतीत का अंश थोड़ा होता है। अतीत

उससे जुड़ा अवश्य होता है पर उसकी मात्रा अल्प होती है। असंबद्ध विचार में अतीत का गहरा प्रभाव होता है।

## ध्यान और स्मृति

हम प्रेक्षा ध्यान के संदर्भ में विचार करें। एक प्रश्न है--स्मृति, कल्पना और विचार हमारे लिए क्यों जरूरी हैं। जब व्यक्ति ध्यान प्रारंभ करता है तब वह सबसे पहले स्मृति का प्रयोग करता है। वह जो भी आलंबन लेता है, उस आलंबन की स्मृति जरूरी है। यदि स्मृति दुर्बल है तो वह ध्यान भी नहीं कर पाता। ध्यान का प्रारंभिक अर्थ है--सतत स्मृति। एक आलम्बन पर सतत स्मृति का रहना एकाग्रता है। उस काल में दूसरी स्मृति न आए। दूसरी स्मृति आते ही एकाग्रता खंडित हो जाती है। यदि हम स्मृति पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं तो एकाग्रता सधती जाती है। हम देखते हैं--स्मृति का चक्र चलता रहता है। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, चौथी स्मृति उभरती रहती है और अतीत अनावृत होता जाता है। यदि हम ध्यानकाल में स्मृति पर नियंत्रण रख लेते हैं, जिस स्मृति को हमने पकड़ा है, वही स्मृति निरन्तर बनी रहे, दूसरी स्मृति न आए तो यह स्मृति का सातत्य एकाग्रता बन जाता है। एकाग्रता ध्यान है। इसलिए ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए मन के इस रूप को पकड़ना जरूरी हो जाता है।

## मन को जीतने का उपक्रम

हम कहते हैं--मन को जीतो। प्रश्न होता है--मन को जीतने का तात्पर्य क्या है ? मन पकड़ में नहीं आता, फिर उसको कैसे जीता जाए? मन को जीतने का पहला अर्थ है--सतत स्मृति का अभ्यास, एक ही स्मृति पर दीर्घकाल तक टिक जाना। मन का कार्य है--स्मृतियों को सतत बदलते रहना। जब हम एक ही स्मृति का काल दीर्घ कर लेते हैं तब मन का कार्य गौण हो जाता है और अपनी चेतना का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। सतत स्मृति का एक अर्थ है शेष की विस्मृति। यह सतत स्मृति का फलित है। सतत स्मृति और विस्मृति का योग--यह मन पर पहली विजय है।

## कल्पना और ध्यान

कल्पना के बिना भी ध्यान नहीं होता। कोई न कोई कल्पना का सहारा लेना होता है। निर्विकल्प ध्यान प्रारंभ में अत्यन्त कठिन होता है। पहले कल्पना करनी होती है, फिर वह कल्पना चाहे स्थूल की हो या सूक्ष्म की। हमने एक कल्पना ली--हम विशाल प्रांगण में बैठे हैं और अपने आपको विशाल रूप में अनुभव कर रहे हैं। यह व्यापकता की कल्पना है। कल्पना की--हम रुई से भी अधिक हल्के हो गए हैं या शीशे की भांति अत्यन्त भारी हो गए हैं। ये सारी कल्पनाएं ध्यान में सहयोगी बनती

हैं। जैसी कल्पना होती है, वैसा अनुभव भी होने लग जाता है। प्रश्न होता है कि इसका लाभ क्या है? जब हम एक कल्पना में अपनी चेतना का नियोजन कर देते हैं तब शेष सारी कल्पनाएं और विकल्प रुक जाते हैं। यह है कल्पना को संकल्प में बदलना। यह मन पर हमारी दूसरी विजय है।

### विचार और ध्यान

विचार का चक्र भी चलता रहता है। वह सतत गतिशील रहता है, रुकता नहीं। एक के बाद दूसरा विचार आता रहता है। विचार में स्मृति और कल्पना—दोनों का योग होता है। विचार का काम है स्मृतियों और कल्पनाओं को लेकर आगे बढ़ना। जब हम ध्यानकाल में कल्पना और स्मृति पर नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं तब विचार भी नियंत्रित हो जाते हैं। विचार कैसे चल पाएगा? उसे आहार ही प्राप्त नहीं हो रहा है। विचार का आहार है—स्मृति और कल्पना। जब आहार बंद हो गया तो विचार भी रुक जाएगा, विचार का नियमन हो जाएगा। विचार का नियमन होना मन पर तीसरी विजय है।

जब तक स्मृति, कल्पना, विचार या चिन्तन को नहीं समझा जाता तब तक ध्यान की वस्तु-स्थिति को भी नहीं समझा जा सकता।

### मन की तीन अवस्थाएं

मन की तीन अवस्थाएं हैं—विक्षेप, एकाग्रता और अमन। विक्षेप की अवस्था में स्मृतियों, कल्पनाओं और विचारों का सतत विचरण होता रहता है। एक स्मृति के बाद दूसरी स्मृति, एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना और एक विचार के बाद दूसरा विचार—यह क्रम चलता रहता है। यह विक्षेपावस्था की स्थिति है।

मन की दूसरी अवस्था है—एकाग्रता। एकाग्रता का अर्थ है—एक स्मृति पर टिके रहना, एक कल्पना या विचार पर स्थिर रहना, एक ही विषय का चिन्तन करते रहना।

मन की तीसरी अवस्था है—अमन। लोग स्थिरता को मन की तीसरी अवस्था मानते हैं। यह भ्रान्त मान्यता है। मन की प्रकृति ही है चंचलता। उसमें स्थिरता कैसे आएगी ? मन को अमन बनाना, यह तीसरी अवस्था हो सकती है। अमन का अर्थ है—मन को उत्पन्न ही नहीं होने देना। मन स्थाई तत्त्व नहीं है। वह उत्पन्न होता है और विनष्ट हो जाता है। जब व्यक्ति स्मृति, कल्पना और विचार से मुक्त होता है, सर्वथा निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था में चला जाता है, तब अमन की स्थिति प्राप्त होती है। उस स्थिति में मन नहीं होता, क्योंकि उसके तीनों घटकों—स्मृति, कल्पना और विचार का वहां अस्तित्व नहीं है।

मन के स्वरूप की यह संक्षिप्त चर्चा है।

# मन की अवस्थाएं

योग की भाषा में मन की तीन अवस्थाएं हैं–अवधान, एकाग्रता, केन्द्रीकरण या धारणा और ध्यान। मनोविज्ञान भी इसी का संवादी विचार प्रस्तुत करता है। उसमें भी तीन अवस्थाएं मानी गई हैं–अटेन्शन, कान्सन्ट्रेशन और मेडिटेशन। मानसिक क्रियाएं इन तीन अवस्थाओं से गुजरती हैं।

**अवधान**

पहली अवस्था है--अवधान, अटेंशन। यह मन की वह क्रिया है, जहां हम मन को किसी वस्तु के प्रति व्यापृत करते हैं, लगाते हैं। जो मन घूमता रहता है, उसे सचेत करना, चैतन्यवान् बनाना--यह है अवधान की अवस्था। इसमें पदार्थ के साथ मन का सम्बन्ध जुड़ जाता है। हम कहते हैं--सावधान हो जाओ। इसका मतलब है कि एक कार्य के प्रति दत्तचित्त हो जाओ। जो करना है, चित्त को उसमें लगा दो।

अवधान जैसे बाह्य वस्तु के प्रति होता है, वैसे ही कभी-कभी अपने मूल स्वरूप के प्रति भी होता है। जब मौलिक स्वरूप के प्रति अवधान होता है, उस स्थिति में बाह्य के प्रति अवधान नहीं होता। मन का अवधान अपने प्रति हो जाता है। अपने प्रति मन का अवधान होना एक विशेष प्रकार की स्थिति है। इस स्थिति में ही प्रज्ञा का उदय होता है, आन्तरिक चेतना प्रकट होती है।

**धारणा**

मन की दूसरी अवस्था है--कान्सन्ट्रेशन। योग की भाषा में एकाग्रता या धारणा। यह अवधान से अगली अवस्था है। जिसमें हमने अवधान लगाया, मन का पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, उसीमें केन्द्रित हो जाना। जो मन चारों ओर भटक रहा था, अनेक वस्तुओं पर जा रहा था, उसे सब वस्तुओं से हटाकर उसी एक वस्तु में केन्द्रित कर देना कान्सन्ट्रेशन है, एकाग्रता या धारणा है। यह मन की धारणावस्था है। ध्यान से पहले धारणा करनी होती है।

**ध्यान**

मन की तीसरी अवस्था है–मेडिटेशन, ध्यान। अवधान के बाद धारणा और धारणा के बाद ध्यान। केन्द्रीकृत मन की जो सघन अवस्था है, जहां मन स्थिर हो

जाता है, लम्बे समय तक मन जम जाता है, वह है मेडिटेशन, ध्यान।

सबसे पहले अवधान का अभ्यास करना होगा। मन की वह स्थिति पैदा करनी होगी, जो अवधान कर सके। मन बहुत ही गतिशील तत्त्व है। मन का काम ही है गति को बनाए रखना। वास्तव में अवधान उसका स्वभाव नहीं है। हम बिलकुल विपरीत दिशा में जा रहे हैं। स्रोत के साथ चलना बहुत स्वभाविक है। हर कोई स्रोत के साथ चल सकता है। नौका भी चलती है तो स्रोत के साथ चलती है। स्रोत के प्रतिकूल चलना बहुत ही कठिन काम है। जो स्रोत के प्रतिकूल चल सके, वह साधक है, साधना है। जो मन चंचल है, गतिशील है, उसे केन्द्रित करना, अवहित करना या अमन बनाना--यह सारी विपरीत क्रिया है। इसका तात्पर्य है, जो मन का स्वभाव नहीं है, उस स्वभाव में मन को ले जाना और स्थापित कर देना।

## चेतना का एक बिन्दु है मन

मन इन्द्रिय और आत्म-चेतना का मध्यवर्ती है। इन्द्रियों का सम्पर्क बाहरी जगत् से है और चेतना का केन्द्र अन्तर्जगत् है। मन दोनों (इन्द्रिय और चेतना) के द्वारा प्राप्त तत्त्व का विश्लेषण करने वाला या भोग करने वाला है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कार्य में मन का योग रहता है। मन को जानना एक अर्थ में स्वयं को जानना है। मन की गतिविधि से अवगत रहना जागरूकता का लक्षण है।

हम अज्ञान के कारण मन को नहीं जान पाते हैं। यदि उससे परिचित हो जाएं तो मन की क्षमता, योग्यता और कार्य-संपादन की पद्धति में विकास किया जा सकता है।

मनोविज्ञान मानसिक विकास के दो साधन मानता है--वंशानुक्रम और वातावरण। पहला साधन स्वाभाविक क्षमता या देन है। दूसरा अभ्यास-साध्य है।

## प्रातिभ और अभ्यास निष्पन्न

कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो आठ-दस वर्ष की अवस्था में भी महान् कवि बन जाता है। कुछ कवि ऐसे होते हैं, जो अभ्यास के पथ पर चलते-चलते महान् बनते हैं। प्रातिभ और अभ्यास निष्पन्न--प्रत्येक क्षेत्र की यही स्थिति है। कृष्ण से पूछा गया--मन का निग्रह कैसे किया जाए? उत्तर मिला--

*असंशयं महाबाहो, मनः दुर्निग्रहं चलम् ।*
*अभ्यासेन च कौंतेय! वैराग्येण च गृह्यते ॥*

अभ्यास कृत होता है, अर्जित नहीं। वैराग्य स्वाभाविक होता है, कृत नहीं। महर्षि पतंजलि ने भी यही कहा है--'अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है।' अभ्यास करते-करते निरोध की अन्तिम सीढी तक पहुंचा जा सकता है। अभ्यास से कुछ लब्ध नहीं होता तो पुरुषार्थ निष्फल हो जाता। अभ्यास से जो कल नहीं थे,

आज बन सकते हैं।

### मानसिक विकास की भूमिकाएं

मन का विकास कैसे हो? इस प्रश्न पर आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रकाश डाला है। उन्होंने इसके लिए चार भूमिकाओं का उल्लेख किया है--

१. विक्षिप्त ३. श्लिष्ट

२. यातायात ४. सुलीन।

आयार्यश्री तुलसी ने मनोविकास की छह भूमिकाओं का उल्लेख किया है--

१. मूढ ४. श्लिष्ट

२. विक्षिप्त ५. सुलीन

३. यातायात ६. निरुद्ध।

### मूढ

मूढ अवस्था में आसक्ति और द्वेष बहुत प्रबल होते हैं। मूढ अवस्था में मन बाह्य जगत् और परिस्थिति का प्रतिबिम्ब लेता रहता है इसलिए वह एकाग्र होने की दिशा में गति नहीं कर पाता।

### विक्षिप्त

मूढ अवस्था की भूमिका पार कर लेने पर व्यक्ति के मन में भीतर की ओर झांकने की भावना जागृत होती है। वह इस भावना की पूर्ति के लिए अन्तर्निरीक्षण अर्थात् ध्यान का प्रयोग आरम्भ करता है।

प्रारम्भ में कुछ समय तक ध्याता ध्यान करने की मुद्रा में बैठ जाता है किन्तु अन्तर्निरीक्षण की स्थिति का उसे कोई अनुभव नहीं होता। किसी के लिए यह स्थिति थोड़े समय के लिए होती है और किसी-किसी के लिए यह स्थिति लम्बे समय तक चली जाती है। जो इस स्थिति से घबराकर अन्तर्निरीक्षण के अभ्यास को छोड़ देता है, वह बीच में ही रुक जाता है और जो इस स्थिति से घबराता नहीं है, वह अगली भूमिकाओं में पहुंच जाता है।

दिल्ली में साधना-शिविर चल रहा था। एक भाई ने प्रश्न किया--ध्यान नहीं करता हूं तब मन स्थिर रहता है, ध्यान में मन अधिक चंचल हो जाता है, ऐसा क्यों?

मैंने कहा--ध्यान नहीं करते थे उस समय मन स्थिर था, यह भ्रांति है। अंकन में भूल है। ध्यान करने की स्थिति में आए तब अनुभव हुआ--मन चंचल होता है। गांव के बाहर कचरे का ढेर है। हजारों उस पर चलते हैं, पर दुर्गन्ध की उतनी अनुभूति नहीं होती। उसकी सफाई के लिए कुरेदने पर बदबू भभक उठती है। क्या पहले उतनी दुर्गन्ध आती थी? नहीं, जमा हुआ ढेर था, दुर्गन्ध दबी हुई थी। मन की

भी यही प्रक्रिया है। मन में विचारों, मान्यताओं और धारणाओं के संस्कार जमे पड़े हैं। अनुभव नहीं होता कि मन चंचल है।

**यातायात**

विक्षिप्त की अगली भूमिका संधि की है। इस भूमिका में ध्याता का मन अन्तर्निरीक्षण का अनुभव कर लेता है। यद्यपि वह उसमें लम्बे समय तक टिक नहीं पाता, अन्तर्निरीक्षण करते-करते फिर बाहर आ आता है। फिर अन्तर्निरीक्षण का प्रयत्न करता है और फिर बाहर आ जाता है। किन्तु इस भूमिका में एक बड़ा लाभ यह होता है कि अन्तर्निरीक्षण का जो द्वार बन्द था, वह खुल जाता है।

जो चंचलता आती है, वह बुराई नहीं है, विकास की ओर प्रयाण का पहला शुभ शकुन है। चंचलता का विस्फोट या उभार आए तो भी घबराएं नहीं, अन्तिम दिनों में एकाग्रता की अनुभूति होने लगेगी। दीप बुझता है, उस समय अधिक टिमटिमाता है। चींटी के पंख आने का अर्थ है–मृत्यु की निकटता।

विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस से कहा--'गुरुदेव ! वासना का इतना उभार आ रहा है कि मैं अपने को संभालने में अक्षम हूं।'

गुरु ने उत्तर दिया–'बहुत अच्छा है।'

विवेकानन्द--'अच्छा कैसे है, जबकि मन चंचल हो रहा है।'

परमहंस–' तुम्हारी वासना मिट रही है। जो जमा पड़ा हुआ था, वह निकल रहा है। ध्यान में चंचलता आए, उसे मुक्त कर दो, दबाने का यत्न मत करो।

*निवारितं बहु चंचलं भवति, अनिवारितं स्वयमेव शान्तिमेति ।*

रोकने का प्रयत्न मत करो। तुम देखते रहो, वह कितना तेज दौड़ रहा है? तीव्र गति में दौड़ने वाली मोटर को ब्रेक लगाने से क्या होगा? १०५ डिग्री बुखार को एक साथ उतारने में खतरा ही होता है। मन की गति को मत रोको। मन को खुला छोड़ दो। बच्चे को बांधने से न हम काम कर सकेंगे और न वह टिक सकेगा। बच्चे को खुला छोड़ने से हम भी काम कर सकेंगे और वह भी मुक्त रहेगा। मन को न रोकने पर हम देखेंगे, कभी वह चंचल है तो कभी शांत। यातायात की भूमिका में मन कभी स्थिर रहता है और कभी चंचल।

**श्लिष्ट**

अन्तर्निरीक्षण का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते मन एक विषय पर एकाग्र रहने लग जाता है। इस भूमिका में ध्येय के साथ ध्याता का श्लेष हो जाता है। जिस प्रकार गोंद से दो कागज चिपक जाते हैं, उसी प्रकार ध्याता का ध्येय के साथ चिपकाव हो जाता है। किन्तु चिपके हुए दो कागज आखिर दो ही रहते हैं उनमें एकात्मकता नहीं होती।

## सुलीन

एकाग्रता का अभ्यास क्रमशः बढ़ता है। उसकी वृद्धि एक दिन तन्मयता या लीनता के बिन्दु तक पहुंच जाती है। यह मन की पांचवीं अवस्था है। पानी दूध में मिलकर जैसे अपना अस्तित्व खो देता है, वैसे ही इस भूमिका में ध्याता ध्येय में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। यह स्थिति पहले ही चरण में प्राप्त नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त क्रम से निरन्तर आगे बढ़ते रहने से एक दिन यह स्थिति अवश्य प्राप्त हो जाती है।

सुलीन का अर्थ है–ध्येय में लीन हो जाना। जैसे दूध में चीनी घुल जाती है। घुलने से चीनी का अस्तित्व समाप्त नहीं होता अपितु उसमें विलीन हो जाता है। दूध में मिठास चीनी का अस्तित्व बताता है। इस भूमिका में मन ध्येय में लीन हो जाता है, मन को ध्येय से भिन्न नहीं देख सकते। योग की भाषा में आचार्यों ने इसे समरसी-भाव और समापत्ति कहा है। जहां ध्येय और ध्याता की एकात्मकता सध जाती है वहां सुलीन की भूमिका प्राप्त होती है। पतंजलि ने इसका कुछ भिन्नता से प्रतिपादन किया है।

## निरुद्ध

पांचवी भूमिका में मन की स्थिरता शिखर तक पहुंच जाती है, किन्तु मन का अस्तित्व या उसकी गति समाप्त नहीं होती। ध्याता ध्येय में लीन होकर कुछ समय के लिए जैसे अपने उपलब्ध अस्तित्व को भुला देता है किन्तु ध्येय की स्मृति बराबर बनी रहती है। छठी भूमिका में वह ध्येय की स्मृति भी समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि मन का अस्तित्व या उसकी गतिक्रिया समाप्त हो जाती है। यह निरालम्बन ध्यान या सहज चैतन्य के उदय की भूमिका है। इसमें प्रत्यक्षानुभूति प्रबल हो जाती है। इंद्रिय और मन, जो परोक्षानुभूति के माध्यम हैं, अर्थहीन बन जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं।

## चैतन्य और आनन्द

चैतन्य और आनन्द का स्वाभाविक सम्बन्ध है। जहां चैतन्य है, वहां आनन्द है और जहां आनन्द है, वहां चैतन्य है। इन दोनों में से एक को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जैसे चैतन्य का अजस्र प्रवाह है वैसे ही आनन्द का भी अजस्र प्रवाह है किन्तु मन की चंचलता के कारण उसकी अनुभूति निरन्तर नहीं होती। जिस भूमिका में मन थोड़ा स्थिर होता है, उस समय आनन्द की हल्की-सी अनुभूति हो जाती है। जैसे-जैसे मन की स्थिरता की मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे आनन्दानुभूति की मात्रा बढती जाती है। मन का निरोध होने पर सहज आनन्द का साक्षात्कार हो जाता है।

## भूमिका से जुड़ा सुख

मन की दूसरी और तीसरी कक्षा में विकल्पों, कल्पनाओं का सिलसिला चालू रहता है। मन दूसरी-दूसरी चीजों में अटका रहता है। फलस्वरूप उस समय हम सहज चेतना के स्तर पर नहीं होते। उस समय जो आनन्द का अनुभव होता है, वह मन की एकाग्रता के कारण अन्तःस्रावी नलिकाओं में होने वाले अन्तःस्राव से होता है।

चौथी और पांचवीं कक्षा में विकल्पों का सिलसिला नहीं रहता। हमारा मन एक ही विकल्प पर स्थिर हो जाता है। हमारे मस्तिष्क की सुखानुभूति की ग्रंथि तथा अन्तःस्रावी नलिकाओं पर उसका अधिक प्रभाव होता है। फलस्वरूप आनंद की अनुभूति अधिक होती है।

निरोध की कक्षा में सहज आनन्द के साथ साक्षात् संपर्क हो जाता है। उस पर शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव नहीं होता इसलिए वह चिरस्थायी होता है।

पहली कक्षाओं में सहज आनन्द की अनुभूति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उसकी पूर्ण अनुभूति निरोध की कक्षा में होती है इसीलिए पहली कक्षाओं में शारीरिक परिवर्तन से होने वाली आनंदानुभूति होती है किन्तु उसमें सहज आनंद का प्रतिबिम्ब या प्रभाव रहता ही है।

## मन की दो अवस्थाएं

मन की दो अवस्थाएं हैं--गत्यात्मक और स्थित्यात्मक। गत्यात्मक अवस्था को मन और स्थित्यात्मक अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन संकल्पों से भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतियां उभरने लग जाती हैं। सहज प्रश्न होता है--इसका क्या कारण है? जब मन की प्रवृत्ति होती है तब उतनी चंचलता नहीं होती जितनी उसको स्थिर करने का प्रयत्न करने पर होती है। हम गहराई में जाएं तो पाएंगे कि चेतना चंचल नहीं होती। मन चेतना का एक अंश है। वह कैसे चंचल हो सकता है? वह वृत्तियों के चाप से चंचल होता है। वृत्तियों का जितना चाप होता है, उतना ही वह चंचल होता है और वृत्तियां जितनी शान्त या क्षीण होती हैं, उतना ही वह स्थिर होता है। यही ध्यान है। तालाब का जल स्थिर पड़ा है। उसमें एक ढेला फेंका और वह चंचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नहीं किन्तु बाह्य संपर्क से उत्पन्न है। ठीक इसी प्रकार मन की चंचलता भी स्वाभाविक नहीं किन्तु वृत्तियों के संपर्क से उत्पन्न होती है। मन की चंचलता एक परिणाम है, वह हेतु नहीं है। उसका हेतु है--वृत्तियों का जागरण।

## मनोगुप्ति

वृत्तियां दो प्रकार की होती हैं--सत् और असत्। पहला चरण है असत् से सत् की ओर जाना और दूसरा चरण है असत् को क्षीण करना। असत् में मन चंचल

रहता है, सत् में शान्त और असत् को क्षीण करने पर वह अत्यन्त शान्त हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को मनोगुप्ति कहा जाता है। गुप्त मन की तीन अवस्थाएं हैं--

१. कल्पना-विमुक्त   २. समत्व-प्रतिष्ठित   ३. आत्माराम

*विमुक्तं कल्पनाजालं, समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।*
*आत्मारामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता।।*

### कल्पना-विमुक्त

मन को एक साथ खाली नहीं किया जा सकता। उसे असत् कल्पनाओं से मुक्त करने के लिए सत् कल्पनाओं का आलम्बन लिया जाता है। इन कल्पनाओं का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलता है।

हम कल्पना करें--हृदय कमल है। उसके चार पत्र हैं। बीच में एक कर्णिका है। चार पत्रों और कर्णिका पर क्रमशः अ, सि, आ, उ, सा लिखा हुआ है। प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है। यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाएं अपने आप विलीन हो जाएंगी।

दो नासाग्र, दो आंख, दो कान और एक मुख--ये सात रन्ध्र हैं। इन पर क्रमशः ण, मो, अ, र, हं, ता, णं--इस मंत्र-जप के साथ ध्यान किया जाए। वर्ण और स्थान का ध्यान साथ-साथ हो। इससे मन शेष कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सैकड़ों उपाय साधना की लम्बी परम्परा से प्राप्त होते हैं।

### समत्व-प्रतिष्ठित

वृत्तियां दबी रहती हैं। वे निमित्त का योग पाकर उत्तेजित होती हैं और उभर आती हैं। उनकी उत्तेजना का बहुत बड़ा निमित्त है--विषमता। जब-जब मन में विषमता के भाव आते हैं, तब-तब वह चंचल, अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्ति ने मेरा सम्मान किया है और अमुक ने अपमान। सम्मान और अपमान की स्मृति होते ही मन चंचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान--दोनों को ग्रहण नहीं करता, दोनों को आत्मा से बाह्य मानता है, उसका मन समता में प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमान की स्मृति ही नहीं होती तब वह उसके कारण चंचल, अधीर या अशान्त कैसे हो सकता है? इस प्रकार राग-द्वेष जनित जितनी विषमताएं हैं, उनका ग्रहण नहीं करने वाला मन समता में प्रतिष्ठित होता है।

### आत्माराम

यह गुप्त मन की तीसरी अवस्था है। इसमें चेतना के अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। वह कषाय से मुक्त होकर

शुद्धोपयोग (शुद्ध चेतना) में परिणत हो जाता है। इस स्थिति में शुद्ध चेतना या चैत्यपुरुष से भिन्न मन का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

## ध्यान और चिन्तन

ध्यैं चिन्तायाम्–इस धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। इस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ होता है–चिन्तन।

चिन्तन का प्रवाह चंचलता की ओर जाता है और ध्यान का प्रवाह स्थिरता की ओर। इसी आधार पर ध्यान की एक परिभाषा मिलती है--'*एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।*' एक आलम्बन पर चिन्तन को रोके रखना ध्यान है।

चिन्तन में एक संतति का होना आवश्यक नहीं है किन्तु ध्यान में एक संतति का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसी आशय को लक्ष्य में रखकर ध्यान की एक परिभाषा की गई है--*विषयान्तरास्पर्शवती चित्तसन्ततिर्ध्यानम्*-चित्त की वह संतति–प्रवाह जो अवलम्बित विषय के अतिरिक्त दूसरे विषयों का स्पर्श नहीं करती, ध्यान कहलाती है। इससे फलित होता है कि ध्यान सामान्य चिंतन नहीं है किन्तु एक ही विषय पर जो चिंतन की धारा प्रवहमान होती है, वह ध्यान है। जल की एक बूंद गिरती है और टूट जाती है। दूसरी बूंद गिरती है और फिर क्रमभंग हो जाता है। इस प्रकार क्रम भंग कर गिरने वाली बूंदों से ध्यान की तुलना नहीं की जा सकती। ध्यान की तुलना उस धार से ही की जा सकती है, जिसमें क्रमभंग नहीं होता।

उक्त परिभाषाओं से फलित होता है कि ध्यान स्थिरता की दिशा में बढ़ने वाला चिंतन है। इसी आशय को 'एकाग्रे मनःसन्निवेशनं' के द्वारा व्यक्त किया गया है।

## अमनस्कयोग की भूमिका

मानसिक विकास की अगली भूमिका है अमनस्कयोग की भूमिका। यहां मन समाप्त हो जाता है। आदमी वहां पहुंच जाता है जहां कोई विचार नहीं, कल्पना नहीं, केवल प्रकाश और केवल चैतन्य। कोई दुःख नहीं, कोई कष्ट नहीं, केवल आनन्द की अनुभूति। इस भूमिका को भारतीय दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है। किसी ने इसे सत्, चित् और आनन्द की भूमिका माना है। यही है सत्यं, शिवं, सुन्दरं की भूमिका। यही है अमनस्क की भूमिका। इस कोटि के प्राणी बहुत कम होते हैं, जिन्हें सत्य की झलक मिल जाती है, सत्य का साक्षात्कार हो जाता है और यह बोध हो जाता है कि सुख की वास्तविक स्थिति अमनस्कता में है।

# ध्वनि का मन पर प्रभाव

क्या वास्तव में मन और भाषा दो हैं? जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर बहुत गहराई से विचार किया है। उन्होंने कहा--एक स्थिति में मन और भाषा दो नहीं रहते, एक बन जाते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी भाषा में सोचते हैं कि मन और भाषा को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। जैन पारिभाषिक शब्द है–पर्याप्ति। पर्याप्तियां छह हैं, कहीं कहीं पांच होती हैं। जहां भाषा-पर्याप्ति और मन पर्याप्ति अलग-अलग होती हैं, वहां पर्याप्तियों की संख्या छह होती हैं और जहां ये दोनों–भाषा और मन एक होती हैं, वहां पर्याप्तियां पांच होती हैं। एक बात पर हम गहरा ध्यान दें। मन का काम है--स्मृति, चिंतन और कल्पना करना। क्या स्मृति, चिन्तन और कल्पना बिना भाषा के सहयोग से हो सकती है? जहां स्मृति है, वहां भाषा है। जहां चिन्तन है, वहां भाषा है और जहां कल्पना है वहां भाषा है।

### विचार संप्रेषण का माध्यम

समाज के लिए भाषा अनिवार्य अंग है। मनुष्य ने भाषा का बहुत विकास किया है, शब्दों का बहुत निर्माण किया है। आज भाषा के सैकड़ों शब्दकोश हैं। पशुओं में भी भाषा होती है पर वहां शब्द सीमित होते हैं। कहीं दो-चार शब्द तो कहीं दस-बीस शब्द। सभी पशुओं के शब्दों का चयन कर लिया जाए तो भी एक शब्दकोश नहीं बन सकता। पशुओं में भाषा का विकास नहीं होता।

भाषा के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। भाषा हमारे विकास और विचार-सप्रेषण का सशक्त माध्यम है। मन का प्रत्येक कार्य भाषा के द्वारा संपादित होता है। उसका एक भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसमें भाषा का योग न हो। इस दृष्टि से भाषा और मन गहरे जुड़े हुए हैं। मन पर यदि भाषा और शब्द का प्रभाव होता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

शब्द पूरे आकाश में फैले हुए हैं। जैन तत्त्व-चिन्तकों ने हजारों-हजारों वर्ष पूर्व शब्द विषयक जो सूक्ष्म जानकारियां दीं, विज्ञान आज उन्हें प्रमाणित कर रहा है।

### ध्वनि के प्रकार

ध्वनि दो प्रकार की होती है--शब्दध्वनि और श्रवणातीत ध्वनि। हम शब्द को

सुनते हैं। यह है शब्दध्वनि। एक सेकेण्ड में शब्द के न्यूनतम बीस प्रकम्पन होते हैं और अधिकतम बीस हजार प्रकम्पन होते हैं। शब्दध्वनि को सुनने के माध्यम हैं--कान। वे एक सेकेण्ड में बीस प्रकम्पन सुन सकते हैं। यह उनके सुनने की सीमा है। यदि सुनने की शक्ति अधिक होती तो आदमी पागल हो जाता। हमारे चारों ओर भयंकर कोलाहल हो रहा है, तुमुल हो रहा है पर हम कुछेक शब्द ही सुन पा रहे हैं। वे भी हमें प्रिय नहीं लगते और यदि सारे शब्द हम सुनने लग जाते तो न जाने क्या हो जाता।

**ध्वनि : प्रतिध्वनि**

श्रवणातीत ध्वनि को हम सुन नहीं पाते। पर इसका भी प्रभाव पड़ता है। सारा प्रभाव होता है प्रकम्पनों का। शब्दध्वनि के प्रकम्पन हैं तो शब्दातीत ध्वनि के भी प्रकम्पन हैं। वे प्रकम्पन प्रभावित करते हैं। हम पूरा जीवन प्रकम्पनों के आधार पर जी रहे हैं। हर बात की तरंग है। बिना तरंग के कोई बात ही नहीं होती।

जैन दर्शन और वेदान्त दर्शन में प्रकम्पन की बहुत चर्चा मिलती है। वक्ता बोलता है और हमें प्रतीत होता है कि हम उसके शब्द को सुन रहे हैं। यह भ्रान्ति है। हम शब्द को नहीं सुन पाते, शब्द की प्रतिध्वनि को सुनते हैं। जैसे ही शब्द उच्चरित होते हैं, भाषा की तरंगें पूरे आकाश में फैल जाती हैं। उन तरंगों के प्रकम्पन आते हैं, तब हम उनको सुन पाते हैं। कोई भी श्रोता किसी भी वक्ता की मूल शब्द-ध्वनि को नहीं सुनता, प्रतिध्वनि को सुनता है।

दिगम्बर मानते हैं--तीर्थकर नहीं बोलते। श्वेताम्बर मानते हैं--तीर्थंकर बोलते हैं। दिगम्बर कहते हैं--तीर्थंकर बोलते नहीं, केवल ध्वनि निकलती है। इसमें मुझे वैज्ञानिकता लगती है। बहुत वैज्ञानिक बात है यह। वे बोलते नहीं किन्तु जो कहना चाहते हैं वह सब कुछ सब तक पहुंच जाता है। कोरी ध्वनि होती है, भाषा नहीं होती। किन्तु जितने लोग बैठे होते हैं, वे उस ध्वनि को अपनी-अपनी भाषा के रूप में समझ लेते हैं। श्वेताम्बर मानते हैं--तीर्थंकर बोलते हैं एक भाषा में। हिन्दी जानने वाले उसे हिन्दी में समझ लेते हैं, संस्कृत जानने वाले संस्कृत में और प्राकृत जानने वाले प्राकृत में समझ लेते हैं। हिन्दी जानने वाले समझते हैं कि वे हिन्दी में बोल रहे हैं। संस्कृत जानने वाले समझते हैं कि वे संस्कृत में बोल रहे हैं। प्राकृत जानने वाले समझते हैं कि वे प्राकृत में बोल रहे हैं। आदमी जानता है कि वे आदमी की भाषा में बोल रहे हैं और पशु समझते हैं कि वे पशु की भाषा में बोल रहे हैं। उनकी ध्वनि या वाणी को आदमी समझ जाता है, पशु भी समझ जाता है और देवता भी समझ जाता है। यह कैसे होता है? क्या कोई अनुवादक बैठा है वहां? नहीं, कोई अनुवादक नहीं है। यह स्वाभाविक परिणति है। इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाए--वह ध्वनि है

और वह ध्वनि विभिन्न भाषाओं में बदल जाती है, श्रोता अपनी-अपनी भाषा में पकड़ लेते हैं। वक्ता को बोलने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कहना चाहता है, ध्वनि के माध्यम से कह देता है। मनोवर्गणा के पुद्‌गल इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे विभिन्न भाषाओं में बदल जाते हैं और अपना काम कर देते हैं।

## विकास का आधार

नाद-विज्ञान के विकास का आधार यही है। नादानुसंधान का प्रयोग किया गया। ध्यान करने वाले साधक जब ध्यान की गहराई में जाते हैं, तब नाद का अनुसंधान करते हैं। उन्हें विचित्र प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। कभी चीत्कार का शब्द, कभी नगाड़े का और कभी बाजे या भेरी का शब्द सुनाई देता है। जब साधक सूक्ष्म शक्ति का विकास करता है तो उसे लगता है--सारा आकाश शब्दमय है। इसी आधार पर महान् वैयाकरण भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म कहा है--शब्दः ब्रह्म। भारतीय दर्शन में शब्द पर सूक्ष्म मीमांसा हुई है। किसी ने शब्द को नित्य माना, किसी ने उसे अनित्य माना और किसी ने शब्द को आकाश का गुण माना। महर्षि पतंजलि ने कहा--शब्द और आकाश--दोनों पर संयम करने से स्वर की शक्ति बढ़ती है।

## मंत्रशास्त्र का आधार है शब्द

प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति जप करता है। जैन 'नमस्कार महामंत्र' का, सनातनी 'गायत्री मंत्र' का, मुसलमान 'अल्ला' का, बौद्ध 'ओम्' का जप करते हैं। प्रत्येक धर्म परम्परा का अपना-अपना जप-मंत्र होता है। प्रेक्षा ध्यान में अर्हम् का जप होता है। इस प्रकार न जाने कितने प्रकार के जप हैं। मंत्रशास्त्र के सैकड़ों ग्रन्थ हैं। उनमें बीजाक्षरों से सम्बन्धित हजारों-हजारों मंत्र हैं। उनके जप का प्रभाव होता है। व्यक्ति का मन बदलता है, वृत्तियां और बीमारियां ठीक होती हैं। मंत्र-शास्त्र का विकास शब्दों के आधार पर हुआ है। अच्छे शब्दों का चुनाव अच्छा प्रभाव पैदा करता है और बुरा शब्द बुरा प्रभाव पैदा करता है। शब्दों की योजना में भी जहां कहीं गड़बड़ होती है, वहां अनर्थ हो जाता है। इसे 'दग्धाक्षर' कहा जाता है। एक व्यक्ति ने अपने ग्रन्थ की समाप्ति पर अन्तिम वाक्य लिखा था--नागोर में। इस ग्रन्थ की संपूर्ति नागोर गांव में हुई थी। वह लिखने बैठा और लिखा--नागो रमे। अक्षर चार ही, पर लिखने का ढंग गलत हो गया। कुछ ही समय पश्चात् वह व्यक्ति पागल हो गया और नागो रमे--नग्न घूमने लगा।

## कठिन है शब्द का नियोजन

शक्ति शक्ति होती है। यदि उसके वाचक अक्षरों की संयोजना उपयुक्त होती है तो वह शक्ति वरदान बन जाती है और यदि संयोजना गलत होती है तो वही शक्ति

अभिशाप बन जाती है। इसीलिए कहा गया--

*अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।*
*अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः।।*

ऐसा कोई अक्षर नहीं है, जो मंत्र न हो। ऐसा कोई मूल (जड़) नहीं है, जो औषधि न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो योग्य न हो। प्रत्येक आदमी में योग्यता होती है। योजना करने वाला दुर्लभ है।

यह योग करने की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। अक्षरों का योग मिलते ही मंत्र बन जाता है और वह विपुल शक्ति का संवाहक होता है। कुछ ऐसे मंत्र हैं, जो मन को शान्ति देते है। कुछ ऐसे मंत्र हैं, जो व्यथाओं को दूर करते हैं।

बीदासर का एक भाई कैंसर से पीड़ित था। अत्यन्त पीड़ा में जब उसे आराधना सुनाई जाती तब वह उसमें इतना तन्मय हो जाता कि सारी व्यथा ही भूल जाता।

मेरी संसारपक्षीया माता साध्वी बालूजी बहुत रुग्ण थीं। एक बार मैने कहा--'आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न है' इस वाक्य का बार बार स्मरण करें। उन्होंने इसे मंत्र-वाक्य समझकर पकड़ लिया। वे अन्तिम अवस्था तक इससे बहुत लाभ उठाती रही।

### शब्द का प्रभाव

हमारे जीवन पर शब्द का असर होता है। मन पर शब्द का असर होता है। शब्द के स्थूल प्रभाव से हम सब परिचित हैं। स्वामी विवेकानंद से एक व्यक्ति ने कहा--शब्द निरर्थक हैं। उनका प्रभाव या अप्रभाव कुछ भी नहीं होता। वे निर्जीव हैं। विवेकानंद ने सुना। कुछ देर मौन रहने के बाद बोले--'बेवकूफ हो तुम। बैठ जाओ।' इतना कहते ही, वह व्यक्ति आग बबूला हो गया। उसकी आकृति बदल गई। आंखें लाल हो गई। उसने कहा--आप इतने बड़े संत हैं। मुझे गाली दे दी। शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा आपको। विवेकानंद ने मुस्कराते हुए कहा--अभी तो तुम कह रहे थे कि शब्दों का क्या प्रभाव है? और स्वयं एक 'बेवकूफ' शब्द से इतने प्रभावित हो गए, क्रोध में आ गए।'

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की घटना बहुत प्रसिद्ध है। वे राज्य को छोड़ ऋषि बन गए। एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। पवित्र भाव और पवित्र लक्ष्य। भगवान महावीर उस समय राजगृह में समवसृत थे। राजा श्रेणिक उन्हें वन्दना करने जा रहा था। साथ में परिजन थे। राजर्षि की ध्यान मुद्रा से वह बहुत प्रभावित हुआ। उनके चेहरे से तेज टपक रहा था। वह भगवान महावीर के समवसरण में पहुंचा। प्रवचन सुना। भगवान से पूछा--भन्ते! यदि राजर्षि की इस अवस्था में मृत्यु हो तो वे कहां जाएंगे? भगवान् ने पहले नरक, दूसरे नरक की बात कहते-कहते सातवें नरक तक की बात

कही। श्रेणिक असमंजस में पड़ गया। कुछ समय बीता, फिर उसने जिज्ञासा की। भगवान ने एक-एक स्वर्ग की बात कहते-कहते बताया--राजर्षि केवली हो गए हैं। श्रेणिक की गुत्थी उलझ गई। महावीर ने उसको सुलझाते हुए कहा--राजन् ! तेरे साथ आने वाले कुछ लोगों ने राजर्षि को देखकर कहा--छोटे से बच्चे के कन्धे पर राज्य का भार डालकर यह साधु बन गया। अब पीछे से शत्रुओं ने राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वह बेचारा लड़का कैसे संभाल पाएगा इस राज्य को? ये शब्द राजर्षि के कानों से टकराए। वे ध्यान-च्युत हो गए। भावधारा मुड़ी और वे उसी अवस्था में युद्ध-स्थल पर पहुंच गये और मन ही मन शत्रुओं से लड़ने लग गए। उस समय उनकी मृत्यु होती तो वे नरक में ही जाते। पर कुछ ही क्षणों के पश्चात् पीछे से आने वाले कुछ व्यक्तियों ने राजर्षि की ध्यान-मुद्रा की प्रशंसा की, उसे विरल बताया। राजर्षि ने सुना, भावधारा मुड़ी और वे पुनः अपने आपमें अवस्थित हो गये। उन्होंने आत्मालोचन किया। इतना आत्मालोचन किया कि कैवल्य तक पहुंच गये।

एक शब्द ने राजर्षि को नरक तक पहुंचा दिया। एक शब्द ने उनको कैवल्य तक पहुंचा दिया। यह यथार्थ घटना है। शब्द का प्रभाव असंदिग्ध है। प्रश्न है कि कैसे शब्दों का चुनाव किया जाए? जीवन में उनका कैसे और कितना उपयोग किया जाए?

शब्द में शक्ति होती है। वे प्रभावित करते हैं। यह स्थूल प्रभाव की बात है। शब्द का बहुत सूक्ष्म प्रभाव होता है, असर होता है। आज शब्द के द्वारा चिकित्सा हो रही है। शब्दों के द्वारा आपरेशन हो रहे हैं। शब्द की सूक्ष्म तरंगें आ रही हैं और चीर-फाड़ हो रही है। कपड़ों की धुलाई होती है शब्दों के द्वारा, सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरे की कटाई होती है। पुराने जमाने में कहा जाता था कि हीरे से हीरा कटता है। यह मान्य सिद्धांत था। आज हीरा शब्द की सूक्ष्म ध्वनि से कटने लगा है। यन्त्र घूमता है, ध्वनि की सूक्ष्म तरंगें निकलती हैं और सूक्ष्म समय में ही हीरा कट जाता है। ये हैं शब्द के चमत्कार। इनसे आगे हैं जप और मंत्र के चमत्कार।

### मंत्र उच्चारण की प्रक्रिया

शब्द का उच्चारण छह प्रकार से होता है--ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परम सूक्ष्म। मंत्रविद् आचार्यों ने बताया--शब्द का ह्रस्व उच्चारण पाप का नाश करता है। दीर्घ उच्चारण लक्ष्मी की वृद्धि करता है, स्त्री की प्राप्ति कराता है। प्लुत उच्चारण ज्ञान की वृद्धि करता है। सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म--ये तीन उच्चारण ध्येय के साथ व्यक्ति को जोड़ देते हैं, ध्येय के साथ व्यक्ति का योग कर देते हैं। 'अर्हं' शब्द को लें। हम इसका उच्चारण करते हैं। इसका ह्रस्व उच्चारण भी होता है, दीर्घ

और प्लुत उच्चारण भी होता है। फिर सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म उच्चारण भी होता है। परम-सूक्ष्म में आकर हमें लगता है कि हम पहुंच गए, अर्हत् का अनुभव करने लग गए। इन छहों प्रकार के उच्चारणों के भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं।

## प्रश्न है शब्दों के चुनाव का

हमें शब्द की शक्ति को पहचाना है, शब्द के अर्थ और उच्चारण को भी समझना है। आदमी को उन शब्दों का चुनाव करना चाहिए, जिनसे बुरे विकल्प रुक जाएं। जो शब्द जीवन-यात्रा को विकासशील और कल्याणमय बनाए, उसे विघ्नों से बचाए, वैसे शब्दों का चुनाव आवश्यक है। ऐसे शब्द चुने जाएं, जिनसे जीवन की दुर्गन्ध मिटे, सुरभि फैले, बुरे स्वप्न बन्द हों, अच्छे स्वप्नों का सिलसिला चालू हो जाए। वे ही शब्द हमें प्रेयस् के मार्ग से हटाकर श्रेयस् के मार्ग पर ले जाने में सक्षम हो सकते हैं। 'ओम्' एक ऐसा शब्द है, जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। भारत के प्रायः सभी धर्म इसे मान्यता देते हैं। 'अर्हम्' भी शक्तिशाली शब्द है। यह नहीं कहा जा सकता--चौबीस घंटे इन शब्दों का ही ध्यान करते रहें, जप करते रहें। यह संभव भी नहीं है। हम इन शब्दों का जप करें और इन्हें श्वास के साथ जोड़ दें। धीरे-धीरे वह शब्द श्वास के साथ इतना घुल-मिल जाएगा कि अलग से उसके जाप की आवश्यकता नहीं रहेगी।

## ग्रन्थि-भेदन की पद्धति का विकास

हम जप करते है, संकल्प करते हैं। यदि जप और संकल्प स्थूल वाणी में होगा तो शक्तिशाली नहीं होगा और उससे हम बहुत लाभान्वित नहीं होंगे। यदि जप और संकल्प सूक्ष्म वाणी में होगा तो वह अधिक शक्तिशाली बनेगा। हमें सूक्ष्म का अभ्यास करना है। जैसे हम 'अर्हम्' का उच्चारण नाभि से शुरू कर पांच रूपों में – नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और अर्धचन्द्र–ऊपर तक ले जाते हैं। इस उच्चारण से क्या प्रतिक्रिया होती है, उस पर भी ध्यान दें। योग ने मानसिक ग्रन्थियों के भेदन की पद्धति का विकास किया था। जब हमारा उच्चारण सूक्ष्म हो जाता है, उस समय ग्रंथियों का भेदन शुरू हो जाता है। आज्ञाचक्र तक पहुंचते-पहुंचते ध्वनि बहुत सूक्ष्म हो जाती है, सूक्ष्मतम हो जाती है और उन ग्रंथियों का भेदन भी शुरू हो जाता है। हमारी ग्रन्थियां, जो सुलझती नहीं हैं, वे ग्रन्थियां इन सूक्ष्म उच्चारणों के द्वारा सुलझ जाती हैं।

## वाक् संवर की दिशा

जैन आचार्यों ने भी इस विषय पर विचार किया। उन्होंने कहा--'सम्यक्-दृष्टि, विरति, संयम और अप्रमाद–ये सारी स्थितियां विभिन्न उच्चारणों से होने वाले ग्रन्थि-भेद के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। ग्रन्थियों का भेदन होता है और ये स्थितियां विकसित

हो जाती हैं। सम्यक्त्व की दृष्टि विकसित हो जाती है, व्रत और अप्रमाद की दृष्टि विकसित हो जाती है। सूक्ष्म उच्चारण करने की जो विधि है, उसका विकास करते चले जाएं तो हमारी दिशा होगी वाक्-संवर की दिशा। वाक्-संवर की दिशा का मतलब है—निर्विकल्पता की दिशा, विचार-शून्यता की दिशा। निर्विचार की दिशा में प्रयाण करने से पहले विचार का भी सहारा लेना पड़ता है। वस्तुतः हमें विचार ही निर्विचार तक पहुंचाता है।

## मंत्र की कसौटी का आधार

वाणी की एक शक्ति है भावना और दूसरी शक्ति है उच्चारण । भावना और उच्चारण के आधार पर ही मंत्र-शक्ति का विकास होता है। तरंग का सिद्धान्त भी इसके साथ जुड़ता है । आज वाणी पर वैज्ञानिक खोजें हुई हैं, मंत्रशास्त्रीय खोजें हुई हैं । इन खोजों में तीनों शक्तियों की बात निर्णीत हुई है। तीनों बातें जुड़ी हुई मिलती हैं । पहली बात है भावना, दूसरी बात है उच्चारण और तीसरी बात है उच्चारण के द्वारा उत्पादन के द्वारा उत्पन्न वाणी की शक्ति उच्चारण के साथ-साथ तरंग पैदा होती है । एक शब्द का उच्चारण होता है और अल्फा तरंगे पैदा हो जाती है। एक शब्द का उच्चारण होता है और थेटा तरंगें पैदा हो जाती हैं। इन तरंगों के आधार पर मंत्रों की कसौटी की जाती है। 'ओम्' का उच्चारण होता है, अल्फा तरंगें पैदा हो जाती हैं और मस्तिष्क रिलेक्स हो जाता है, शिथिल हो जाता है । जैसे-जैसे मस्तिष्क की शिथिलता बढ़ती है, अल्फा तरंगें पैदा होती चली जाती हैं। शिथिलन के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जितने भी बीज-मंत्र हैं, उनसे भिन्न-भिन्न तरंगें उत्पन्न होती हैं और वे मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। बीजाक्षर हैं-अ सि आ उ सा अर्हम् ओम् ह्रीं श्री क्लीं । ये सारे बीजमंत्र हैं। इनसे उत्पन्न तरंगें ग्रन्थि-संस्थान को प्रभावित करती हैं, अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव को संतुलित करती हैं। ग्रन्थियों का स्राव 'ह्र' के उच्चारण से संतुलित हो जाता है । मस्तिष्क अस्त-व्यस्त होता है। एक शब्द का जप शुरू होता है और मस्तिष्क व्यवस्थित हो जाता है।

## मंत्र से भावित मन

विकल्प और विचार के परमाणु हमारे मस्तिष्क के आस-पास मंडराते रहते हैं। व्यक्ति प्रेक्षा करने बैठता है। बीच में ही इतने विकल्प उठ जाते हैं कि प्रेक्षा कहीं रह जाती है, मन ऑफिस या दूकान की यात्रा करने के लिए प्रस्थान कर देता है, विश्व की यात्रा करने निकल पड़ता है । जब हम मन को भावित करना सीख जाते हैं, संकल्पशक्ति दृढ़ हो जाती है तब ये यात्राएं नहीं होतीं । हमारी आत्मा भावित है, मन भावित है और मंत्र की आराधना से हमारी संकल्पशक्ति विकसित है तो वे परमाणु भीतर प्रवेश नहीं कर पाएंगे। मन्त्र एक कवच है, प्रतिरोधात्मक शक्ति है, एक सशक्त

दुर्ग है । उसे भेदकर बाहर का एक अणु भी भीतर प्रवेश नहीं पा सकता है । जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक मंत्रों की आराधना के द्वारा अपने मन को भावित कर लिया, अपने मस्तिष्क के चारों ओर एक मजबूत कवच बना लिया, उसमें बुरे विचारों के परमाणु कभी प्रवेश नहीं कर पाएंगे । वे परमाणु आएंगे, टकराएंगे, टकरा-टकराकर लौट जाएंगे, भीतर नहीं जा सकेंगे, क्योंकि हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति मंत्र आराधना से अभेद्य बन जाती है।

### डाक्टर का काम

डाक्टर दो दिशाओं में काम करता है । वह बीमारी के कीटाणुओं को नष्ट करने की दवा देता है और साथ-साथ प्रतिरोधात्मक शक्ति को बढ़ाने की भी दवा देता है। जिसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होती है, जिसका रेजिस्टेंस पॉवर कम होता है, उसको दी जाने वाली औषधियां अधिक लाभप्रद नहीं होतीं । जब शरीर में बीमारियों से लड़ने की शक्ति नहीं है तब दवाई क्या करेगी ? जब बीमारी से जूझने की क्षमता होती है, तब दवाई काम करती है। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए- बीमारी के कीटाणुओं का नाश और उनसे जूझने की प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास।

### मंत्र का काम

मंत्र के द्वारा दोनों काम होते हैं- (१) मन की विकृति मिटती है (२) प्रतिरोधात्मक शक्ति विकसित होती है । ऊर्जा का वातावरण प्रबल बन जाता है। बाहर के आघात कम पहुंचते हैं या पहुंचते ही नहीं । जिस व्यक्ति ने नमस्कार मन्त्र जैसे महामंत्र से अपने मन को भावित कर लिया, मन्त्र की हजारों-लाखों आवृत्तियां कर मन को शक्ति-संपन्न बना लिया, वह व्यक्ति अप्रिय या प्रतिकूल घटनाओं को द्रष्टा बनकर देखता है, भोगता नहीं । उन घटनाओं का उसके मन पर कोई असर नहीं होता। इस प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास के लिए, मन को भावित करने के लिए, एक सुदृढ़ कवच या वज्रपंजर बनाने के लिए भावना का प्रयोग बहुत जरूरी है। भावना प्रेक्षाध्यान का आधारभूत तत्त्व है । इस आधार को मजबूत कर लेने पर प्रेक्षाध्यान सुविधापूर्वक हो सकता है, अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

### मंत्र की निष्पत्ति

मंत्र आराधना की निष्पत्तियां आंतरिक भी हैं और बाह्य भी हैं। मानसिक भी हैं और शारीरिक भी हैं । मंत्र की आराधना से जब मंत्र सिद्ध होने लगता है तब कुछ निष्पत्तियां हमारे सामने प्रकट होती हैं । पहली निष्पत्ति है-मन की प्रसन्नता। दूसरी निष्पत्ति है--मानसिक तोष। बिना किसी उपलब्धि के भी मन संतुष्ट हो जाता है। जो संतोष पदार्थ की उपलब्धि के पश्चात् होता है, कुछ मिलने पर होता है, वह

वास्तव में संतोष नहीं होता, वासना की तृप्ति-मात्र होता है। तृप्ति के साथ अतृप्ति जुड़ी होती है। जहां तृप्ति होगी, वहां अतृप्ति भी होगी। पानी पिया। प्यास बुझ गई। एक घंटा बीता, दो घंटे बीते, फिर प्यास लग जाएगी। तृप्ति के साथ अतृप्ति जुड़ी ही रहती है। तोष के साथ, संतोष के साथ कुछ भी जुड़ा नहीं रहता। पदार्थ की उपलब्धि के बिना भी मन संतोष से भर जाता है, सारी चाह मिट जाती है।

मंत्र की आराधना से स्मृतिशक्ति का विकास होता है, बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है और अनुभव की चेतना जागती है। ये मानसिक निष्पत्तियां हैं, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आती हैं।

### शरीर पर प्रभाव

मंत्र की आराधना का शरीर पर भी प्रभाव होता है। मंत्र की आराधना जैसे-जैसे विकसित होने लगती है, अनायास ही व्यक्ति की आंखों में आंसू छलक पड़ते हैं। शरीर रोमांचित हो जाता है। कंठ गद्‌गद हो जाता है। वाणी भारी-सी हो जाती है। ये शारीरिक लक्षण प्रकट होने लगते हैं। स्वास्थ्य का भी परिवर्तन होता है।

जप करने वाला या मंत्र की आराधना करने वाला व्यक्ति क्षय, अरुचि, अग्नि-मंदता आदि-आदि बीमारियों पर नियंत्रण पा लेता है।

### अनुभव की बात

जहां तक मानसिक उपलब्धियों का प्रश्न हैं, मैं अपने अनुभव के बल पर कह सकता हूं कि ये उपलब्धियां होती हैं, किंतु जहां शारीरिक उपलब्धियों का प्रश्न है, मैं अपने अनुभव के आधार पर यह नहीं कह सकता कि ऐसा होता ही है। जो बात अपने अनुभव में आती है, जिसका स्वयं अनुभव होता है, उसके विषय में पूरे आत्मविश्वास के साथ कुछ भी कहने में कोई कठिनाई नहीं होती, किंतु जिसका व्यक्ति स्वयं प्रयोग नहीं कर लेता, उसके विषय में बलपूर्वक कुछ कहना दूसरे को भुलावे में डालने जैसा है। यह उचित नहीं होता। यह सच है कि मंत्र की आराधना से ऐसा होता है किंतु मैं यह नहीं कह सकता कि यह मेरा अपना अनुभव है।

### शब्द-सिद्धि का अर्थ

शब्द और मन--दोनों का समुचित योग होते ही एक शक्ति पैदा होती है। हम बोलते हैं। हमारे बोलने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगें पैदा होती हैं। हम सोचते हैं। हमारे सोचने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगे पैदा होती हैं। उन विद्युत्-तरंगों का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है।

अपेक्षा है--हम प्रकम्पनों का ठीक उपयोग करें। उनकी शक्ति का उपयोग करें। हम ध्वनि की तरंगों का उपयोग करना सीखें। ध्वनि की तरंगों से उत्पन्न शक्ति का

ठीक नियोजन करना सीखें। जब ध्वनि की तरंगें मन की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, संकल्प की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, श्वास की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, तब बहुत बड़ी शक्ति पैदा होती है।

जब शब्द के कंपन अपनी चरम स्थिति तक पहुंचकर 'क्ष' किरणों--एक्स रेज के रूप में परिणत हो जाते हैं तब उनकी गति एक करोड़ मील प्रति सेकेण्ड हो जाती है। संकल्प के कंपन उसमें शक्ति का नियोजन कर देते हैं। इसलिए योग के मर्मज्ञ आचार्यों ने कहा--जिनके निश्चय में कोई छिद्र नहीं है, वे क्या नहीं कर सकते? उनके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। शब्द की सिद्धि आस्था की सिद्धि से होती है। आस्थाहीन शब्द शक्ति-शून्य होते हैं। शब्द को साधने का अर्थ है--आस्था और शब्द की दूरी को समाप्त कर देना। शब्द को साधने का अर्थ है--ध्वनि को आस्था का कवच पहना देना।

# रंगों का मन पर प्रभाव

बहुत वर्ष पहले की बात है। आदर्श साहित्य संघ, चूरू के व्यवस्थापक श्री जयचन्दलालजी दफ्तरी कलकत्ता में थे। एक बार उन्होंने एक प्राकृतिक चिकित्सक से बातचीत करते हुए कहा--मुझे प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में कोई विश्वास नहीं है। यदि तुम कोई चमत्कार दिखाओ तो जानूं। डॉक्टर ने कहा--ठीक है। उसने सूर्य के आतप में रखी हुई लाल रंग की बोतल का पानी पिलाया। सायं होते-होते दफ्तरीजी को खून के दस्त होने लगे। केवल पानी का यह परिणाम था।

**प्रकाश का उनचालीसवां प्रकंपन**

रंगों का भी अपना चमत्कार होता है। उसका शरीर, मन और भावना के स्तर पर बहुत प्रभाव होता है। इस शताब्दी में पश्चिम जगत् में 'कलर थेरेपी' और 'कोमो थेरेपी' का बहुत प्रचलन रहा है। प्रकाश का उनचालीसवां प्रकंपन 'रंग' है। जैसे सूर्य की किरणों का असर होता है, वैसे ही रंगों का असर होता है। वह भी तो प्रकाश ही है। हम स्वयं अनुभव करते हैं--जिस दिन आकाश बादलों से घिरा रहता है, अग्नि मंद हो जाती है, शरीर सुस्ताने लग जाता है। धूप होती है तो आदमी में स्फूर्ति होती है।

जैसे सूरज के ताप और प्रकाश का हमारे शरीर पर प्रभाव होता है, वैसे ही रंगों का प्रभाव भी हमारे शरीर और मन पर होता है।

**रंग सिद्धांत**

रंग, शब्द, उच्चारण और मन--ये चार मुख्य बातें हैं। रंग का हमारे चिंतन और जीवन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। रंग हमारे शरीर और मन को प्रभावित करता है। 'कलर थेरापी' आज चल रही है। एक पद्धति है 'कॉस्मिक रे थेरापी' अर्थात् दिव्य-किरण-चिकित्सा। रंग और सूर्य की किरण--दोनों के साथ इसका सम्बन्ध है। प्रकाश के साथ यह संयुक्त है। रंग हमारे शरीर और मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं, फिर चाहे वे रोग शारीरिक हों या मानसिक। मानसिक रोग-चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है। रंग थोड़ा-सा विकृत हुआ, आदमी

पागल हो जाता है। रंग की पूर्ति हुई, आदमी स्वस्थ बन जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। 'कलर थेरापी' का यह सिद्धान्त है कि बीमारी के कोई कीटाणु नहीं होते। रंग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रंग की कमी हुई है, उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जाएगा, बीमारी मिट जाएगी।

### चिन्तन : रंग

हमारे चिंतन के साथ भी रंगों का सम्बन्ध है। जब मन में खराब चिंतन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ विचार आते हैं तब चिंतन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं, लेश्या कृष्ण होती है। अच्छा चिंतन करते हैं, हित-चिन्तन करते हैं, शुभ विचार आते हैं तब चिंतन के पुद्गल पीतवर्ण के होते हैं, पीले होते हैं और श्वेत वर्ण के भी हो सकते हैं। उस समय तेजोलेश्या होगी या पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या होगी। बुरे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है काला और अच्छे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है पीला, लाल या श्वेत। जिस प्रकार का चिंतन होता है उसी प्रकार का रंग होता है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आस-पास रंग का एक आभामंडल है। उसमें अनेक रंग होते हैं। किसी के आभामंडल का रंग काला होता है, किसी का नीला और किसी का लाल और सफेद। आभामंडल अनेक वर्णों का भी होता है।

### सूक्ष्म जगत् का रहस्य

हम सूक्ष्म जगत् को देखें। कोई भी दुनिया का ऐसा रंग बाकी नहीं है, जो हमारी आंखों के सामने न हो। कोई भी ज्योति के पुञ्ज और परमाणु ऐसे नहीं हैं, जो हमारी आंखों के सामने न हों। जितने वर्ण, जितने गंध, जितने रस और जितने स्पर्श इस दुनिया में श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मिलते हैं, वे सारे के सारे हमारी आंखों के सामने नृत्य कर रहे हैं किन्तु उन्हें हम पकड़ नहीं पा रहे हैं। इन आंखों से सौ वर्ष तक देखते चले जाएं फिर भी नहीं पकड़ पाएंगे। प्रश्न है-हमें क्या करना होगा? हमें प्राण में मन को सम करना होगा। जैसे ही प्राण में मन को सम किया और सूक्ष्म जगत् के साथ हमारा संपर्क स्थापित हो गया, फिर रंग दिखाई देंगे, ज्योति दिखाई देगी, विचित्र प्रकार की दुनिया दिखने लग जाएगी। यह कोई काल्पनिक दुनिया नहीं है। विचित्र सृष्टि हमारे आस-पास विद्यमान है, उसे देखने की क्षमता होनी चाहिए। जिसने सूक्ष्म जगत् में प्रवेश किया, जिसका सूक्ष्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित हो गया, उसे विचित्र प्रकार की दुनिया दिखाई देने लग गई।

कभी-कभी ध्यान में इस प्रकार के रंगों का दर्शन होता है कि वैसे रंग इस दुनिया में देखने को कभी नहीं मिलते। सुन्दर, तेज और ज्योतिर्मय। शायद बाहरी दुनिया में इन स्थूल आंखों से वैसे रंगों को देखने का स्वप्न भी नहीं ले सकते। जब

हमारा सूक्ष्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित होता है, ये सारी बातें घटित होने लग जाती हैं, शब्द भी सुनाई देने लग जाते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में या अपर-मस्तिष्क में ऐसे यंत्र हैं, जिनसे सूक्ष्म बातों को भी सुन सकते हैं। जब अन्तर्-शक्ति काम करने लग जाती है तब ये सारी बातें घटित होने लग जाती हैं। यह न कोई चमत्कार है, न कोई प्रदर्शन है। यह केवल सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करने का एक प्रयोग है, प्राण और मन को सुषुम्ना में ले जाने का प्रयोग है।

### प्राण-प्रयोग

हम संकल्प को सिद्ध कर मन को सुषुम्ना में ले जा सकते हैं। जब संकल्प के द्वारा हाथ ऊपर जाने लगता है तब करेंट का धक्का-सा आता है। यह प्राणधारा है। जिधर हमारा संकल्प जाता है, उधर ही प्राण की धारा का मुक्त प्रवाह हो जाता है। संकल्प के साथ-साथ प्राण जाता है। भगीरथ के पीछे जैसे गंगा चली थी या आदमी के पीछे-पीछे छाया चलती है, वैसे ही संकल्प के साथ-साथ प्राण की धारा चलती है। जिस दिशा में संकल्प कर लिया, उस दिशा में ही प्राण की धारा का मुख्य प्रवाह हो जाएगा। प्राण की धारा इतनी तेज हो जाती है कि करेंट का धक्का-सा लगता है, हाथ सहन नहीं कर सकता। अकस्मात् हाथ इस प्रकार उछलता है मानो किसी ने आकर झटका दिया है। हमारे भीतर जो तैजस शरीर है, जो प्राणशक्ति है, उसकी गति तीव्र हो जाती है। वह झटका देती है। यह प्राण का प्रयोग है, संकल्प का प्रयोग है और मन के विलय का प्रयोग है। मन विलीन हुआ और व्यक्ति दूसरी दुनिया में पहुंच जाता है, सूक्ष्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेता है, उसे विचित्र प्रकार की अनुभूति होने लग जाती है।

### लेश्या का सिद्धांत

जैन दर्शन में 'लेश्या' पर बहुत काम हुआ है। लेश्या की खोज एक महत्त्वपूर्ण खोज है। लेश्या का भावों के साथ गहरा सम्बन्ध है।

लेश्या सिद्धांत का एक नियम है कि जैसा भाव होता है, वैसा ही रंग बन जाता है। जैसा रंग होता है, वैसा ही भाव बन जाता है। दोनों में गहरा सम्बन्ध है। इसी के आधार पर कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तैजस लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या–ये छह लेश्याएं हैं। छह ही प्रकार के मनोभाव हैं और उनके रंग हैं।

### रंग प्रत्येक वृत्ति के

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा--भन्ते ! हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, मान, माया और लोभ–इनमें रंग होते हैं? भगवान ने कहा–इनमें पांचों रंग होते हैं। क्रोध, अहंकार, हिंसा और झूठ का अपना-अपना रंग होता है। जब आदमी

झूठ बोलता है तब ध्यान से देखने पर पता लग जाता है कि उसके चेहरे का रंग काला पड़ गया है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के चेहरे में आभा आ जाएगी।

हमारे व्यक्तित्व, विचारों और मनोभावों के साथ रंगों का गहरा सम्बन्ध है। हम किस रंग से पुते हुए कमरों में रहते हैं, किस प्रकार के रंग का भोजन करते हैं, इन सबका हमारे विचारों पर प्रभाव पड़ता है। न्यायालय में न्यायाधीश काले-नीले रंग का कोट पहनते हैं। वकील भी काले रंग का कोट पहनते हैं। सर्दी में लोग काले-नीले रंग के कपड़े पहनते हैं, कंबल ओढ़ते हैं। गर्मी में सफेद कपड़े पहनते हैं। इन सबका कारण है। काले रंग में प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है। वह बाहर की वस्तु को आत्मसात् नहीं करता, बाहर ही रोक देता है। सफेद रंग में पारदर्शिता की शक्ति होती है।

रंग दो प्रकार के होते हैं--गहरा रंग और हल्का रंग। हल्का लाल रंग अध्यात्म का रंग है। यह अध्यात्म की चेतना के जागरण का द्वार है। जिस व्यक्ति का लाल रंग जागृत होता है, उसमें आध्यात्मिक चेतना जागती है। जिसमें यह रंग जागृत नहीं होता, उसमें अध्यात्म का जागरण नहीं होता। साधना करते-करते जब अरुण रंग या श्वेत रंग के स्पन्दन जागते हैं तब अपूर्व आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

**रंग के प्रयोग**

प्रेक्षाध्यान में रंगों के साथ श्वास का प्रयोग होता है। उसी रंग का ध्यान करना और उसी रंग का श्वास लेना, इससे रंग का संतुलन बना रहता है और इसका आश्चर्यकारी प्रभाव देखा गया है।

रंग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव ही नहीं होता, उसका रासायनिक प्रभाव भी होता है। गर्मी के मौसम में 'णमो सिद्धाणं' का प्रयोग चल रहा था। उसका रंग है लाल। दर्शन केन्द्र पर उसका प्रयोग कराया गया। सभी साधक उसमें तन्मय बने, लाल रंग से गर्मी का प्रकोप बढ़ा और अनेक प्रकार की शिकायतें प्रारम्भ हो गयीं।

रंग के कारण क्रोध बढ़ता भी है और कम भी होता है। अमुक-अमुक चैतन्य-केन्द्रों पर श्वेत रंग का ध्यान करने पर क्रोध कम हो जाता है।

एक बहन ने कहा--मेरी थायरायड ग्रंथि बहुत सक्रिय है। वह उससे बहुत परेशान थी। उसे ब्लू रंग का ध्यान कराया गया। थायरायड की सक्रियता कम हुई। बहन की परेशानी भी कम हो गई । हमारे शरीर में जितने ग्लैण्ड्स हैं, जितने चैतन्य-केन्द्र हैं, उन सबका अपना रंग है। जिसकी पिच्यूटरी ग्लैण्ड कमजोर हो जाती है, उसके लिए हरा रंग चमत्कारी होता है।

**मंत्रशास्त्र और रंग**

मंत्रशास्त्र में भी रंगों पर गहराई से विचार किया गया है। मंत्रों के जितने कल्प हैं, उनके साथ रंगों का सम्बन्ध है। ओंकारकल्प, ह्रींकल्प, अर्हंकल्प, नमस्कार-

महामंत्रकल्प--सबके साथ रंग जुड़े हुए हैं। नमस्कार महामंत्र के पांच पद हैं और उनका ध्यान भिन्न-भिन्न चैतन्य केन्द्रों पर किया जाता है–

| मंत्र | चैतन्य केन्द्र | रंग |
|---|---|---|
| णमो अरहंताणं | शांतिकेन्द्र | श्वेत |
| समो सिद्धाणं | ज्ञानकेन्द्र | अरुण |
| णमो आयरियाणं | विशुद्धिकेन्द्र | पीला |
| णमो उवज्झायाणं | आनन्दकेन्द्र | हरा |
| णमो लोए सव्वसाहूणं | तैजसकेन्द्र | नीला |

इन पांच पदों का उनसे सम्बन्धित चैतन्यकेन्द्रों पर उन-उन रंगों के साथ यदि जप और ध्यान किया जाए तो बहुत लाभ हो सकता है।

शांति और पवित्रता के लिए श्वेत रंग प्रभावशाली होता है।

सक्रियता और स्फूर्ति के लिए लाल रंग प्रभावशाली होता है। यह रंग शक्ति और स्फूर्ति का संचार करता है, आलस्य और अकर्मण्यता को दूर करता है

पीला रंग बौद्धिक विकास और भावना शुद्धि का प्रतीक है।

हरा रंग विषापहार होता है।

नीला रंग अध्यात्म विकास का प्रेरक है।

### रत्न चिकित्सा

रत्न चिकित्सा का प्रचलन यत्र-तत्र है। इसका भी वैज्ञानिक कारण है। रत्नों मे 'कॉस्मिक रे'--जागतिक रश्मियां अधिक संचित रहती हैं। इन रश्मियों के विभिन्न रंग विभिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ये रंग दुष्प्रभावों से बचाते हैं। रत्न चिकित्सव डॉ भट्टाचार्य ने एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। उसमें विस्तार से रत्नों के प्रभावों पर प्रकाश डाला गया है। ग्रहों के जो-जो रंग हैं, वे रंग इन रत्नों में प्राप्त होते हैं। रत्नो के रंगों और ग्रहों के रंगों में बहुत गहरा सम्बन्ध है, इसीलिए ज्योतिषी अमुक-अमुक ग्रहों के प्रभाव को दूर करने के लिए अमुक-अमुक रंगों के रत्नों की अंगुठियां पहनने का निर्देश देते हैं। उनसे ग्रहों का प्रभाव कम होता है।

### वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में रंग

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। उसके इन्द्रिय और सहायक मन भी पौद्गलिव हैं। उसकी सारी प्रवृत्तियों में पुद्गल का बहुत बड़ा योग रहता है। पुद्गल के चा लक्षण हैं–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। इन चारों में पहला वर्ण–रंग है। वर्ण के पांच प्रकार हैं–काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनके मिश्रण से अनेक रंग उत्पन्न होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक रंग के सात प्रकार मानते हैं–लाल, हरा, पीला, आसमानी

गहरा नीला, काला और हल्का नीला। उनके अनुसार सफेद रंग मौलिक नहीं है। वह सात रंगों के एकीकरण से बनता है।

वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा रंगों की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। विज्ञान के अनुसार रंगों की प्रकृति यह है--

| रंग | प्रकृति |
|---|---|
| लाल | गर्म |
| नारंगी | गर्म |
| लाल-नारंगी | बहुत गर्म |
| पीला | गर्म किन्तु लाल-नारंगी से कम |
| हलका गुलाबी | गर्म |
| गाढ़ा गुलाबी | गर्म |
| बादामी | गर्म |
| हरा | न अधिक गर्म, न अधिक ठंडा |
| नीला | ठंडा |
| गहरा नीला या आसमानी | ठंडा |
| शुभ्र (बनफशी) | न गर्म, न ठंडा। |

इनमें नारंगी लाल रंग के परिवार का है। बैंगनी और जामुनी रंग नील रंग के परिवार के अंग हैं।

**रंगों का शरीर पर प्रभाव**

लाल : स्नायुमण्डल को स्फूर्ति देना।

नीला : स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष में लाभ पहुंचाना और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।

पीला : मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत् और प्लीहा के रोगों को शांत करने में उपयोगी।

हरा : ज्ञान-तंतुओं और स्नायुमंडल को बल देना, वीर्य रोग के उपशमन में उपयोगी।

गहरा नीला : गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय सम्बन्धी रोगों के उपशमन में उपयोगी।

शुभ्र : नींद के लिए उपयोगी।

नारंगी : दमा तथा वात-व्याधियों के रोगों को मिटाने में उपयोगी।

बैंगनी : शरीर के तापमान को कम करने में उपयोगी।

**रंग : विभिन्न निष्कर्ष**

वर्तमान में रंगों पर बहुत महत्त्वपूर्ण काम हुआ है, अनेक प्रयोग और तथ्य

सामने आए हैं। एक प्रयोग किया गया। एक कमरें में बैंगनी रंग की पुताई की गई। उस कमरे से मजदूरों को धान उठाने के लिए कहा गया। वे साठ किलो भार उठाते-उठाते थककर चूर हो गये। फिर उन्हें लाल रंग से पुते कमरे में भार उठाने के लिए कहा गया। वहां कुछ विश्राम कर उन मजदूरों ने ७०-७५ किलो वजन आसानी से उठा लिया। लाल रंग सक्रियता पैदा करता है और स्नायुओं को स्फूर्ति देता है इसीलिए वह परिवर्तन आया।

रूस में एक प्रयोग किया गया। एक विद्यालय के छात्र बहुत उद्दंड और पढ़ने में आलसी थे। अधिकारियों ने उस विद्यालय की सारी दीवारें गुलाबी रंग से पुतवा दी। कुछ दिन बीते। विद्यार्थियों की उद्दंडता कम हो गयी और उनकी दक्षता बढ़ गई। वे पढ़ने में रस लेने लगे। यह प्रयोग बहुत सफल रहा।

विभिन्न रंगों के कुछ प्रभाव इस प्रकार हैं--

**नारंगी रंग--** यह शारीरिक शक्तियों को मानसिक गुणों के साथ जोड़ता है। यह स्प्लीन और पेन्क्रियाज--इन दोनों चक्रों से शक्ति को प्रवाहित करता है। यह विचार और मानसिक कल्पनाओं का सूचक वर्ण है। यह प्रेम, प्रसन्नता, भावनाओं की सजीवता और योगक्षेम की भावना को बनाए रखता है। यह एथरिक-बॉडी को शक्तिशाली बनाता है।

**हरा रंग--** जब व्यक्ति में भावनात्मक गड़बड़ी होती है तब हरे रंग की किरणें मस्तिष्क पर डालकर चिकित्सा की जाती है। यह शक्ति, यौवन, अनुभव, उत्पादन, आशा और नवजीवन का प्रतीक वर्ण है। साथ-साथ यह ईर्ष्या, द्वेष और अंध-विश्वास का सूचक भी है।

**नीला रंग--** भावनात्मक स्थितियों में यह हरे रंग से अधिक लाभदायक होता है। यह ध्यान और आध्यात्मिक विकास का सूचक है। यह मन को शान्त करता है, विशुद्धि चक्र को सक्रिय करता है। यह व्यक्ति को स्वार्थीपन से दूर हटाकर सामाजिक बनाता है, उसे पारिपार्श्विक वातावरण के अनुकूल बनाता है।

यह रंग सत्य, समर्पण, शांति, प्रामाणिकता और प्रातिभज्ञान का सूचक वर्ण है।

**जामुनी रंग--** यह वर्ण सूक्ष्म शरीरों की आन्तरिक विद्युत् तथा सहस्रार चक्र को नियंत्रित करता है। यह भौतिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक स्तर पर दृष्टि, श्रवण और सुगन्ध की शक्ति को प्रभावित करता है।

**बैंगनी रंग--** हिंसात्मक पागलपन से छुटकारा पाने के लिए यह वर्ण बहुत उपयोगी है। यह प्रेरणादायक और अत्यधिक भूख पर नियन्त्रण स्थापित करने में सहयोग देता है। यह स्वास्थ्य का प्रतीक वर्ण है, स्वाधिष्ठान चक्र को संयमित करता है। कुछ विद्वान्

मानते हैं--बैंगनी प्रकाश में ध्यान दस गुना अच्छा होता है। अंधे कांच से बैंगनी प्रकाश डाला जाए तो ध्यान-शक्ति में विकास होता है।

### रंग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

काला रंग मनुष्य में असंयम, हिंसा और क्रूरता का विचार उत्पन्न करता है।

नीला रंग मनुष्य में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रंग मनुष्य में वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।

अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म-प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रंग मनुष्य में शांति, क्रोध-मान-माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है।

सफेद रंग मनुष्य में गहरी शांति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारों के रंगों के विषय में एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है, जिसका प्रथम वर्गीकरण के साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं है। वह इस प्रकार है--

| **विचार** | **रंग** |
|---|---|
| भक्ति विषयक | आसमानी |
| कामोद्वेग विषयक | लाल |
| तर्क-वितर्क विषयक | पीला |
| प्रेम विषयक | गुलाबी |
| स्वार्थ विषयक | हरा |
| क्रोध विषयक | लाल-काले रंग का मिश्रण |

### रंग के दो प्रकार

इन दोनों वर्गीकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रंग दो प्रकार का होता है--

१. प्रशस्त २. अप्रशस्त

कृष्ण, नील और कापोत--अप्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर बुरा प्रभाव डालते हैं तथा अरुण, पीला और सफेद--प्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।

क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण लाल है। मोह से जल तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण सफेद या बैंगनी है। भय से पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण पीला है। प्रशस्त लेश्याओं के जो वर्ण हैं, उनकी प्रधानता क्रोध आदि से होती है। इन दोनों निरूपणों में विरोधाभास है। इससे यह जानने के

लिए अवकाश मिलता है कि लाल, पीला और सफेद वर्ण अच्छे विचारों को उत्पन्न नहीं करते किन्तु प्रशस्त कोटि के लाल, पीला और सफेद वर्ण ही अच्छे विचारों को उत्पन्न करते हैं।

विकास के लिए रंगों का मानसिक अनुचिंतन करना चाहिए। मुख्यतया अनुचिंतनीय वर्ण ये हैं—अरुण, पीत और श्वेत।

**तेजोलेश्या**

तेजोलेश्या का रंग बाल सूर्य जैसा लाल है। लाल रंग निर्माण का रंग है। लाल रंग का तत्त्व है—अग्नि। हमारी सारी सक्रियता, शक्ति, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति—सबका स्रोत है लाल रंग। लाल रंग हमारा स्वास्थ्य है। डॉक्टर सबसे पहले देखता है कि रक्त में श्वेत कण कितने हैं और लाल कण कितने हैं? लाल कण का कम होना अस्वास्थ्य का द्योतक हैं। लाल रंग बाहर से आने वाले प्रभाव को रोकता है। लाल रंग में यह क्षमता है कि वह व्यक्ति को बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में ले जा सकता है। जब तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्या काम करती है, तब तक व्यक्ति अन्तर्मुखी नहीं हो सकता, आध्यात्मिक नहीं हो सकता, अन्तर्जगत् की यात्रा नहीं कर सकता। वह आन्तरिक सुखों का अनुभव नहीं कर सकता। प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया में आन्तरिक सूक्ष्म स्पंदनों का अनुभव करना सिखाया जाता है। मन जब सूक्ष्म होता है, तब वह सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़ने में सक्षम हो जाता है। जब तैजस शरीर के साथ हमारा संपर्क स्थापित होता है तब रंग दिखने लग जाते हैं। जब हम दर्शन केन्द्र को सक्रिय करते हैं तब बाल-सूर्य का लाल रंग दिखने लग जाता है। उस समय व्यक्ति को कितनी आनन्दानुभूति होती है, बताई नहीं जा सकती। उस आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला ही उसे जान सकता है, वह उसे बता नहीं सकता। इस लाल रंग के अनुभव से, तेजोलेश्या के स्पंदनों की अनुभूति से अन्तर्जगत् की यात्रा प्रारम्भ होती है। लाल रंग नाड़ी-संस्थान और रक्त को सक्रिय बनाता है। जब दर्शन-केन्द्र पर लाल रंग का ध्यान सधता है तब आदतों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। कृष्ण, नील और कापोत-लेश्या के अशुभ रंगों से होने वाली आदतें तेजो-लेश्या के प्रकाशमय लाल रंग से समाप्त होने लगती हैं, अचानक स्वभाव में परिवर्तन आता है।

**पद्म लेश्याः शुक्ल लेश्या**

पद्म लेश्या का रंग पीला है। यह रंग बहुत शक्तिशाली होता है। यह रंग गर्मी पैदा करने वाला है। उत्क्रमण की सारी प्रक्रिया गर्मी बढ़ाने की प्रक्रिया है। तेजोलेश्या में भी गर्मी बढ़ती है, पद्म-लेश्या में भी गर्मी बढ़ती है और जब वह गर्मी पूरी मात्रा में बढ़ जाती है, चरम शिखर को छू लेती है और गर्मी बढ़ने का अवकाश नहीं रहता

तब शुक्ल लेश्या के द्वारा गर्मी का उपशमन करते हैं और तब निर्वाण घटित हो जाता है।

शारीरिक दृष्टि से पीला रंग मस्तिष्क और नाड़ी संस्थान को बल देता है। जिस बच्चे की बुद्धि और स्मृति-शक्ति कमजोर हो, मस्तिष्क कमजोर हो, उसे यदि पीले रंग के कमरे में रखा जाए तो उसमें परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। जो व्यक्ति दस मिनट तक मस्तिष्क पर पीले रंग का ध्यान करता है, उसका बुद्धिबल शक्तिशाली होता जाता है।

रंग का मनोविज्ञान कहता है कि पीला रंग मन की प्रसन्नता का प्रतीक है। आगम कहते हैं—पीत-लेश्या से चित्त प्रशांत होता है, शांति और आनन्द बढ़ता है। दर्शन की शक्ति पीले रंग से विकसित होती है। दर्शन का अर्थ है—साक्षात्कार, अनुभव। एकांत में बैठकर आंखें मूंदकर दस मिनट तक मस्तिष्क में पीत वर्ण का ध्यान करने से ओज बढ़ता है और मस्तिष्क बलवान् होता है। आंखें मूंदकर पीले रंग की ज्योति का ध्यान करने से आलस्य दूर होता है और बुद्धि तीव्र होती है।

यदि हम आनन्द-केन्द्र, मस्तिष्क तथा विशुद्धि-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं तो अंधकार के रंगों द्वारा निर्मित आदतें विघटित होने लगती हैं और नई आदतें बननी प्रारम्भ हो जाती हैं।

लेश्या-ध्यान का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। यह जैन साधना पद्धति का अपूर्व प्रयोग है। लेश्या कोरी जानने, देखने और रटने की बात नहीं है, यह साधना की प्रक्रिया है, समूचे व्यक्तित्व को बदलने की प्रक्रिया है।

# मन का शरीर पर प्रभाव

विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण शाखाएं हैं--शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान। मेडिकल साइंस में बीमारी का आधार कीटाणु और विषाणु बतलाया गया। साईकोलॉजी के अनुसार केवल कीटाणु और विषाणु ही बीमारी के कारण नहीं हैं, उनसे भी बड़ा कारण है मानसिक विकृतियां, मनोबल की कमी।

जिस व्यक्ति में मैत्री का विकास नहीं होता उस व्यक्ति का मनोबल विकसित नहीं होता। शत्रुता एक जहरीला कीड़ा है, वह जिसके पीछे लगता है, उसे निरन्तर सताता रहता है और तब मनोबल दबता चला जाता है। वह कुंठा पैदा करता है, अवसाद और घृणा पैदा करता है। कुंठा, अवसाद, घृणा और विषण्णता–ये ऐसे भयंकर कीटाणु हैं, जो स्वास्थ्य को लीलते रहते हैं, आदमी बीमार होता चला जाता है।

मन में विषमता, द्वेष, घृणा का भाव जागृत होने पर पेट में अल्सर हो जाता है। गुस्सा आया, मन में बुरा भाव आया, दस्तें लगनी शुरू हो गईं। व्यक्ति सोचता है–खान-पान में कोई गड़बड़ हुई है। अनेक पहलुओं से चिन्तन करता है, पर यह नहीं सोचता कि बीमारी स्वयं उसका मन पैदा कर रहा है।

## कष्ट होता है मन की संयुति से

प्रत्येक घटना के साथ मानसिक प्रभाव का होना सहज है। कष्ट में भी यही होता है। रोग से कष्ट नहीं होता। कष्ट होता है रोग के संवेदन से। एक रोगी तड़प रहा है, चीख रहा है, कराह रहा है और असह्य कष्ट का अनुभव कर रहा है। मर्फिया का एक इन्जेक्शन दिया और उसका सारा कष्ट मिट गया। उसका चिल्लाना, कराहना और रोना–सब बंद हो गए। कहां गया दर्द? क्या दर्द नष्ट हो गया? दर्द नष्ट नहीं हुआ किन्तु मादक द्रव्य के प्रयोग से उसका संवेदन-केन्द्र शून्य कर दिया गया। दर्द संवेदन से होता है, स्थान या रोग से नहीं होता। संवेदन-केन्द्र सक्रिय होता है तो कष्ट होता है। संवेदन-केन्द्र निष्क्रिय होता है तो कष्ट नहीं होता। जब मन संवेदन-केन्द्र के साथ जुड़ता है तब तीव्र वेदना का अनुभव होता है और जब मन

अन्य किसी स्थान पर लगा होता है तो वेदना की अनुभूति नहीं होती। प्रश्न है मन की संयुति का।

## अपानवायु और मनःशुद्धि

अपात्र और मन मे गहरा सम्बन्ध है। अपानवायु का अशुद्ध होना भी बीमारी का कारण बनता है। अपानवायु का मुख्य स्थान नाभि से नीचे और पृष्ठभाग के पार्ष्णिदेश तक है। उसका कार्य है–मल, मूत्र, वीर्य आदि का विसर्जन करना। उसके विकृत होने से मन में अप्रसन्नता होती है और उसकी शुद्धि से प्रसन्नता होती है। नीचे के भाग में होने वाले मस्सा आदि तथा वीर्य-सम्बन्धी रोग अपानवायु दूषित होने से होते हैं। अपानवायु का सम्बन्ध पेट की शुद्धि से है। पेट की अशुद्धता में कोष्ठबद्धता हो जाती है तथा कृमि आदि जीव पैदा हो जाते हैं। उसकी शुद्धि के लिए अश्विनी मुद्रा तथा नाभि पर ध्यान करना श्रेष्ठ प्रयोग है।

शरीर की शक्ति का स्रोत नाभि और गुदा के बीच में है। अपान को जीतने से शक्ति का स्रोत विकसित होता है। घोड़े की शक्ति का रहस्य उसकी गुदा के संकोच-विकोच की मुद्रा है। अपानवायु दूषित हो जाए तो वह सौ बार अश्विनी मुद्रा करने से शुद्ध होती है। मूलबन्ध भी इसमें सहयोगी बनता है। प्राणवायु को बाहर निकालकर यथाशक्ति रोकने से भी अपानवायु शुद्ध होती है।

## साम्य ही स्वस्थता है

हठयोग का अर्थ है–प्राण और अपान का योग। 'ह'–सूर्य और 'ठ'–चन्द्र–'हठ' का अर्थ है–सूर्य और चन्द्र का मिलन अर्थात् रात और दिन का मिलन। रहस्यवादी कविगण ने सूर्य और चांद के मिलन की चर्चा की है। सूर्य और चांद का मिलन नाभि में होता है। मूलबन्ध के साथ' श्वास को नाभि में ले जाने से प्राण और अपान का योग होता है। उसकी निष्पत्ति है–वैषम्य का विनाश। साधु के लिए विधान है कि वह गोचरी से आने के बाद भोजन से पूर्व क्षण-भर विश्रास करे–'वीसमेज्ज खणं मुणी'। तेज चलकर आने से धातुएं विषम बन जाती हैं। उस समय खाया हुआ अमृत भी ज़हर बन जाता है। पं० लालन ने आचार्य श्री से कहा–'साधुओं के बीमार होने का एक कारण उनकी गोचरी है। गोचरी से आते ही जो आहार करते हैं,वे बीमारी को निमंत्रण देते हैं। कठोर परिश्रम के बाद तत्काल खाने और पीने से रोग पैदा हो जाते हैं। धातुओं को सम करने के लिए दस-पन्द्रह मिनट तक विश्राम करना चाहिए। मन की उच्चावच अवस्था में भी नहीं खाना चाहिए। क्रोध, काम-वासना, लोभ आदि मानसिक भावों में किया गया भोजन विष-रूप में बदल जाता है। विषमता आध्यात्मिक दोष ही नहीं है, शारीरिक और मानसिक दोष भी है। समता आध्यात्मिक गुण ही नहीं है, शारीरिक और मानसिक गुण भी है। प्राण और अपान की विषमता यानि शरीर

और मन की अस्वस्थता। प्राण और अपान की समता यानी शरीर और मन की स्वस्थता।

## बीमारी का कारण है भाव

अतीत के भाव भी बीमारी उत्पन्न करते हैं। हमने अतीत में जो संचय किया था, वह भी बीमारी उत्पन्न कर रहा है, पर हमारे पास इसे जानने का कोई साधन नहीं है। यदि यह अध्याय खुल जाए तो चिकित्सा जगत् में बहुत बड़ी क्रांति घटित हो सकती है। भाव-चिकित्सा के द्वारा इस अध्याय को खोला जा सकता है। यह अपने दायित्व की अनुभूति की प्रणाली है। जब व्यक्ति जान जाता है कि इस बात के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है तो बीमारी आधी रह जाती है और जब व्यक्ति ऐसा मानता है कि यह तो किसी दूसरे के कारण है तो वह अपना दायित्व अनुभव नहीं करता और बीमारी की भयंकर वेदना भोगता है। जब वह दायित्व स्वयं पर ओढ़ लेता है तब दूसरों को दोष नहीं देता है, स्वस्थ होने लग जाता है।

## कर्मज बीमारी

आयुर्वेद में रोग के अनेक कारण बतलाए गए हैं। उनमें एक कारण 'कर्म' भी है। बीमारी कर्मज भी होती है। यह कर्मज बीमारी भावगत बीमारी है। भावो के अर्जन और संचय के आधार पर बीमारियां उत्पन्न होती हैं।

जब स्वास्थ्य सम्बन्धी चर्चाएं चलती हैं तब यह जानकारी दी जाती है कि क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए। किस प्रकार के भोजन से शरीर स्वस्थ रह सकता है और किस प्रकार के भोजन से बीमारियां सताती हैं। आज यह अपेक्षा है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह जानकारी दी जाए–किस प्रकार के मनोभाव से हम स्वस्थ रह सकते हैं और किस प्रकार के मनोभावों से हम बीमार पड़ते हैं। यह चिकित्सा के क्षेत्र में एक नयी क्रांति हो सकती है।

## आलोचना का महत्त्व

जो व्यक्ति अपने मनोभावों का शिकार होता है, वह बीमारियों को निमन्त्रित करता है। बीमारी को मिटाने के लिए डॉक्टर को बुलाने से पहले अपना आत्मालोचन कर लेना चाहिए। जैन आगमों में दस प्रायश्चित्त बतलाए गए हैं–उनमें एक है–आलोचना। इसका अर्थ है–आत्मविश्लेषण करना, आत्मनिरीक्षण करना। डॉक्टर से दवा लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु जो बीमारियां मनोभावों से उत्पन्न होती हैं, वे इन दवाइयों से नहीं मिटतीं। हम शरीर को देखते हैं, बीमारी को देखते हैं, डॉक्टर को देखते हैं, दवाइयों को देखते हैं और अपने आपको आश्वस्त कर लेते हैं। पर परिणाम कुछ भी नहीं आता, क्योंकि मनोभाव वैसे-के-वैसे बने हुए हैं। हमें

डॉक्टरी परीक्षण के साथ मनोभावों का भी विश्लेषण करना चाहिए।

## बीमारी के उत्पादक तत्त्व

भाव-चिकित्सा का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है--बीमारी के समय स्वयं का निरीक्षण करना, अपनी भावनाओं का निरीक्षण करना। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि क्रोध, भय, चुगली और निन्दा से बीमारियां पैदा होती हैं। अठारह पापों के सेवन से भिन्न-भिन्न बीमारियां उत्पन्न होती हैं। ये सावद्य योग बीमारियों के उत्पादक हैं। सब यह अनुभव करते हैं कि जब डर लगता है, तब धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है। बीमारी किसने पैदा की ? कीटाणुओं ने या मनोभावों ने ? क्रोध के तीव्र आवेश से हृदय की बीमारी हो जाती है, आदमी मर जाता है। हार्ट की बीमारी किसने पैदा की, कीटाणुओं ने या क्रोध ने? आत्मग्लानि के भाव से क्षय रोग हो जाता है। ऐसी घटनाएं घटती हैं और आज के मनश्चिकित्सक इस दिशा में सजग भी हैं।

## ग्रन्थि-भेद

एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी के प्रति बहुत बुरा व्यवहार किया। पत्नी उस व्यवहार से तिलमिला उठी और एक दिन उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मौत से पति को बड़ा धक्का लगा और वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया। उसे अपने व्यवहार के प्रति इतनी तीव्र आत्मग्लानि हुई कि उसे रोगग्रस्त होना पड़ा। अन्त में उसने अपने डॉक्टर को सब कुछ लिखकर बताया। उसके क्षयरोग का मूल कारण था आत्मग्लानि। डॉक्टर ने उसे योग्य मनश्चिकित्सक के पास भेजा और कुछ ही महीनों में वह स्वस्थ हो गया। न तो कीटाणुओं ने बीमारी पैदा की और न दवाइयों ने बीमारी को मिटाया। बीमारी हुई मनोभाव से और स्वस्थता प्राप्त हुई उस ग्रन्थि के खुलने से।

प्रत्येक बीमारी के समय हम अपने पर भी दृष्टि डालें। यह भाव-चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण सूत्र होगा। इससे बड़ी-बड़ी मनोकायिक बीमारियां ठीक होंगी, स्वास्थ्य-लाभ होगा।

डॉक्टर कहता है कि चीनी की बीमारी का मूल कारण है इन्स्यूलिन का कम हो जाना पर जब हम मनोभावों का विश्लेषण करेंगे तो पता चलेगा--तंत्रिका-तंत्र की खराबी के कारण इन्स्यूलिन कम बनता है और सुगर की बीमारी हो जाती है।

इसी प्रकार भय, घृणा, कपट, क्रोध आदि मनोभाव मन के साथ-साथ शरीर को भी प्रभावित करते हैं।

## भय

भय के कारण मनुष्य में अस्वाभाविक वृत्तियां पैदा होती हैं। सचमुच भय के परिणाम कल्पनातीत होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भी इस पर बहुत प्रकाश डाला है।

भय के बारे में अनेक अनुसंधान हुए हैं। आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक पद्धति में भी इस पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उनका कहना है कि भय से शरीर में ऐंठन पैदा होती है, स्नायुओं पर अस्वाभाविक दबाव पड़ता है, वे कार्य करने में अक्षम बन जाते हैं। यह तो हम स्पष्ट देखते हैं कि भय के समय हमारे शरीर की क्या स्थिति होती है? सारे शरीर में एक प्रकार की सिकुड़न-सी पैदा हो जाती है। कभी-कभी तो आकस्मिक भय से हार्ट फेल तक हो जाता है। शास्त्रों में अकाल-मृत्यु के सात कारणों में से भय को भी एक कारण माना गया है। विज्ञान भी इसका समर्थन करता है।

**घृणा**

घृणा की अभिव्यक्ति को साहित्य में नाक-भौंह सिकोड़ना कहकर बताया गया है। इससे स्पष्ट है, जब हमारे मन में घृणा के भाव आते हैं, तब शरीर में अपने आप तनाव आ जाता है। उससे रक्त-क्रिया में परिवर्तन हो जाता है तथा क्षीणता प्राप्त होती है।

**क्रोध**

यह तो प्रमाणसिद्ध बात है कि क्रोधी मनुष्य के मन में हमेशा तनाव बना रहता है। वह किसी भी कार्य को मुक्तभाव से नहीं कर पाता। वैज्ञानिकों ने क्रोधी मनुष्य के रक्त को निकालकर उसे चूहों के शरीर में प्रविष्ट करवाया तो उनमें विचित्र हरकत पैदा हो गई । यहां तक कि कई चूहों की तो उससे मृत्यु भी हो गई क्योंकि क्रोध से रक्त में विषाणु फैल जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है—माता यदि क्रोध के समय बच्चे को स्तनपान करवाए तो उससे कभी-कभी बच्चे की मृत्यु तक भी हो जाती है।

राजस्थान की घटना है। एक गांव में बहुत शांत प्रकृति का व्यक्ति था। साधारणतया उसे कभी क्रोध नहीं आता था, पर एक दिन अध्यापक ने उसके लड़के को पीट दिया। उसे इस बात का पता चला, वह तीव्र आवेश में आ गया, उसी समय स्कूल की तरफ चल पड़ा। वह थोड़ी ही दूर गया था कि उसे हृदय का दौरा पड़ गया और थोड़े दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गई।

**कपट**

दूसरों को ठगना बहुत प्रिय होता है। उस मनुष्य को होशियार माना जाता है, जो चतुराई से दूसरों को ठग सके। पर इससे मानसिक तनाव बहुत बढ़ जाता है। हम किसी को ठगते हैं, इसका अर्थ होता है कि वस्तु के प्रति हमारे मन में तीव्र आसक्ति है। आसक्ति जब घनीभूत हो जाती है तब मन में तनाव पैदा होता है। प्रेम का ही उदाहरण लें। प्रेमी व्यक्ति की जिसमें आसक्ति हो जाती है, उसे हर क्षण वही-वही

दिखता है, उसकी भूख और नींद भी हराम हो जाती है। इससे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

**शहरी सभ्यता : मानसिक द्वन्द्व**

भौतिक दृष्टि से अमेरिका बहुत समृद्ध देश है पर वहां बीमारियों की संख्या बहुत अधिक है। कहते हैं। वहां पैंतालीस प्रतिशत व्यक्ति मानसरोगी हैं। भौतिक दृष्टि से भारत काफी पिछड़ा देश है पर मानसिक रोगियों की संख्या यहां पन्द्रह प्रतिशत ही है। कारण स्पष्ट है कि यहां मानसिक तनाव उतना नहीं है। शहरी सभ्यता के साथ-साथ मानसिक द्वन्द्व भी बढ़ते हैं। गांवों में यह स्थिति कम रहती है। गांव का खान-पान रहन-सहन अत्यन्त साधारण होता है, फिर भी ग्रामीण लोग शहरी लोगों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं, क्योंकि उनके मानसिक तनाव अत्यन्त अल्प होते हैं।

आजकल तनाव शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। उद्योगीकरण जितना बढ़ रहा है, मानसिक तनाव भी उतने ही बढ़ रहे हैं। एक बार जापान के सहायक राजदूत आचार्यश्री के पास आए। आचार्यश्री ने उनसे प्रश्न किया, 'क्या आप भी कभी शिथिलीकरण—कायोत्सर्ग करते हैं? उन्होंने बताया, 'हमारे देश में तो कायोत्सर्ग बहुत प्रचलित है।' इसी प्रकार अमेरिका तथा जर्मनी के विशेषज्ञों ने भी बताया—कायोत्सर्ग के बिना हमारे देश में तो जीना भी बहुत कठिन है। जापान में विश्वविद्यालय से निकलने वाले अधिकांश विद्यार्थियों को छह महीने के लिए एकांत में इसका प्रशिक्षण लेना आवश्यक होता है। उसके बाद ही वे कर्मक्षेत्र में उतरते हैं।

**समाधान है कायोत्सर्ग**

शारीरिक श्रम से उतना तनाव नहीं बढ़ता जितना मानसिक उलझनों से बढ़ता है और वे मानसिक उलझनें शरीर की अस्वस्थता का मुख्य कारण बनती हैं। मानसिक तनाव के और भी अनेक कारण हैं पर उनके प्रतिकार का प्रमुख साधन है कायोत्सर्ग। मन को सरल बनाए बिना मानसिक उलझन कभी नहीं मिट सकती। मन को सरल बनाना स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने का प्रथम सोपान है। इसे दूसरे शब्दों में ग्रंथिमोक्ष कहा जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान शिविर में अभ्यास करने वाले लोग दवाइयों की आदत से मुक्त हो जाते हैं। उनकी भयंकर बीमारियां मिट जाती हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये बीमारियां कैसे मिट जाती हैं?

इसका कारण है—सारी बीमारियां शरीर की बीमारियां नहीं है। कुछ साइकोसोमेटिक-मनोकायिक बीमारियां हैं। मन से पैदा होने वाली, हिंसा से पैदा होने वाली बीमारियां हैं। ध्यान के द्वारा यह हिंसा का मल, हिंसा का दबाव कम होता है,

प्रतिक्रिया-विरति होती है, मैत्री का विकास होता है तब उनके टिके रहने का आधार ही समाप्त हो जाता है। तर्कशास्त्र का एक नियम है--कारणाभावे कार्याभावः--कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो जाता है।

## दीर्घश्वास का आलम्बन

शारीरिक स्तर पर समूचे कषाय को कम करने के लिए तथा अहं को नष्ट करने के लिए श्वास की मन्दता का प्रयोग करना अपेक्षित है। हमारी साधना में मन्द श्वास के प्रयोग का बड़ा महत्त्व है। हम श्वास को जितना मन्द करेंगे उतनी ही हमारी साधना सफल होगी, विकसित होगी। साधना की दृष्टि से चिन्तन करने पर पता चल जाता है--जब कोई आवेश उतरता है तो वह सबसे पहले श्वास पर उतरता है। हम सामान्यतः एक मिनट में १५-१६ श्वास लेते हैं। क्रोध आते ही श्वास की मात्रा बढ़ जायेगी--२०-२५ हो जायेगी। वासना आते ही श्वास की मात्रा और बढ़ जाएगी। आवेग या आवेश आते ही श्वास तेज चलने लग जाएगा। यदि हम श्वास की मात्रा को पहले ही घटा दें तो कषाय या आवेश को उतरने का मौका ही नहीं मिलेगा। श्वास की मन्दता के लिए अभ्यास करना होगा। अभ्यास के पहले दिन व्यक्ति ऐसा करे कि वह पन्द्रह सेकेण्ड में एक श्वास ले, एक मिनट में चार श्वास ले--आठ सेकेण्ड में श्वास और आठ सेकेण्ड में निश्वास। वह पांच-दस मिनट तक अभ्यास करे। दस-बीस दिन ऐसा करे, फिर आगे बढ़े। धीरे-धीरे इस स्थिति में आ जाए कि एक मिनट में एक श्वास। इस स्थिति तक पहुंचने में एक वर्ष भी लग सकता है, दो वर्ष भी लग सकते हैं और अधिक समय भी लग सकता है। अभ्यास की निरन्तरता होने पर यह अभ्यास फल देने लगता है। एक बात ध्यान में रहे--बल-प्रयोग के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न न हो। स्वाभाविक रूप से जो घटित होता है, उसे घटित होने दें। एक मिनट में एक श्वास-निश्वास की स्थिति यदि दिन में एक-दो घंटे तक हो जाए तो हम इन खतरों से बाहर हो जाएंगे। तब न क्रोध का प्रश्न रहेगा और न आवेश का प्रश्न ही उभरेगा। अहंकार का प्रश्न भी समाप्त हो जाएगा। इसी स्थिति में ही मनोभाव से उत्पन्न होने वाली शरीर की विकृति का समाधान सहज संभव हो पाएगा।

# मन की शक्ति

## शक्ति की साधना

संसार में सबसे पहली और सबसे अधिक जरूरत है शक्ति की। शक्ति हमारे जीवन की, समाज और व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है। शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होता है तो शरीर की शक्ति अधिक होती है। किन्तु केवल शरीर की शक्ति से ही कोई व्यक्ति शक्तिशाली नहीं होता। शरीर से अधिक शक्तिशाली होता है मन। जिसका मन दुर्बल होता है, उसका शरीर शक्तिशाली होने पर भी बहुत भला नहीं होता।

शारीरिक शक्ति के लिए भी मन की शक्ति का होना बहुत जरूरी है। ऐसे लोग भी होते हैं, जो शरीर से सुदृढ़ और शक्तिशाली हैं पर वे छोटी-सी अप्रिय घटना से विचलित हो जाते हैं, मनोबल टूट जाता है। मन का बल टूटता है तो साथ-साथ शरीर का बल भी टूट जाता है। मन मजबूत होता है तो शरीर भी साथ देता है। जैसे ही मन दुर्बल होता है, शरीर की शक्तियां क्षीण होने लग जाती हैं। शारीरिक शक्ति भी हो, मन की शक्ति भी हो तो आदमी दस आना शक्तिशाली होता है। भावना की शक्ति का योग होता है तब आदमी सोलह आना शक्तिशाली होता है। शरीर की शक्ति, मन की शक्ति और भावना की शक्ति होने पर ही आदमी पूरा शक्ति-सम्पन्न होता है। यदि हम केवल शरीर को साधने का ही प्रयत्न करें, पौष्टिक भोजन करें, रसायनों का सेवन करें, शरीर को खूब अच्छी तरह पालें-पोषें और मन की ओर ध्यान न दें, भावना की ओर ध्यान न दें तो वह पोषण केवल मांस और रक्त बढ़ाने वाला हो सकता है, शरीर को शक्तिशाली बनाने वाला भी हो सकता है, पर वह व्यक्ति को शक्तिशाली बनाने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि हमारा व्यक्तित्व केवल शरीर का व्यक्तित्व नहीं है। उसका संबंध मन और भावना से भी है।

## शक्ति-सुरक्षा का उपाय

शक्ति का संचय और शक्ति की सुरक्षा का एक उपाय है तनाव से बचना। जो तनाव से बचना नहीं जानता, वह मानसिक दृष्टि से शक्तिशाली नहीं हो सकता और शारीरिक दृष्टि से भी उसे काफी कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। शरीर का तनाव शरीर

की शक्ति को क्षीण करता है। मानसिक तनाव मन की शक्ति को और भावनात्मक तनाव आत्मा की शक्ति को क्षीण करता है। जब तक शक्ति को क्षीण करने वाले तत्त्वों का हमें ज्ञान नहीं होगा तब तक हम उन तत्त्वों से निपट नहीं पाएंगे और उनसे निपटे बिना शक्ति का संचय नहीं हो सकेगा।

**संदर्भ सैनिक का**

जो समाज में जीता है उस व्यक्ति के लिए शक्ति जरूरी है। जो सेना में है और मोर्चे पर बैठा है, उसके लिए शक्ति की और अधिक आवश्यकता है। वह केवल अपने लिए ही शक्ति का संवर्धन नहीं करता, किन्तु समूचे राष्ट्र के हितों की सुरक्षा के लिए अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहता है। लोग यही मानते हैं कि शक्ति को वढ़ाने का साधन है पौष्टिक भोजन, आसन-व्यायाम आदि । किंतु जब तक मन की उलझनों को मिटाने या आवेगों पर नियंत्रण करने का उपाय हस्तगत नहीं होता, तब तक शक्ति का विकास जितना चाहिए उतना नहीं होता। इसलिए आज सबसे बड़ी मांग है कि सैनिक भी ध्यान में प्रवेश करें। एक सैनिक के लिए अनुशासन आवश्यक होता है, एकाग्रता और अभयवृत्ति आवश्यक होती है। इसी प्रकार उसके लिए निराशाओं और घरेलू चिन्ताओं से मुक्त होने की आवश्यकता होती है। केवल शरीर से शक्तिशाली आदमी चिन्ता से मुक्त नहीं हो सकता, विषाद और निराशा से मुक्त नहीं हो सकता। वह मन की उलझनों से भी मुक्त नहीं हो सकता।

**समस्या है चंचलता**

एकाग्रता और मन की निर्मलता का एकमात्र उपाय है--ध्यान। चंचलता सारी समस्याएं पैदा करती हैं। जिस व्यक्ति का मन चंचल होता है, वह किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं होता। एकाग्रता के अभ्यास से अनुशासन सहज ही आ जाता है। बाहर से लादा हुआ अनुशासन सहज नहीं होता। उस स्थिति में जब कोई दूसरा देखता है तब वह अनुशासन पाला जाता है और जब कोई नहीं देखता तब अनुशासन को पालने की जरूरत प्रतीत नहीं होती है। किन्तु जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास करता है, वह अनुशासन का पालन करेगा, फिर चाहे कोई देखे या न देखे। अनुशासन का पालन उसका धर्म बन जाता है।

**प्रगति का रहस्य**

लोग कहते हैं--जापान ने बहुत प्रगति की है। कारण क्या है? उसका मूल कारण है एकाग्रता। जापानी लोगों ने ध्यान के द्वारा बहुत लाभ उठाया है। वे लोग जबसे ध्यान करने लगे हैं, उन्होंने शरीर-बल पाया है, मनोबल पाया है। जापान में अनेक प्रयोग चलते हैं। ध्यान के विशेष प्रयोग करने वाला व्यक्ति मजबूत ईंटें हाथ

में लेता है और उनको चूर-चूर कर देता है। एक निहत्थे आदमी में यह कला ध्यान के द्वारा विकसित हुई है। वह शस्त्र वाले व्यक्ति के साथ लड़ सकता है और विजय पा लेता है।

जापानी लोगों ने ध्यान के द्वारा अनुशासन पाया है। इतना अनुशासन कि जीवन का विसर्जन हंसते-हंसते कर देते हैं। वे हड़ताल करते हैं पर काम बंद नहीं करते। हड़ताल का प्रतीक है हाथ पर काली पट्टी बांध लेना। यह क्रम अनेक दिन तक चलता है पर काम कभी बंद नहीं होता। यह अनुशासन कैसे विकसित हुआ? काम करने की प्रखरता कहां से आई ? यह सब एकाग्रता और ध्यान से प्राप्त हुआ है।

जिस राष्ट्र के नागरिक ध्यान नहीं करते, वे कभी शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकते। आज का प्रत्येक वैज्ञानिक, जो गहराइयों में डुबकियां लगाता है, कम ध्यानी नहीं है। बिना ध्यान या एकाग्रता के नए तथ्य उद्घाटित नहीं होते। जब कोई भी व्यक्ति गहरी समस्या में उलझता है तब वह ध्यान की स्थिति में चला जाता है। गहरी एकाग्रता सधे बिना सूक्ष्म सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। शक्ति का विकास और एकाग्रता का विकास ध्यान के द्वारा ही हो सकता है।

### तीन बाधाएं

हमारे पास दो शक्तियां हैं—एक है ज्ञान की शक्ति और दूसरी है क्रिया की शक्ति। इन शक्तियों के विकास में तीन बाधाएं हैं—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और प्रभाव की बीमारी। जब शरीर बीमार होता है तब ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तियां सो जाती हैं, ठंडी पड़ जाती हैं। इससे भी खतरनाक है मन की बीमारी। जब मन आहत होता है, उसे कोई आघात लगता है तब पैर वहीं रुक जाते हैं। प्रभाव की बीमारी भी कम घातक नहीं होती। एक आदमी बहुत अच्छा काम करता है। कोई उसे कह देता है—गधे हो, बेवकूफ हो। यह भी कोई काम करने का तरीका है? इतना सुनते ही उसके मन में आग सुलग जाती है, काम करने की भावना टूट जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती है। जो व्यक्ति सहसा दूसरे के प्रभाव में आ जाता है, वह अपनी शक्ति से वंचित हो स्वयं को शून्य सा अनुभव करने लगता है।

### शरीर और मन का सन्तुलित प्रशिक्षण

शक्ति का सबसे बड़ा रहस्य है—शरीर और मन—दोनों का एक साथ रहना। शरीर अलग चलता है, मन अलग चलता है, शरीर एक काम करता है, मन दूसरा काम करता है तो शक्तियां क्षीण होती हैं। हमारा अभ्यास ही नहीं है कि मन शरीर का साथ दे या शरीर मन का साथ दे। पर सैनिकों को इसका अभ्यास कराया जाता है कि शरीर और मन साथ-साथ रहे। एक प्रकार से ध्यान की पहली अवस्था उन्हें

सीखनी ही पड़ती है। यदि ऐसा नहीं होता तो उनका तालबद्ध चलने का अभ्यास चल नहीं सकता। सैनिकों के चलने का क्रम, खड़े रहने का क्रम, काम करने की चुस्ती--ये सभी सामान्य नागरिकों से भिन्न होती हैं। शारीरिक प्रशिक्षण के साथ यदि अन्तर्मन का प्रशिक्षण और जुड़ जाए तो कौशल में बहुत अभिवृद्धि हो सकती है। उनकी योग्यता और चुस्ती बढ़ जाती है। उनकी सहन-शक्ति बढ़ जाती है। शरीर का बल कितना ही हो, यदि मन की एकाग्रता नहीं होती है तो सहन करने की शक्ति भी नहीं होती। बड़े से बड़ा सैनिक शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है पर यदि उसका मन दुर्बल होता है तो प्रतिकूल परिस्थिति में घुटने टेक देता है। युद्ध के मैदान में कभी हार होती है और कभी जीत। जिसका मनोबल नहीं टूटता, वह हारकर भी फिर जीत जाता है।

## दुर्बल कौन ?

शरीर की शक्ति का होना एक बात है और मन की शक्ति का होना दूसरी बात है। जिसने दूसरों को जीता और अपने आपको नहीं जीता, वह दुर्बल है। हजारों पर नियंत्रण पाने वाला यदि इन्द्रियों पर, मन , इच्छाओं और कामनाओं पर नियंत्रण नहीं पाता है तो वह शक्तिशाली नहीं माना जा सकता, वीर योद्धा नहीं हो सकता। वीर वह होता है, जो अपने आप पर विजय पा लेता है। जितनी शक्ति एक सैनिक को युद्धस्थल में चाहिए, उससे अधिक शक्ति एक आध्यात्मिक योद्धा में चाहिए। अपनी इन्द्रियों को, मन और इच्छाओं को जीतना बहुत बड़ी लड़ाई है। जीवन की इस लड़ाई में वही सफल हो सकता है, जो ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास करता है। मन का बल बहुत बड़ा बल होता है और वह तभी टिकता है जब मन एकाग्र हो, स्थिर हो, निर्मल हो।

## प्रश्न है पटुता का

हम मन को पटु बनाएं, मन को कुशल बनाएं और उसे इस प्रकार प्रशिक्षित करें कि उसकी क्षमता विकसित हो जाए और ध्यान की स्थिति तक पहुंचने की योग्यता संपादित हो जाए। मन को पटु बनाने के लिए अनेक अभ्यास कराए जाते हैं। उस अभ्यास के चार चरण हैं और प्रत्येक चरण का एक-एक युगल है।

## अल्पग्राही : बहुग्राही

पहला क्रम-युगल है—अल्पग्राही, बहुग्राही। सबसे पहले व्यक्ति ऐसा अभ्यास करे कि वह थोड़े को पकड़ सके, थोड़े समय तक पकड़ सके, यह अल्पग्राही है। फिर वह बहुत को पकड़ने का, लम्बे काल तक पकड़े रहने का अभ्यास करे। यह बहुग्राही है।

## एकविध : बहुविध

दूसरा क्रम-युगल है—एकविधग्राही, बहुविधग्राही। पहले एकविध वस्तुओं को

देखने का अभ्यास करना चाहिए। उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होता है, उसका विवेक करना चाहिए। फिर एक साथ अनेक वस्तुओं को देखना प्रारंभ करना चाहिए। धीरे-धीरे उसमें पटुता आती है और साधक एक ही दृष्टिपात में अनेकविध वस्तुएं देखता ही नहीं है, उन्हें ग्रहण भी कर लेता है। अवधान में 'सप्तसंधान' का प्रयोग करने वाले साधक एक साथ, एक क्षण में सात वृत्तान्तों को स्मृति में रख सकते हैं। यह बहुविधग्राही का उदाहरण है। इसमें एक-एक इन्द्रिय की पटुता को बढ़ाया जाता है।

**क्षिप्रग्राही : चिरग्राही**

तीसरा क्रम-युगल है—क्षिप्रग्राही, चिरग्राही। मन को ऐसा अभ्यास दिया जाता है कि वह बाह्य पदार्थ को तत्काल ग्रहण कर लेता है। एक दृष्टि डाली और तत्काल सब कुछ ग्रहण कर लिया। यह है—क्षिप्रग्राही विधि। चिरग्राही वह क्षमता है, जो चिरकाल तक उस गृहीत वृत्तान्त को स्मृति-पटल पर स्थायी रख सकती है।

**अनिःसृतग्राही : निःसृतग्राही**

चौथा क्रम-युगल है—अनिःसृतग्राही और निःसृतग्राही। अनिःसृतग्राही विचित्र क्षमता है। यह मन की अद्‌भुत शक्ति है, जो थोड़ी-सी चीज के आधार पर समूची चीज का विश्लेषण कर देती है, हेतु या आधार लिए बिना ही वस्तु का ज्ञान कर लेती है। यह क्षमता भी अभ्यास से वृद्धिंगत होती है। निःसृतग्राही वह क्षमता है, जो हेतु के आधार पर विषय का ज्ञान कर लेती है।

प्रत्येक व्यक्ति का मन इन शक्तियों को संजोए हुए है। कुछ व्यक्तियों ने अभ्यास किया, मन को पटुता दी, उसे विकसित कर लिया। कुछ व्यक्तियों ने प्रयत्न नहीं किया, उनका मन विकसित नहीं हो सका।

हम मन की शक्तियों से परिचित नहीं हैं। उसमें असीम शक्तियां हैं। हम बहुत कम जानते हैं। थोड़ा-बहुत जानते हैं, उसमें भी आश्चर्य होता है। यदि हम मन की पूरी शक्तियों से परिचित हो जाएं, उन्हें विकसित कर लें तो न जाने क्या हो सकते हैं।

**दो स्थितियां**

मन की दो स्थितियां हैं—प्रशिक्षित और अशिक्षित। अशिक्षित मन अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता। शक्तियां शक्तियां मात्र रह जाती हैं। आदमी सोया का सोया रह जाता है। वह कभी जागता ही नहीं। जागरण के बिना शक्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। जब मन एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित हो जाता है तब वह आश्चर्यकारी घटनाओं को घटित करने में सक्षम हो जाता है। मन के प्रशिक्षण की

एक पद्धति है। यह कोई आध्यात्मिक घटना नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र में पूर्ण निष्ठावान् नहीं होते, जिनका आचरण बहुत ऊंचा भी नहीं होता, वे भी मानसिक शक्ति का जागरण कर लेते हैं क्योंकि यह तो एक पद्धति का अभ्यास है। कोई भी इसे कर सकता है। शरीर की लाघवता को घटित किया जा सकता है। शरीर को हल्का बनाना पद्धति-सापेक्ष है। आठ सिद्धियों में एक सिद्धि है–अणिमा। इसके अभ्यास से शरीर हल्का हो जाता है। इतना लघु कि वह चाहे जहां टिक सकता है, ठहर सकता है। यह योग की एक प्रक्रिया है किन्तु यह भी कोई आध्यात्मिक प्रक्रिया नहीं है। जितनी सिद्धियां हैं, वे सब अध्यात्म से नीचे रह जाती हैं। ये सिद्धियां मानसिक शक्ति के जागरण और मांसपेशियों के समुचित व्यायाम के द्वारा उपलब्ध होती हैं।

**मानसिक शक्ति : अभ्यास की पद्धति**

मन की शक्ति अभ्यास के द्वारा जागृत होती है। एक है अभ्यास और एक है अभ्यास की पद्धति। अभ्यास की पद्धति प्राप्त हो जाए और बार-बार अभ्यास किया जाए तो उस दिशा में विकास हो जाता है। अभ्यास की हजारों पद्धतियां हैं, जिनसे मन को शिक्षित किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति सब पद्धतियां साधे, यह संभव नहीं है। एक व्यक्ति ने सोचा कि मैं बिजली को जलाने और बुझाने की शक्ति प्राप्त करूं। उसने इस दिशा में अभ्यास प्रारंभ किया। संकल्प बढ़ा। वह दूर बैठा ही बिजली जलाने-बुझाने में सफल हो गया। इंसको हम कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं दे सकते। यह केवल मानसिक शक्ति का एक प्रयोग-मात्र है। अमुक धारा में मन का प्रवाह ले जाया गया और वह सध गया। एक व्यक्ति ने प्रयोग किया–मैं मन की शक्ति के द्वारा किसी को वरदान और किसी को शाप दूंगा, किसी पर अनुग्रह और किसी पर निग्रह करूंगा। उसी धारा में मन को प्रवाहित किया और उसे वह शक्ति प्राप्त हो गयी। उसमें वरदान देने की शक्ति भी आ गयी और शाप देने की शक्ति भी आ गयी।

एक धनुर्धर को अपनी धनुर्विद्या पर गर्व था। एक व्यक्ति के समक्ष वह अपनी प्रशंसा कर रहा था। उस व्यक्ति ने कहा–'भाई ! तुम प्रसिद्ध धनुर्धर हो। पर मेरे गुरु की तुलना में तुम नहीं आ सकते।' वह गुरु को देखने गया। धनुर्विद्या का चमत्कार दिखाने की प्रार्थना की। गुरु उसे एक पहाड़ की चोटी पर ले गया। गुरु ने आकाश को एकटक देखना प्रारंभ किया। आकाश की ऊंचाई पर पक्षियों का एक झुण्ड उड़ रहा था। वह उसकी दृष्टि की परिधि में आ गया। ज्योंही उसकी दृष्टि पक्षियों पर पड़ी, सारे पक्षी जमीन पर आ गिरे। उसने न कोई प्रत्यंचा तानी और न कोई तीर साधा। केवल अनिमेष प्रेक्षा से वह सध गया। यह थी बिना धनुष और बाण की धनुर्विद्या। अनिमेष प्रेक्षा से यह सब कुछ हो सकता है। उड़ते पक्षियों को गिराया जा

सकता है, चलते वाहनों को रोका जा सकता है।

## समान है पद्धति

ये आध्यात्मिक नहीं, केवल मानसिक शक्ति के प्रयोग हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति को भी मानसिक शक्ति का जागरण करना होता है। चमत्कार दिखाने वाले व्यक्ति को भी मानसिक शक्ति का जागरण करना होता है। मानसिक शक्ति का जागरण दोनों के लिए नितान्त जरूरी है। मानसिक शक्ति के जागरण के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। दिशाएं भिन्न हो जाती हैं, ध्येय भिन्न हो जाते हैं किन्तु जागरण की पद्धति में कोई अन्तर नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि सदाचारी व्यक्ति के मानसिक शक्ति का जागरण हो जाता है और असदाचारी व्यक्ति के वह नहीं होता। जिसका अच्छा ध्येय है, उसके मानसिक शक्ति का विकास होता है और जिसका बुरा ध्येय है, उसके मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता—यह नियम नहीं है। शत्रुओं को नष्ट करने के लिए किसी ने विद्या की साधना की तो वह भी सिद्ध हो गयी और किसी ने दूसरों की भलाई या कल्याण के लिए विद्या की साधना की तो वह भी सिद्ध हो गयी।

## मानसिक शक्ति : प्राणशक्ति

आत्मा को देखने के दो शक्तिशाली अस्त्र हैं– मानसिक शक्ति और प्राणशक्ति। एक अस्त्र है मन का और दूसरा है प्राण का । मानसिक शक्ति का जागरण और प्राण का संचय– ये दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं । जब मानसिक योग और प्राणिक योग सधता है तब आध्यात्मिक शक्ति की बात सहज सध जाती है । मन को शक्तिशाली बनाए बिना, प्राण की शक्ति को विकसित किए बिना यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करना चाहे, आत्मा को देखना-जानना चाहे तो यह चाह मात्र हो सकती है, उसे सफलता कभी नहीं मिल सकती।

## अध्यात्म की इयत्ता

आध्यात्म का मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है, जहां अपवित्र मन, वचन और कर्म के लिए कोई अवकाश नहीं है। नितान्त निर्मल मन, निर्मल वचन और निर्मल कर्म ही अध्यात्म-जगत् की अपेक्षा है। यही इसकी इयत्ता है। अन्य क्षेत्रों में यह नियामकता नहीं है।

## जागरण प्रज्ञा का

यह निश्चित तथ्य है कि जब तक अचेतन मन जाग नहीं जाता, तब तक विशेष कार्य नहीं किया जा सकता। बुद्धि के स्तर पर जो कार्य होते हैं, वे महत्त्वपूर्ण अवश्य होते हैं, पर आज बहुत सारी संभावनाएं जो प्रकट हुई हैं, वे बुद्धि के स्तर

पर होने वाली घटनाएं नहीं हैं। वे सारी अचेतन मन या अन्तःकरण से संबंधित हैं। आइंस्टीन से पूछा गया--सापेक्षवाद के सिद्धांत की खोज कैसे की गई? उन्होंने कहा—मैं नहीं जानता। मैंने उसका कभी चिन्तन ही नहीं किया था। अचानक यह बात मेरी प्रज्ञा में अवतरित हुई, अकस्मात् विस्फोट हुआ और सापेक्षवाद का अवतरण हो गया। कभी-कभी जो रहस्य चिन्तन-मनन से उद्घाटित नहीं होते, वे अकस्मात् अभिव्यक्त हो जाते हैं। स्वप्न में भी उनका अवतरण हो जाता है। स्वप्न में ऐसे अनेक फार्मूले, नियम ज्ञात हुए हैं, जो वर्षों के चिन्तन और मनन के बाद नहीं हो पाए थे। इस प्रकार आकस्मिक ढंग से होने वाले रहस्योद्घाटनों का मूल स्रोत हमारे भीतर है। वह है हमारी प्रज्ञा। वह है अन्तर्-चेतना। जो खोज बुद्धि से नहीं होती, वह अन्तःप्रेरणा से, प्रज्ञा से हो जाती है।

### जागरण का परिणाम

अचेतन मन का जागना जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अचेतन मन का जागरण, हमारे जीवन में शक्तियों के स्रोत को खोल देता है। ऐसे स्रोत, जिनकी हम इस जागृत मन से कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। जिन शक्तियों का हम कभी स्वप्न भी नहीं ले सकते, वे शक्तियां जाग जाती हैं, उनके द्वार खुल जाते हैं। इसी का नाम है—योग। योग के द्वारा उसको खोल देना है, जिसके पार ऐसी शक्तियां भरी पड़ी हैं, जिसे हम ईश्वरीय, मोक्षीय या कुछ भी कह सकते हैं। मानवीय जीवन में रहस्योद्घाटन हो सकता है। वह हो सकता है इस स्थूल मन को सुलाने के द्वारा। यह बच्चा जब तक नहीं सोएगा तब तक कोलाहल करता रहेगा। बच्चे को सुलाना बड़ा कठिन है। समझदार आदमी को सुलाया जा सकता है। यह स्थूल मन इतना हठी और आग्रही है कि इसे सुलाना मुश्किल है। अचेतन मन को जगाकर ही इसे सुलाया जा सकता है।

अचेतन मन को जगाने और स्थूल मन को सुलाने का साधन है योग। हम योग का सहारा लेते हैं। वह सहारा है--शरीर का शिथिलीकरण (शरीर को शान्त करना), श्वास को शान्त करना, मौन होना--ये तीनों जब होते हैं तब स्थूल मन सो जाता है। हम घण्टा भर कोई काम करते हैं, उसके बाद पांच-दस-बीस सेकेण्ड के लिए श्वास को बन्द कर दिया या किसी दूसरे काम में लग गए, पांच मिनट बाद फिर आधा मिनट के लिए श्वास को बन्द कर दिया, अगर ऐसा दिन में दस-बीस बार दोहरा देंगे तो एक दिन वहां पहुंच जाएंगे, जहां हमें पहुंचना है। यानी स्थूल मन को थोड़ा-थोड़ा सुलाने का अभ्यास हो जाएगा। हम बीस सेकेण्ड के लिए श्वास नहीं लेते, इसका मतलब है—स्थूल मन बीस सेकण्ड के लिए सो जाता है और वह सोता है तब अन्तर्मन एकदम जागृत होने के लिए उत्सुक हो जाता है। एक मिनट के लिए

इस अभ्यास में चले जाना पर्याप्त है। दस-बीस मिनट श्वास रोकने की कोशिश नहीं करनी है और वैसा करना मूर्खता की बात होगी, किन्तु आधा मिनट, पांव मिनट, इसकी पांच-दस आवृत्तियां करते चलें तो रास्ता बनता चला जाएगा।

## जीवन विज्ञान का अर्थ

जागृत मन बहुत कम शक्ति-संपन्न है। अन्तर्मन या सूक्ष्म मन बहुत शक्तिशाली है। वासनाएं, धारणाएं, मान्यताएं, संस्कार और वृत्तियां जागृत मन में नही हैं। अचेतन मन से सब कुछ प्रवाहित होता है। जागृत मन उस प्रवाह को अभिव्यक्ति देने वाला है, क्रियान्वित करने वाला है। ऐसा प्रतीत हो रहा है—आज जागृत मन तो बहुत शक्ति संपन्न होता जा रहा है और सूक्ष्म मन या अन्तःकरण कमजोर होता जा रहा है। जागृत मन पूरा काम कर रहा है, सूक्ष्म मन सोया पड़ा है। उसे काम करने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा है। आदमी में इतना तनाव है, इतना प्रमाद है कि सूक्ष्म मन को कार्य करने का मौका ही नहीं मिलता। जीवन विज्ञान की प्रक्रिया के आधार पर कुछ नियम खोजे गए हैं, जिनके आधार पर अन्तःकरण को, शुद्ध चेतना को, अचेतन मन को जगाया जा सकता है। न केवल जगाया जा सकता है किन्तु उसका परिष्कार भी किया जा सकता है।

## शक्ति-जागरण के सूत्र

शक्ति-जागरण का अभ्यास जटिल नहीं है। उसमें कुछेक तथ्य अपेक्षित होते हैं। पहला तथ्य है—शिथिलीकरण। प्रत्येक शक्ति के जागरण में इसका महत्त्वपूर्ण योग है। तनाव की स्थिति में कोई भी शक्ति जागृत नहीं हो सकती। मस्तिष्क में तनाव है, शरीर में तनाव है तो यह स्थिति शक्ति-जागरण में बाधक होती है। शिथिलीकरण अर्थात् प्रवृत्ति का विसर्जन। जब प्रवृत्ति का विसर्जन होता है तब भीतरी शक्तियों को जागने का अवसर मिलता है। भीतरी शक्तियां जागना चाहती हैं किन्तु उनके सामने प्रवृत्ति का अवरोध आ जाता है। वे जाग नहीं पातीं। जब प्रवृत्ति का अवरोध समाप्त होता है तब वे जाग जाती हैं। जो व्यक्ति कायोत्सर्ग साध लेता है, वह शक्ति-जागरण का बीजमन्त्र पा लेता है।

दूसरा तथ्य है—शक्ति के अपव्यय से बचना। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति शक्ति का अपव्यय करता है। आवश्यकता हो या न हो आदमी सोचता रहता है, चिन्तन करता रहता है। मस्तिष्क को एक क्षण भी विश्राम नहीं मिलता। सोते हैं तब भी वह चलता है। स्वप्न आते हैं, मस्तिष्क सक्रिय रहता है। यह शक्ति का अपव्यय है।

हम मानते हैं कि यदि मन गतिशील रहेगा, वाणी और शरीर गतिशील रहेंगे तो विकास होगा। शरीर गतिशील होगा तो शक्ति बढ़ेगी, मन गतिशील होगा तो चिन्तन की शक्ति विकसित होगी, बुद्धि बढ़ेगी और वाणी गतिशील होगी तो वक्तृत्व का विकास

होगा। यह उल्टी प्रक्रिया चल रही है। वास्तविकता यह है–जब मन, वाणी और काया का अप्रयोग होता है तब शक्ति का जागरण संभव बनता है। इनकी क्रियाशीलता में शक्ति कभी नहीं जाग सकती। इनसे कम काम लेना चाहिए, तभी शक्ति का जागरण हो सकता है। इनसे काम लेना ही नहीं चाहिए, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु इनसे कम काम लेना श्रेष्ठ है।

हमारे नाड़ी-संस्थान के दो भाग हैं-एक स्वतःचालित और दूसरा है–परतःचालित। हम स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान को कम काम में लेते हैं। परतःचालित नाड़ी-संस्थान का उपयोग अधिक करते हैं इसलिए हमारी आन्तरिक शक्तियां जागृत नहीं होतीं। नाड़ी-संस्थान जितना सक्रिय रहता है उतनी ही हमारी आन्तरिक शक्तियां दबी रह जाती हैं। जब हम उस नाड़ी-संस्थान को अनुशासित करते हैं, उसकी सक्रियता को कम करते हैं तब आन्तरिक सक्रियता, अचेतन मन की सक्रियता अपने-आप बढ़ जाती है। अचेतन मन की सक्रियता बढ़ने का अर्थ है--शक्ति का जागरण।

तीसरा तथ्य है–प्राणधारा को निश्चित दिशा में बहाना। जब हम प्राणधारा को एक निश्चित दिशा में प्रवाहित करते हैं तब एक बिन्दु ऐसा आता है, जहां दिशा उद्घाटित हो जाती है। साधक चाहता है कि वह अज्ञात देश को जाने। वह प्रयोग करता है। जिस दिशा में वह देश स्थित है, उस दिशा में वह अपनी प्राणधारा को प्रवाहित करना प्रारंभ कर देता है। पूरी तन्मयता और एकाग्रता के साथ वह ऐसा करता है। कुछ दिनों तक यह प्रयोग चलता है। संकल्प जब पूर्ण स्थिर हो जाता है तब एक दिन वह अज्ञात देश उसके लिए ज्ञात बन जाता है। वह अज्ञात स्थान साक्षात् हो जाता है।

एक है ज्ञात स्थान को जानना। व्यक्ति ने अपना घर देखा है, जाना है। वह घर से हजारों मील दूर चला गया। वह मन को एकाग्र कर प्राणधारा को उस घर की दिशा में नियोजित करे। कुछ ही समय के पश्चात् उसे अपना घर प्रत्यक्षतः दिखने लग जाएगा। वहां की सारी हलचल प्रत्यक्ष हो जाएगी।

## शक्ति की दिशा

जो व्यक्ति परम की साधना में लग जाता है, वह आत्मा की साधना में लग जाता है, उसके लिए आत्मा ही ध्येय है, आत्म-साक्षात्कार ही उद्देश्य है। वह अपनी सारी ऊर्जा और प्राणशक्ति को एक ही दिशा में, आत्मा की खोज में प्रवाहित कर देता है। यह वास्तविकता है–जो भी अध्यात्म योगी हुए हैं, आत्मा की खोज करने वाले हुए हैं, वे बहुत चामत्कारिक नहीं हुए हैं। चमत्कारों के जाल में वे कभी नहीं फंसे। जो अध्यात्म योगी नहीं हुए हैं, मध्यवर्ती मार्ग में रहे हैं, वे चामत्कारिक हुए हैं। वरदान और शाप की शक्ति को प्राप्त करने में ही उन्होंने अपनी साधना नियोजित की। किसी

का भला कर देना और किसी का बुरा कर देना–यही सफलता का मानदण्ड बन गया। ऐसे लोग सामान्य जनता में आतंक उत्पन्न कर देते हैं। भय से प्रताड़ित लोग ऐसे व्यक्तियों के भक्त बन जाते हैं। किन्तु जिन्होंने चमत्कारों में पड़कर, प्रदर्शन को ही सब कुछ मान लिया, उन लोगों को दुःख का जीवन जीना होता है। ऐसे लोग अन्त समय में कहते हैं--'कोई भी इस मार्ग को न अपनाए। यह निकृष्ट मार्ग है।'

ठीक यही दशा उन लोगों की है, जो तुच्छ शक्तियों के लिए अपनी मानसिक शक्ति नियोजित करते हैं। वे छोटी-छोटी सिद्धियों में उलझकर अपने महान् लक्ष्य को भुला बैठते हैं।

कुछ व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चलने में रुचि रखते हैं और कुछ चामत्कारिक साधना को अपना ध्येय बनाते हैं। दोनों की दो दिशाएं हैं। एक दिशा मंजिल तक पहुंचाती है और एक दिशा भटकाती है। एक आत्मगामी दिशा है और एक अनात्मगामी। एक आन्तरिक यात्रा की दिशा है और एक बहिर् भटकाव की दिशा है। मन की शक्ति का जागरण दोनों दिशाओं में होता है। केवल अन्तर है--उस शक्ति के उपयोग का।

### दर्शन अनन्य का

अध्यात्म की साधना परम की साधना है। उसमें मन की शक्ति का उपयोग अध्यात्म की दिशा में करना होता है। आत्म-साक्षात्कार से बड़ी कोई उपलब्धि नहीं है। जो साधक परम को पकड़ लेता है, वह तुच्छ में नहीं उलझता। जो अनन्यदर्शी है, वह दूसरे को नहीं देखता, स्वयं को ही देखता है। जो अनन्यदर्शी है, वह दूसरे में रमण नहीं करता, स्व में ही रमण करता है। जो अनन्यदर्शी होता है, वह दूसरे को नहीं चाहता, परम को ही चाहता है। जो अनन्य में रमण करता है, दूसरे में रमण नहीं करता, वह अनन्य को देख लेता है। वह अनन्यदर्शी हो जाता है।

अनन्य का अर्थ है--आत्मा। अनन्यदर्शन की प्रक्रिया आत्मदर्शन की प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य है--केवल आत्मा को देखना, और किसी को नहीं देखना।

### शक्ति-जागरण और गुप्ति

आत्मा को देखने के लिए मन की शक्ति का जागरण अत्यन्त अपेक्षित है। हमारा ध्येय स्पष्ट है किन्तु उस ध्येय की पूर्ति के लिए मानसिक शक्ति का स्फोट आवश्यक है। मन की शक्ति को मनोगुप्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति के द्वारा जगाया जा सकता है। डॉक्टर की भाषा में पूर्ण विश्राम का अर्थ होता है--बिस्तर पर लेटे रहना। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार उसका अर्थ है--मन, वाणी और शरीर--तीनों को सुला देना। जहां डॉक्टर केवल शरीर को सुलाता है, वहां अध्यात्म योगी तीनों को सुला देता है। डॉक्टर कभी-कभी मौन रहने की बात कहता है। मन को सुलाने की बात उसे प्राप्त भी नहीं है। अध्यात्म की साधना करने वाला साधक मन की गुप्ति को

साधता है, वचन की गुप्ति को साधता है और शरीर की गुप्ति को साधता है। वह तीनों गुप्तियों से युक्त होकर अपनी सारी प्रवृत्तियों को सुला देता है।

### भावना का अभ्यास

चौथा महत्त्वपूर्ण तथ्य है–भावना। भावना का अभ्यास बहुत सूक्ष्म बात है। जब तक भावना का अभ्यास नहीं होगा, जब तक मन परम से भावित नहीं होगा, तब तक शक्तियों का विकास नहीं होगा। 'भाविअप्पा'–भावितात्मा शब्द जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसके पीछे रहस्यमयी भावना छिपी हुई है। जो भावितात्मा होता है, वह अपनी भावना के अनुसार काम करने में सक्षम होता है। भावना का अर्थ केवल कुछ सोच लेना मात्र नहीं है। उसका अर्थ है--हमारे ज्ञान-तन्तुओं को, कोशिकाओं को वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावनाओं को अंकित कर देना।

हमारे शरीर में अरबों-खरबों न्यूरॉन हैं, जीवकोशिकाएं हैं। ये न्यूरॉन हमारी अनेक प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। ये नियामक हैं। जो संकल्प न्यूरॉन तक पहुंच जाता है, वह सफल हो जाता है । न्यूरॉन बड़े-बड़े काम संपादित करते हैं।

इनकी कार्य-प्रणाली को समझना बहुत ही कठिन है, अरबों-खरबों की संख्या में ये ज्ञान-तंतु हमारे मस्तिष्क में बिखरे पड़े हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण में बहुत बड़ा उपयोग है।

### सूचना देना सीखें

प्राकृतिक चिकित्सक कहते हैं कि कोष्ठबद्धता हो तो पहले स्थिर बैठकर ध्यानस्थ हो जाओ और ज्ञान-तंतुओं को सूचना दो--शौच साफ हो रहा है, पेट साफ हो रहा है। ज्ञान-तंतु वैसा ही आचरण करने लग जाएंगे। मानसिक विकास के क्षेत्र में स्वतः सूचन का बहुत बड़ा महत्त्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इनकी पृष्ठभूमि में ज्ञान-तंतुओं का ही चमत्कार है। इन ज्ञान-तन्तुओं में विचित्र क्षमताएं हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने लग जाते हैं। जब सूचनाओं के आधार पर ज्ञान-तन्तु काम करने में तत्पर रहते हैं तब हम उनसे लाभ क्यों नहीं उठाएं? अपने-आप सूचना दें। पुराने को बदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए सूचनाएं दें। उन तन्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित करें। हम जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारंभ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है। इसे समझ कर हम मानसिक शक्ति का विकास कर सकते हैं।

# मन की शान्ति

**विक्षेप की दिशा : चैतन्य की दिशा**

जीवन की दो दिशाएं हैं। एक दिशा है विक्षेप की ओर जाने की तथा दूसरी दिशा है चैतन्य की ओर जाने की। आदमी जैसे-जैसे बाहर में गया, उसका आकर्षण जैसे-जैसे बाहर में बना, चंचलता बढ़ती चली गई, पागलपन बढ़ता चला गया। जिन लोगों ने केवल बाहर जाने का अर्थ ही समझा है, चंचलता को बढ़ाने का अर्थ ही समझा है, उन लोगों ने सचमुच दुनिया को अशान्त बनाया है, पागल बनाया है। आज मानसिक पागलपन बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा है। मैंने एक भारतीय डाक्टर का सर्वेक्षण पढ़ा, जो दस वर्ष पहले हुआ था। डाक्टर ने बताया कि जिस नगर में मानसिक पागलों की संख्या आठ सौ पचास थी, आज वह संख्या चौदह हजार तक पहुंच गई है। यह स्थिति भारत की है। उन देशों की नहीं है, जहां चंचलता को बढ़ाने वाले साधन बहुत बढ़ गए हैं और चंचलता जहां विक्षिप्तता के बिन्दु पर पहुंच रही है। वहां की संख्या के संदर्भ में भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि भारत एक गरीब देश है, विकसित देश नहीं है।

गरीब होना एक अभिशाप भी है तो गरीब होने के कुछ लाभ भी हैं। हर वस्तु के दो पहलू होते हैं। बुरा परिणाम होता है तो साथ-साथ अच्छा परिणाम भी होता है। बुरा परिणाम यह है—गरीबी के कारण अनैतिकता बहुत बढ़ रही है। किन्तु साथ-साथ गरीबी के कारण पागलपन की मात्रा उतनी नहीं बढ़ रही है जितनी समृद्धि के बाद बढ़ती है। समृद्धि के बाद जो चंचलता बढ़ती है, अतृप्ति बढ़ती है, वह पदार्थ से नहीं मिटती। उसे मिटाने के लिए कोई और बात चाहिए, समाधि चाहिए। समाधि का सूत्र उपलब्ध नहीं होता है तो पागलपन का दरवाजा चौड़ा हो जाता है। एक दो आदमी नहीं, एक साथ हजारों-हजारों आदमी उस दरवाजे में प्रवेश कर सकते हैं।

जब तक वैराग्य का अभ्यास नहीं किया जाएगा, मानसिक अशान्ति की समस्या सुलझ नहीं पाएगी।

### तीखा व्यंग्य

एक दूसरी धारा भी है मानसिक अशान्ति को मिटाने की। लोग सोचते हैं—मन की अशान्ति को मिटाना है तो मादक वस्तुओं का उपयोग करें। न जाने कितने ट्रेंक्वेलाइजर्स चल रहे हैं, कितने ड्रग्स चल रहें हैं, कितनी औषधियां चल रही हैं, इस मानसिक अशान्ति को मिटाने के लिए, किन्तु जितनी दवाइयां चल रही हैं, उतनी ही मानसिक अशान्ति बढ़ रही है। दवाई बनाने वालों को पैसे मिल रहे हैं और हमारे मानसिक चिकित्सकों को लाभ मिल रहा है कि वे जी रहे हैं।

एक बहुत तीखा व्यंग्य है। बीमारी है तो डाक्टर का परामर्श लो, इसलिए कि डाक्टर जी सके। डाक्टर जो दवा बताए, वह दवा खरीदो, जिससे कि दवा बनाने वाले जी सकें और ददा बेचने वाले जी सकें। दवा लो मत, इसलिए कि तुम भी जी सको।

### मादक वस्तु से शान्ति : प्रश्नचिन्ह

आज डाक्टर भी जी रहा है। दवाई बनाने वाले और दवाई बेचने वाले लोग भी जी रहे हैं। कठिनाई यह है कि आदमी मर रहा है, क्योंकि वह दवा ले रहा है। तीन सूत्र बराबर चल रहे हैं, किन्तु आदमी दवा ले रहा है। मानसिक शांति के लिए आज न जाने कितनी दवाइयां चल पड़ी हैं। लोग दवाइयां लेते हैं, पर बात बनती नहीं, शांति मिलती नहीं। मादक वस्तु का काम है—एक बार विस्मृति ला देना, भुलावे में डाल देना, मूर्च्छित कर देना और जो संवेदन-केन्द्र अशांति का अनुभव कराते हैं, उन संवेदन-केन्द्रों को निष्क्रिय कर देना। यह कोई समस्या का स्थाई समाधान नहीं है। यह भुलावे में डाल देने वाली बात है और भुलावा कब तक चल सकता है? वास्तविकता पर पर्दा कब तक डाला जा सकता है? पर्दा डाल देने का मतलब है एक बार छिपा देना किन्तु आखिर पर्दा उठता है, समस्या और प्रज्वलित बन जाती है। चेतना पर तो पर्दा डाला ही नहीं जा सकता क्योंकि चेतना भीतर से भी सक्रिय है, भीतर से अपना काम करती है।

### मानसिक अशान्ति का स्थायी प्रतिकार

मानसिक अशांति का स्थायी उपचार करने के लिए समाधि के सिवाय दुनिया में कोई विकल्प नहीं है। वैराग्य को जगाये बिना, पदार्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को कम किये बिना, आकर्षण की दिशा बदले बिना, चैतन्य के प्रति आकर्षण पैदा किए बिना इस मानसिक अशान्ति का कोई स्थाई समाधान नहीं हो सकता। स्वयं अश्विनीकुमार, जो इन्द्र के वैद्य हैं, वे भी दवा देने लग जाएं तो इन दवाओं के बल पर, मादक द्रव्यों के बल पर मानसिक अशान्ति को नहीं मिटाया जा सकता। प्रश्न चेतना का है, पदार्थ का नहीं। चेतना की अशान्ति को चेतना के जागरण के द्वारा ही

मिटाया जा सकता है।

## त्रिगुप्ति का प्रयोग

जो व्यक्ति मन को शान्त करना चाहता है, विकल्पों को कम करना चाहता है, उसे सबसे पहले ध्यान देना चाहिए जीभ और स्वरयंत्र की स्थिरता पर।

मन को शांत करने के लिए शरीर के दो अवयव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं--जीभ और स्वरयंत्र। जीभ का कायोत्सर्ग और कंठ का कायोत्सर्ग--ये दो कायोत्सर्ग बहुत आवश्यक हैं। पूरे शरीर का कायोत्सर्ग होता है। शरीर के छोटे से छोटे हिस्से का कायोत्सर्ग किया जा सकता है। चित्त को शांत करने के लिए पूरे शरीर का कायोत्सर्ग लाभदायी होता है। परन्तु जीभ और स्वरयंत्र को जितना अधिक स्थिर कर सकते हैं उतनी ही मात्रा में विकल्प कम हो जाते हैं। यह कोरा सिद्धांत नहीं है, अनुभव से प्रमाणित प्रयोग है। स्वरयंत्र को शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम करके देखें, कोई विकल्प नहीं आएगा। विकल्प का न आना ही अचंचलता है। विकल्पशून्यता के लिए उपयोगी है ठुड्डी को कंठकूप में लगाना। इस मुद्रा में ५-१० मिनट रहना, स्वयं एक साधना है। इससे विकल्प शांत हो जाते हैं। जब जीभ और कंठ का कायोत्सर्ग होता है तब तीनों गुप्तियां अपने आप सध जाती हैं।

## प्रभावित होता है मन

प्रश्न है। मन क्यों टूटता है? मन में बेचैनी क्यों होती है? मन क्यों सताता है? उसमें कमजोरियां क्यों आती हैं? उसमें भय क्यों उत्पन्न होता है? ये समस्याएं मनुष्य को अशान्त बनाए हुए हैं। इन सारी समस्याओं से निपटने के लिए मन और मन पर होने वाले प्रभावों को समझना जरूरी है।

भाव, मन और प्रभाव--यह त्रिकोण है। एक कोण पर है भाव, तीसरे कोण पर है प्रभाव और दूसरे कोण पर है मन। भाव मन पर बोझ लाद रहा है तो प्रभाव भी मन पर बोझ लाद रहा है। मन दोनों ओर से भारी हो रहा है, दोनों पाटों के बीच में पिसता जा रहा है। कबीर ने ठीक ही कहा था--'दो पाटन के बीच में साबत बचा न कोय।' प्रभाव अनेक प्रकार का होता है।

## चार दृष्टियां

भगवान् महावीर ने कहा--प्रत्येक वस्तु को समझने के लिए, सचाई को समझने के लिए चार दृष्टियों का उपयोग करना होगा। वे चार दृष्टियां हैं--द्रव्य की दृष्टि, क्षेत्र की दृष्टि, काल की दृष्टि और भाव की दृष्टि। द्रव्य, क्षेत्र,काल और भाव के आधार पर ही वस्तु-सत्य तक पहुंचा जा सकता है।

क्षेत्र का अपना प्रभाव होता है, अपनी तरंगें होती हैं। नेपाल से एक तांत्रिक

लाडनूं आया। उसने जैन विश्व भारती में 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' की भूमि को देखा, ध्यान किया, कुछ दिन रहा। उसने कहा--मेरी दृष्टि में पांच सौ, चार सौ वर्ष पूर्व यह भूमि साधना की भूमि रही है। यहां अनेक ऋषि-मुनि तपे हैं। यहां आते ही मन शुभ भावनाएं करने लगता है, चिन्तन प्रशस्त हो जाता है। यहां ध्यान भी गहरा जमता है।'

## प्रभावों की दुनिया

हमारी सारी दुनिया प्रभावों की दुनिया है। आज के वैज्ञानिक, ज्योतिषी, खगोलशास्त्री और आकाशीय-पिण्डों का अध्ययन करने वाले महामनीषी व्यक्ति इस सचाई को जानते हैं कि दूसरे ग्रहों में घटना घटती है तब पृथ्वी पर आंधियां, भयंकर तूफान आते हैं। वहां की प्रतिक्रिया यहां होती है। अकाल होता है, अवृष्टि और अतिवृष्टि होती है--ये भी पृथ्वी की घटनाएं नहीं हैं। इनके साथ आकाशीय घटनाएं भी जुड़ी होती हैं। हमारी समूची पृथ्वी न जाने कितने आकाशीय पिण्डों का प्रभाव क्षेत्र है। वहां के विकिरण, वहां की रश्मियां यहां आती हैं और प्रभाव डालती हैं। कुछ वर्षों पूर्व एक बार राजस्थान में बहुत वर्षा हुई। लोगों ने अनुमान लगाया कि अभी-अभी राजस्थान में अणु-विस्फोट किया गया है, उसी का परिणाम है। किंतु सचाई यह नहीं थी। सचाई यह थी कि उस वर्ष सूर्य में कुछ विस्फोट हुए थे। उसकी कुछ विशेष स्थिति बनी इसलिए यहां अतिवृष्टि हुई । हमारी यह पृथ्वी आकाशीय चुम्बकीय तत्त्वों से जुड़ी हुई है। हमारा मन भी आकाशीय और पृथ्वी के चुम्बकीय तत्त्वों से जुड़ा हुआ है। न जाने कितने चुम्बक हमें खींच रहे हैं।

क्षेत्र का प्रभाव मन को प्रभावित करता है। यह बात बहुत सूक्ष्म है। सामान्य व्यक्ति इसको समझ ही नहीं पाता। पर क्षेत्र और काल को समझे बिना किसी भी समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता। वैज्ञानिक युग में जीने वाला व्यक्ति यह जानता है कि हमारा यह आकाश-मण्डल तरंगों और ऊर्मियों से भरा पड़ा है। इसमें अनन्त वाइब्रेशन्स हैं। यह सूक्ष्म और सूक्ष्मतर कणों से भरा है और वे सारे कण आदमी को प्रभावित करते हैं। सौरमंडल से आने वाले विकिरण, भूमि पर होने वाले प्रकंपन, पर्यावरण में होने वाले प्रकंपन--ये सारे मनुष्य के भावों को प्रभावित करते हैं। भावधारा बोझ डालती है मन पर इसलिए मन पर उन सभी प्रकंपनों का प्रभाव होता है।

## सौरमण्डल और मन

ज्योतिर्विज्ञान में किसी आदमी की कुंडली देखी जाती है तो मन का स्थान चन्द्रमा से देखा जाता है। चन्द्रमा कैसा है? चन्द्रमा अच्छा है कुण्डली में तो मन बहुत शान्त रहेगा, स्वच्छ रहेगा। चन्द्रमा अच्छा नहीं है तो पागल बनेगा, यह भविष्यवाणी करने में कोई कठिनाई नहीं है। चन्द्रमा के स्थान के आधार पर मन की मीमांसा की

जा सकती है।

हमारे शरीर में जल का हिस्सा बहुत बड़ा है। यह शरीर ठोस लग रहा है पर ठोस कहां है? पानी ही पानी है। सत्तर-अस्सी प्रतिशत तो हमारे शरीर में पानी है। ठोस भाग तो बहुत थोड़ा है। पानी का चन्द्रमा के साथ संबंध है। समुद्र के ज्वार-भाटे के साथ चन्द्रमा का संबंध है। हमारे मन और शरीर का भी चन्द्रमा के साथ संबंध है। मन का ज्वार-भाटा भी चन्द्रमा के साथ आता है। केवल समुद्र में ही नहीं, मन में भी ज्वार-भाटा आता रहता है। अमावस्या और पूर्णिमा ज्वार-भाटे के दिन हैं। बहुत अन्वेषणों के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि हत्याएं, अपराध, हिंसा, उपद्रव, आत्महत्या--ये सारे पूर्णिमा और अमावस्या के दिन ज्यादा होते हैं। एक्सीडेण्ट भी इन दिनों में ज्यादा होते हैं। इस विषय पर काफी लिखा गया है, बहुत खोजें हुई हैं।

### चन्द्रमा का मन पर प्रभाव

डाक्टर नैवद्य ने अध्ययन किया कि मनुष्य के मन पर चन्द्रमा का प्रभाव होता है? ज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा की जैसी स्थिति होगी, मन की स्थिति भी वैसी ही होगी। इसलिए सम्भवतः यह कहावत चल पड़ी। 'अपना-अपना चन्द्रमा देखो।' दूज का चांद और पूनम का चांद मन को बहुत प्रभावित करता है। डाक्टर नैवद्य ने और भी अनेक तथ्य खोज निकाले। उन तथ्यों के आधार पर यह सारी बात समझ में आ जाती है कि अष्टमी के उपवास की प्रथा क्यों चली? चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को उपवास तथा पौषध करने की प्रथा क्यों चली ? इसकी व्याख्या हमारे पास नहीं है। डाक्टर नैवद्य ने यह बात स्थापित की--इन दिनों में चन्द्रमा समुद्र में तूफान लाने वाला होता है, वह मन में भी तूफान लाता है। यदि इन दिनों में उपवास किया जाता है, धर्म-जागरिका की जाती है तो तूफान मिट जाते हैं, मन शांत रहता है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि हमारा मन बाहरी स्थितियों से प्रभावित होता है। वह केवल चन्द्रमा से ही प्रभावित नहीं होता, अनेक घटनाओं तथा व्यक्तियों से भी प्रभावित होता है। मन बहुत ही ग्रहणशील है। बाहर से प्रत्येक घटना को लेता है और प्रभावित हो जाता है। किसी ने गाली दी, किसी ने प्रशंसा की, मन तत्काल प्रभावित हो जाता है।

कालचक्र और सौरमण्डल से हमारा भाव और मन जुड़ा हुआ है। इनसे हम प्रभावित होते हैं इसीलिए इन दिनों में विशेष अनुष्ठानों का विधान किया गया। अष्टमी, चतुर्दशी को विशेष अनुष्ठान किए जाएं, जिससे मानसिक विक्षिप्तता के प्रभावों से बचा जा सके। यह एक मुख्य हेतु था। चन्द्रमा की भांति दूसरे ग्रहों का भी प्रभाव पड़ता है। सूर्य का भी प्रभाव होता है, मंगल का भी प्रभाव होता है और गुरु का भी प्रभाव होता है। हम इतने प्रभावों से प्रभावित हैं कि अप्रभावित अवस्था हमें प्राप्त

नहीं है। इस स्थिति में मानसिक शान्ति की समस्या और जटिल बन जाती है।

## समाधान की प्रक्रिया क्यों?

जो व्यक्ति मन की समस्याओं को सुलझाना चाहता है, मानसिक शान्ति को घटित करना चाहता है उसे गहराई में जाना ही होगा। स्वयं को खपाए बिना मानसिक शांति उपलब्ध नहीं होती। जो बिना प्रयत्न या श्रम किए मानसिक शान्ति को घटित करना चाहता है, वह मानसिक उलझनों में और अधिक फंस जाता है।

अनेक व्यक्ति व्यग्रता से आते हैं और पूछते हैं--'महाराज! मानसिक अशान्ति बहुत है, उसे मिटाने का उपाय बताएं। मैं जल्दी में हूं। अभी-अभी मुझे ट्रेन पकड़नी है। शीघ्रता करें और उपाय बतायें।' मैं मन ही मन सोचता हूं, कितने नादान हैं ये मनुष्य ! मानसिक उलझन मिटाना चाहते हैं, पर उसे दाल-रोटी मान रहे हैं। क्या वह क्षण भर में सुलझायी जा सकती है? क्या इतनी छोटी समस्या है वह? दाल-रोटी प्राप्त करना या खाना भी तो सीधी बात नहीं है। बीज कहां बोया जाता है? कहां उगता है? कहां बिखरता है? पूरी प्रक्रिया को देखें। सारी प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात् दाल-रोटी प्राप्त होती है।

## भाव की अशान्ति : मन की अशान्ति

जब तक हम मन पर होने वाले प्रभावों के घटक तत्त्वों को नहीं समझेंगे, तब तक मानसिक शान्ति का प्रश्न समाहित नहीं होगा। इस संक्रमण और प्रदूषण के वातावरण में जीने वाला आदमी जब तक शोधन नहीं करेगा तब तक साधना की बात पर्याप्त नहीं होगी। चूल्हा है। आग जल रही है। ऊपर पानी से भरा बर्तन रखा हुआ है। आदमी से    है कि पानी गर्म न हो। नीचे आग जल रही है, बर्तन को आंच लग रही है तो पानी गर्म कैसे नहीं होगा? हमारे भीतर भावों की आग जल रही है। प्रतिशोध का भाव है, वासना का भाव है, भय और घृणा का भाव है, राग और द्वेष का भाव है। यह अग्नि जल रही है तो ऊपर रखा हुआ मन गर्म क्यों नहीं होगा? वह उबलेगा क्यों नहीं? अशान्त क्यों नहीं होगा? मन पानी है। उसका स्वभाव है ठंडा होना। जब नीचे आग जलती है तब उसे गर्म होना पड़ता है।

यदि मन की अशान्ति को मिटाना है तो हमें ध्यान देना होगा भावों पर। भाव की शान्ति, मन की शान्ति। भाव की अशान्ति मन की अशांति। यह समीकरण प्राप्त होता है।

## सबसे बड़ी समस्या

मनोविज्ञान की भाषा में हम जागृत चेतना–कोन्सियस माइंड के स्तर पर जी रहे हैं। उसके पीछे अर्धचेतन और अचेतन माइंड के स्तर हैं–सब्कोन्सियस और

अनू-कोन्सियस माइंड। उनसे हम अजान हैं। हमारी बहुत सारी प्रवृत्तियां अचेतन मन के द्वारा प्रेरित होती हैं किन्तु हमें ज्ञात नहीं है कि अचेतन में क्या क्या है? हमारी प्रत्येक क्रिया का प्रतिबिम्ब अचेतन मन तक चला जाता है और फिर उस की प्रतिक्रिया होती है, अभिव्यक्ति होती है। क्या समस्या के समाधान में यह बहुत बड़ी बाधा नहीं है? यह दोहरा व्यक्तित्व, विभाजित व्यक्तित्व बहुत बड़ी बाधा है। हम दो व्यक्तित्वों में जीते हैं--एक है बाहरी व्यक्तित्व और दूसरा है भीतरी व्यक्तित्व, आन्तरिक व्यक्तित्व। बाहरी व्यक्तित्व का एक रूप है और आन्तरिक व्यक्तित्व का दूसरा रूप है। यही सबसे बड़ी समस्या है। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो जाता, तब तक कैसे संभव है कि मानसिक शान्ति प्राप्त हो और अशान्ति का चक्र समाप्त हो?

### आरपारदर्शी बन जाएं

सबसे पहले हमें अपने व्यक्तित्व को एकत्व या अद्वैत में बदलना होगा। व्यक्तित्व अखंड और एक बन जाए, सारे खंड समाप्त हो जाएं, सारे आवरण मिट जाएं। महिलाएं ही आवरण या पर्दे में नहीं होतीं। कौन ऐसा पुरुष है,जिसके पर्दा नहीं है? सब पर्दों के पीछे बैठे हैं। ये सारे पर्दे समाप्त हो जाएं और आर-पार प्रत्यक्ष हो जाए। यही अखंड व्यक्तित्व है। आर-पार शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। आर नदी का एक तट है और पार नदी का दूसरा तट है। पुलों का निर्माण इसीलिए हुआ कि व्यक्ति आर-पार जा सके। केवल आर का दर्शन होता है और पार का दर्शन नहीं होता है तो बात अधूरी रह जाती है।

आरपारदर्शी व्यक्तित्व अखंड व्यक्तित्व माना जाता है। वह इधर को भी देख सके और उधर को भी देख सके। वह विचार, आचार और व्यवहार--इन तीन स्थूल तत्त्वों को भी देखे और कर्म, भाव और रसायन--इन तीन सूक्ष्म तत्त्वों को भी देखे। स्थूल आर है और सूक्ष्म पार है। जो आरपारदर्शी होगा, वह स्थूल को भी देखेगा और सूक्ष्म को भी देखेगा। इन दोनों--स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् छहों तत्त्वों के बीच कोई आवरण न हो। इस स्थिति में मानसिक समस्या समाहित हो सकती है।

### ऋतुचक्र और मन

ऋतु का एक चक्र है। भारत में छह ऋतुएं होती हैं। हो सकता है कि भौगोलिक कारणों से कुछ स्थानों में ऋतुएं छह न होती हों, कम या अधिक होती हों। उन ऋतुओं से मनुष्य का जीवन जुड़ा हुआ है। जैसे ऋतुचक्र बदलता है, हमारा शरीर भी बदलता है और स्वास्थ्य में भी परिवर्तन आता है। आयुर्वेद ने ऋतुचक्र के परिवर्तन के साथ-साथ स्वास्थ्य परिवर्तन और शरीर-परिवर्तन की विशद चर्चा की है। केवल स्वास्थ्य और शरीर ही नहीं बदलता, भाव भी बदलते हैं। भाव बदलता है तो मन बदलता है। यह आयुर्वेद और अध्यात्म का मिला-जुला योग है। यह आवश्यक है कि

ऋतु-परिवर्तन के साथ मनुष्य में होने वाले परिवर्तनों का संयुक्त अध्ययन किया जाए और यह जाना जाए कि क्या-क्या परिवर्तन घटित होते हैं।

## मन के दो अयन

वर्ष के दो अयन हैं--उत्तरायन और दक्षिणायन। हमारे मन के भी दो अयन हैं--उत्तरायण और दक्षिणायन। तपस्या, तेजस्विता, उग्रता--यह हमारे मन का उत्तरायण है। जड़ता और नींद की शांति--यह हमारे मन का दक्षिणायन है। ऑकल्ट साइंस अध्यात्म की द्विविधा शाखा है। उसमें दो ध्रुवों की चर्चा है--एक है उत्तरी ध्रुव और दूसरा है दक्षिणी ध्रुव। दोनों ध्रुवों का मन के साथ गहरा संबंध है। रीढ़ की हड्डी के ऊपर का भाग--ज्ञानकेन्द्र--उत्तरी ध्रुव है और रीढ़ की हड्डी का निचला भाग--शक्तिकेन्द्र और कामकेन्द्र--दक्षिणी ध्रुव है।

## अर्हत् गीता

उपाध्याय मेघविजयजी ने एक ग्रन्थ लिखा--अर्हत् गीता। उसमें ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से मानसिक स्थितियों का सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने पूरे वर्ष, बारह मास, बारह राशियां, दो अयन, छह ऋतु और सात वार--प्रत्येक के साथ मन के संबंध की चर्चा की है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है और इसका सूक्ष्म विवेचन वहां प्रस्तुत है। मैं यह सारी चर्चा इसलिए कर रहा हूं कि मानसिक शांति के प्रश्न पर सोचने वाले लोगों को एक ही कोण से नहीं सोचना चाहिए। अनेक कोणों से सोचना चाहिए। मन की अशान्ति हजार व्यक्तियों में मिलती है तो हजार व्यक्तियों के लिए अशान्ति का कारण एक ही नहीं होता, अनेक कारण होते हैं और उन अनेक कारणों के लिए एक ही समाधान पर्याप्त नहीं होगा। किस प्रकार की समस्या है और किस प्रकार का हेतु मन की अशान्ति को उत्पन्न कर रहा है, जब तक इसका विश्लेषण नहीं कर लिया जाएगा, इसका सम्यक् बोध नहीं होगा, तब तक मन की समस्या का प्रश्न बना रहेगा।

## जीवन की विसंगति

चिकित्सा की एक शाखा 'मनोचिकित्सा' विस्तार पा रही है। आज बड़े अस्पतालों में एक मनोचिकित्सक भी रहता है। वह मन की चिकित्सा करता है किन्तु मन की बीमारियों का वटवृक्ष शतशाखी है। सैकड़ों-हजारों शाखाएं हो सकती हैं। एक शाखा के समाधान से क्या होगा? और समाधान इसलिए भी नहीं होता है कि जो समाधान देने वाला है, वह स्वयं समाहित नहीं है। जो मनश्चिकित्सक है, वह स्वयं मानसिक दृष्टि से बीमार है किन्तु वह दूसरों की चिकित्सा करता चला जा रहा है। स्वयं समाहित नहीं, स्वयं की चिकित्सा नहीं और दूसरों का इलाज कर रहा है, यह हमारे

जीवन की विसंगति है। आदमी इतना विसंगति का जीवन जी रहा है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उसका विवेक प्रस्फुटित नहीं होता कि वह क्या कर रहा है? वह अपने आचरण को भी नहीं समझ पाता। एक अनपढ़ व्यक्ति की बात छोड़ दें किन्तु बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोग भी समझ नहीं पाते।

छोटा-सा एक गांव। पचास घरों की बस्ती। कोई पढ़ा-लिखा नहीं था। जब कोई पत्र आता, वे लोग पास वाले एक नगर में जाते और पत्र पढ़ाकर आ जाते। एक दिन एक व्यक्ति पत्र लेकर नगर में गया। एक पढ़े-लिखे व्यक्ति के पास जाकर बोला–भाई साहब! मेरी पत्नी का पत्र आया है, पढ़कर सुना दीजिए। वह पढ़ने लगा। ग्रामीण सुन रहा था। सुनते-सुनते वह अचानक उठा और पढ़े-लिखे व्यक्ति के कानों में अपनी अंगुलियां ठूंस दी। ग्रामीण के उस आकस्मिक व्यवहार को वह समझ नहीं सका। ग्रामीण बोला–क्षमा करें, मैं जानता हूं कि आपको कष्ट हो रहा है, पर मैं नहीं चाहता कि मेरी पत्नी के गुप्त समाचार आपके कानों तक पहुंचें। इसलिए मैंने ऐसा किया है। आप आगे भी पढ़ें।

वह ग्रामीण ही तो था। वह यह नहीं समझ सका कि पढ़ी हुई बात कानों तक पहुंचे या नहीं, कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह मात्र इतना ही जानता था कि मेरी पत्नी की गुप्त बात कोई सुन न ले।

### समस्या है महत्त्वाकांक्षा

यह स्थिति एक ग्रामीण की ही नहीं, बहुत पढ़े-लिखे लोगों की भी है। मुझे तो यह लगता है कि शायद पढ़े-लिखे लोगों की समस्याएं और अधिक जटिल हैं। अनपढ़ आदमी में इतनी महत्त्वाकांक्षाएं जागी हुई नहीं होतीं, वह कल्पना नहीं करता कि इतना आगे बढ़ा जा सकता है। किन्तु पढ़े-लिखे लोगों के सामने बुद्धि की प्रखरता ने इतनी कल्पनाएं दे दीं, महत्त्वाकांक्षाएं जगा दीं, इतने मूल्य सामने रख दिए, जिनकी पूर्ति नहीं हो पा रही है। यह मन की अशांति के लिए बहुत अच्छी सामग्री है। महत्त्वाकांक्षा बहुत बढ़ जाए और उसकी पूर्ति न हो सके, इससे विकट कोई समस्या नहीं हो सकती। जब तक आदमी की महत्त्वाकांक्षा न जागे, तब तक वह शान्ति का जीवन जी सकता है। हो सकता है कि वह विकास का जीवन न भी हो पर शान्ति का जीवन जी सकता है। महत्त्वाकांक्षा जाग जाए और उसकी संपूर्ति न हो, उस स्थिति में इतनी बेचैनी, कठिनाई और परेशानी होती है कि उस परेशानी को कोई बता नहीं सकता।

### एकांगी दृष्टिकोण

मन बाह्य आकर्षणों और विकर्षणों से जुड़ा हुआ है। वह बाह्य स्पर्श से प्रभावित बना हुआ है। सच यह है कि असंख्य परमाणु उससे स्पृष्ट हो रहे हैं, आ

रहे हैं, जा रहे हैं। एक अमेरिकन महिला डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने अणु आभा के फोटो लिये। आणविक प्रभाव को देखते हुए यह कहना बहुत सरल नहीं है कि मैं स्वतंत्र बुद्धि से सोच रहा हूं। हर व्यक्ति बाह्य परिस्थिति और निमित्तों से बंधा हुआ है। आज कोई भी शरीरधारी, जो इस जीवमण्डल और वायुमण्डल में जी रहा है, सार्वभौम स्वतन्त्र नहीं है। जो कोई विचार निष्पन्न होता है, वह अनेक वस्तुओं के योग से निष्पन्न होता है, इसलिए निरपेक्षता की बात करना नितान्त अज्ञान होगा।

हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष होना चाहिए। हमारे एक विचार के पीछे अनेक अपेक्षाएं होती हैं। सापेक्षता से हमारी मानसिक शान्ति को बल मिलता है। एकांगी दृष्टिकोण से अशान्ति निष्पन्न होती है।

### सुख का प्रश्न

यदि जीवन में शान्ति चाहते हैं, सुख की कल्पना साकार करना चाहते हैं तो अपने मन पर नियंत्रण करना होगा। सुख तीन प्रकार का होता है–शारीरिक सुख, इन्द्रिय सुख और मानसिक सुख। शारीरिक सुख प्रिय है। इसे प्राप्त करने के लिए काफी सचेष्ट रहते हैं। इन्द्रियों के सुख के लिए लोग बहुत प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु मानसिक सुख की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता । हम मानते हैं कि यदि शारीरिक सुख एवं इन्द्रिय सुख की प्राप्ति हुई तो मानसिक सुख स्वतः प्राप्त हो जाएगा। यह मूल में ही भूल हुई है। यदि मन को मालिक मानकर चलेंगे तो सुख की अनुभूति कदापि नहीं हो सकेगी। सेवक मानने से सुख अवश्य प्राप्त होगा। यदि मन को अपने नियंत्रण में रखेंगे तो सुख का समुद्र लहराएगा, शान्ति मिलेगी। मन को सेवक मानने पर इन्द्रियां स्वयं सेवक बन जाएंगी। हमारे सामने दुःख नाम की कोई चीज ही नहीं रह जाएगी। परन्तु यह स्थिति तभी होगी जब मन को मालिक मानकर नहीं, सेवक मानकर चलेंगे। चन्द्रमा की सैर करने से भी अधिक सुख की अनुभूति इसमें होगी।

भगवान् महावीर ने कहा–बारह मास का दीक्षित साधु सारे पौद्‌गलिक सुखों को लांघ जाता है। उसे उस सुख की अनुभूति होती है, जो चक्रवर्ती सम्राट् को भी नहीं होती। हम अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर यह निर्णय करें–जिन मान्यताओं को स्वीकार किए हुए हैं, वे काल्पनिक हैं या यथार्थ? एक बार मन को सेवक मानकर हमें अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। मैं यह परामर्श नहीं दे सकता कि शरीर-सुख और इन्द्रिय-सुख की ओर सर्वथा ध्यान न दें। किन्तु इतना-सा परामर्श अवश्य दूंगा–हम मन को सेवक मानकर चलें, स्वामी मानकर नहीं।

मानसिक समस्याओं के अनेक कारण है। उन सबका सम्यक् विश्लेषण किए बिना हम मन की समस्या को समाधान नहीं दे सकते। हर व्यक्ति जाने या न जाने पर कम से कम जो मानसिक शान्ति के क्षेत्र में काम करने वाले हैं, मानसिक चिकित्सा

के क्षेत्र में काम करने वाले हैं, अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले हैं और जो विश्व-शान्ति की चर्चा और परिक्रमा करने वाले हैं, उन लोगों के लिए तो यह बहुत जरूरी है कि वे मानसिक अशान्ति के सारे हेतुओं को जानें और फिर समाधान की बात करें।

## समस्या का समाधान : अनन्त चतुष्टयी

व्यक्तिगत विशेषताओं पर भी हमें विचार करना होगा। एक ओर हम वातावरण से, परिस्थितियों से, हेतुओं से, निमित्तों से प्राप्त होने वाली समस्याओं पर विचार करें तो दूसरी ओर व्यक्ति के आन्तरिक स्रोतों पर भी विचार करें। यही अध्यात्म और भौतिक विज्ञान का एक केन्द्र-बिन्दु बनता है। एक बहुत सुन्दर पुस्तक है--Man Unknown। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है कि मनुष्य अभी तक अज्ञात है। मनुष्य का थोड़ा-सा हिस्सा, उसके मस्तिष्क का पांच-सात प्रतिशत हिस्सा ही ज्ञात हुआ है। नब्बे प्रतिशत से अधिक हिस्सा अज्ञात ही है। स्वल्प ज्ञात के आधार पर इतने बड़े अज्ञात को अस्वीकार करना कैसे उचित होगा? अध्यात्म के आचार्यों ने अज्ञात पर भी बहुत अनुसंधान किया है। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि और अन्तःप्रेरणा से अज्ञात को समझने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है। अध्यात्म का यह बिन्दु हमें उपलब्ध है। हजारों-हजारों वर्ष पहले की गई उन घोषणाओं से हम परिचित हैं। न केवल मनुष्य में किन्तु प्रत्येक प्राणी में अनन्त शक्ति विद्यमान है। अनन्त चतुष्टयी जैन दर्शन में बहुत प्रसिद्ध है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द--यह अनन्त चतुष्टयी है।

हमारे शरीर में, हमारे भीतर यह अनन्त चतुष्टयी है। भीतर इतने बड़े महासागर लहरा रहे हैं, जिनकी किसी भी सागर से तुलना नहीं की जा सकती। उन सागरों के सामने, हिन्द महासागर हो या अटलांटिक , बहुत छोटे हैं। ये अनन्त नहीं हैं, ससीम हैं। हमारे भीतर चार अनन्त महासागर, जिनकी कोई सीमा नहीं, कोई आर-पार नहीं, लहरा रहे हैं। उनकी उत्ताल उर्मियां उछल रही हैं। किन्तु इस अनन्त चतुष्टयी से हम अनजान हैं।

अध्यात्म के आचार्यों ने मनुष्य के भीतर की गहराइयों में झांका, उस अनन्त चतुष्टयी में कुछ डुबकियां लेकर जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की, जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया और मनुष्य के व्यक्तित्व का जो चित्र उभारा, वह हमारे सामने होता तो शायद मन की शान्ति की समस्या जटिल नहीं होती। उन्होंने व्यक्ति को समझा और पाया कि भावशुद्धि के बिना मन की शान्ति का प्रश्न कभी समाहित नहीं हो सकता।

## भावशुद्धि का महत्त्व

जीवन के विकास का सबसे बड़ा आधार है भाव-शुद्धि। एक धारा है भाव-शुद्धि

की और दूसरी धारा है भाव-अशुद्धि की। दोनों धाराएं निरंतर प्रवहमान हैं हमारे व्यक्तित्व में। जब-जब हम भाव-अशुद्धि की धारा से जुड़ते हैं, मन की समस्याएं उलझ जाती हैं और जब-जब हम अपनी भाव-शुद्धि की धारा से जुड़ते हैं, सब कुछ ठीक हो जाता है। अशुद्ध भाव की धारा और शुद्ध भाव की धारा–दोनों सटी हुई बह रही हैं। किस धारा में आदमी कब चल जाए, कहा नहीं जा सकता।

आज के शरीरशास्त्री बतलाते हैं कि हमारे मस्तिष्क में दो ग्रन्थियां हैं। एक है हर्ष की और एक है शोक की। दोनों सटी हुई हैं। हर्ष की ग्रन्थि उद्घाटित हो जाए तो हर घटना में व्यक्ति सुख का अनुभव करेगा, उसे दुःख नहीं होगा। यदि शोक की ग्रन्थि खुल जाए तो फिर चाहे जितना सुख हो जाए, व्यक्ति करोड़पति बन जाए, दुःख का अन्त होने वाला नहीं है। खतरा यही है--यदि एक को खोलते समय दूसरी खुल जाए तो सारा चौपट हो जाए। सुख और दुःख की धाराएं सटी हुई चल रही हैं। थोड़ा-सा पैर इधर से उधर पड़ा, बस खतरा तैयार है। इसी बिन्दु पर जागरूकता की जरूरत है।

जागरूकता का प्रयोग मानसिक शान्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। यह सोचा जा सकता है कि जब हमारा मन इतने प्रभावों से प्रभावित है तब मानसिक शान्ति का हमारे सामने प्रश्न ही नहीं है। हम निरंतर मानसिक अशान्ति के चक्र में ही चलते रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। अनेक प्रभाव आते हैं किन्तु हमारे पास सुरक्षा का साधन भी विद्यमान है। यदि हम उसका उपयोग करें तो प्रभावों से बचा जा सकता है। वह उपाय है भावशुद्धि। जो व्यक्ति निरंतर भाव को शुद्ध रखता है, उस पर ये आक्रमण नहीं हो सकते और होते भी हैं तो बहुत मंद होते हैं।

**शक्तिशाली उपाय**

भावशुद्धि एक शक्तिशाली उपाय है। यदि उसके प्रति हमारी जागरूकता बढ़ जाए तो इन खतरों से बचा जा सकता है। प्रेक्षाध्यान में शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है। शरीर के प्रति जागरूक होना, प्राण-शक्ति के प्रकंपनों का अनुभव करना, रासायनिक परिवर्तनों का अनुभव करना, ये मात्र आलम्बन हैं। आलम्बनों का अपना उपयोग है। इनके बिना और प्रक्रिया के बिना कहीं पहुंचा ही नहीं जा सकता। कोई आदमी सीधा वीतराग नहीं बन जाता। पहले एक निश्चित प्रणाली से गुजरना होता है। जब उस प्रणाली का अंतिम बिन्दु आता है, व्यक्ति वीतराग बन जाता है।

अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का संयोग, असहायता की अनुभूति, संघर्ष, सन्देह, भय, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा–ये सब मन में असन्तुलन उत्पन्न करते हैं। असन्तुलित मन में अशान्ति उत्पन्न होती है। वह सुख को लील जाती है। भावना, शान्ति और सुख में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। गीता में लिखा है--

*न चाभावयतः शान्तिः, अशान्तस्य कुतः सुखम्?*

भावना के बिना शान्ति नहीं होती, शान्ति के बिना सुख नहीं होता। भावना संस्कार-परिवर्तन की पद्धति है। ध्येय के अनुकूल बार-बार मनन, चिन्तन और अभ्यास करने पर पूर्व-संस्कार का विलोप और नये संस्कार का निर्माण हो जाता है।

**परिस्थिति का प्रभाव**

अशान्ति के हेतुभूत संस्कारों का विलयन किए बिना कोई भी व्यक्ति शान्ति का स्पर्श नहीं कर सकता। परिस्थिति सदा एक रूप नहीं रहती। कभी वह अनुकूल होती है और कभी प्रतिकूल। अनुकूलता में जिसे हर्ष की तीव्र अनुभूति होती है, वह प्रतिकूलता में शोक की तीव्र वेदना से बच नहीं सकता। अपनी चेतना और पुरुषार्थ को सत्य की अनुभूति में प्रतिष्ठित करने वाला व्यक्ति परिस्थिति से आहत नहीं होता। असत्य का चुम्बकीय आकर्षण परिस्थिति के प्रभाव को अपनी ओर खींच लेता है। सत्य में वह चुम्बकीय आकर्षण नहीं है इसलिए परिस्थिति के प्रभाव से वह प्रभावित नहीं होता। अग्नि से बहुत सारी वस्तुएं जल जाती हैं पर अभाव नहीं जलता। परिस्थिति से वही मन जलता है, जो सत्य की भावना से प्रभावित नहीं है।

# मन की समस्या और तनाव

## गति और तनाव

शरीर की गति और अगति, मन की गति और अगति--ये दो बातें हैं। हम सोचते हैं कि शरीर की तो अगति हो सकती है। शरीर से कोई आदमी स्थिर भी हो सकता है, शिथिलीकरण कर सकता है, शान्त हो सकता है। पर क्या मन की अगति भी संभव है? क्या मन को टिकाया जा सकता है? हां, यह संभव है, बिलकुल संभव है। उसी दिन हमारी शक्तियों का विकास होगा, जिस दिन हम शरीर को स्थिर करने के साथ-साथ मन को भी स्थिर कर लेंगे। योग का सबसे बड़ा मर्म और रहस्य है–सन्तुलन। शरीर की गति ज्यादा होती है, शरीर में तनाव बढ़ जाता है। मन की गति ज्यादा होती है तो शरीर और मन–दोनों में तनाव आता है।

## अशान्ति का कारण

प्रश्न है--मन की अशांति क्या है? मन की ज्यादा गति ही मन की अशांति है। हम मन को रोक नहीं पाते। पागल कौन होते हैं? जो मन को रोक नहीं पाते, वे पागल होते हैं। व्यक्ति ने देखा--सड़क़ पर मोटर जा रही है, वह कहेगा--मोटर जा रही है, मोटर जा रही है। वह इस विचार को मन से निकाल ही नहीं सकता। इसी का नाम पागलपन है। समझदार आदमी वह होता है, जिसने घटना को देखा, समझा, मन में विचार आया, उसे मन से निकाल दिया और दूसरे विचार में लग गया। वह पागल नहीं होता। पागल और समझदार में इतना ही फर्क होता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे कहते हैं--विचार-प्रसक्ति। विचार की ऐसी प्रसक्ति हो जाती है कि व्यक्ति उस विचार को छोड़ नहीं पाता, अपने मन से निकाल नहीं पाता। जो एक रट लग गयी, वही रट घन्टों तक लगती चली जाएगी, आदमी पागल हो जाएगा। मन की स्थिति को भी समझना चाहिए। शरीर की गति और स्थिति का सन्तुलन, मन की गति और स्थिति का सन्तुलन, जो आदमी इन दोनों बातों को कर पाता है, वास्तव में वह योग का अधिकारी हो जाता है। यह योग न केवल साधु- संन्यासी के लिए ही है, किन्तु जो भी व्यक्ति अच्छा जीवन, सुख का जीवन जीना चाहता है, वह प्रत्येक

व्यक्ति इस योग का अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति इस योग को छोड़कर शान्ति का जीवन नहीं जी सकता।

यह सचाई है--जीवन में शांति नहीं होती तो सुख नहीं मिलता। सुख शांति के बाद आता है। शांति के बिना सुख की सामग्री प्राप्त हो सकती है, सुख प्राप्त नहीं हो सकता। सुख प्राप्त होता है शान्ति के द्वारा और शान्ति हो सकती है गति और स्थिति के सन्तुलन के द्वारा।

### समस्या है संतुलन की

आज संतुलन कहीं नहीं है। यदि एक राष्ट्र संतुलन खो देता है तो दूसरा राष्ट्र भी अपना संतुलन खोए बिना नहीं रहता। यदि अमुक राष्ट्र परमाणु बम बनाएगा तो मुझे भी बनाना जरूरी है। यदि पाकिस्तान परमाणु बम बनाए और हिन्दुस्तान नहीं बनाए तो वह सुरक्षित नहीं रह सकता। यह स्पष्ट है। अतः उसे भी परमाणु बम बनाना चाहिए। एक संतुलन खोए तो दूसरे को भी संतुलन खोना जरूरी है। यह दुनिया का एक सम्यक् व्यवहार हो गया। एक मानसिक दृष्टि से बीमार होता है तो दूसरे को भी मानसिक दृष्टि से बीमार होना जरूरी है। यदि वह ऐसा न करे तो मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह जाए पर व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रहना नहीं चाहता, बीमार होना चाहता है।

इस अवस्था में क्या यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शस्त्र का निर्माण, शस्त्र का नियोजन, शस्त्र का व्यापार और शस्त्र का प्रयोग--ये सब मानसिक बीमारी के चिन्ह हैं? इनसे प्रभावित मनुष्य तनाव से भरा रहता है।

### असीमित चिंतन

मानसिक तनाव का एक कारण है--अधिक सोचना। सोचने की भी एक बीमारी है। कुछ लोग इस बीमारी से इतने ग्रस्त हैं कि प्रयोजन हो या न हो, वे निरंतर कुछ-न-कुछ सोचते ही रहते हैं। वे इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। प्रयोजनवश कोई प्रवृत्ति होती है तो वह सार्थक मानी जा सकती है। प्रयोजन के लिए सोचना समझ में आ सकता है। किन्तु यह नहीं कि व्यक्ति सोचता ही रहे। अधिक सोचना तनाव पैदा करता है। हम उतना ही सोचें जितना आवश्यक है। जरूरत पूरी होते ही सोचने का दरवाजा बंद कर दें, चिन्तन बंद कर दें। मन शांत हो जाएगा।

### अधीरता

आदमी मानसिक दृष्टि से बड़ा अस्त-व्यस्त है। उसका दूसरा कारण है--जल्दबाजी। मनुष्य में धृति नहीं है। वह प्रतीक्षा करना नहीं जानता। इतनी जल्दबाजी कि काम अभी होना चाहिए, मिनट की भी देरी नहीं होनी चाहिए। वह डाक्टर से

कहेगा—ऐसी दवा दो कि अभी स्वस्थ हो जाऊं। अगर थोड़ी सी भी देरी हो जाती है तो डाक्टर बदलने की बात आ जाती है। यह जल्दबाजी और अधीरता तनाव का बहुत बड़ा कारण बनती है।

**असहिष्णुता**

तनाव का तीसरा कारण सहिष्णुता की कमी है। एक छोटा बच्चा भी सहन करना नहीं जानता। लगता है--आज जन्मघूंटी ही असहिष्णुता की मिल रही है। वह न मां-बाप की बात को सहन करता है, न अध्यापक की बात को सहन करता है और न किसी पड़ोसी की बात को सहन करता है। कितना अच्छा हो कि आज उलाहना देने, कुछ कहने और सीख देने की बात समाप्त कर दी जाए। कोई किसी पर अनुशासन न करे। किसी को कुछ कहे ही नहीं। जिसके जैसा मन में आए, वैसा करे। इस स्थिति में ही आज का व्यक्ति मान सकता है—उसे पूरा रामराज चाहिए। जहां उलाहने की बात आती है वहां सिरदर्द पैदा हो जाता है।

यह सहिष्णुता की कमी आज की जीवन प्रणाली की बड़ी समस्या है और उसका एक परिणाम है--मानसिक असंतुलन। दूसरा परिणाम है--पाचन-तंत्र की गड़बड़ी। पाचन-तंत्र बहुत विकृत हुआ है। पुराने आदमी काफी पचा लेते थे। आज पाचन की शक्ति नहीं रही। तीसरा परिणाम है—नींद की गड़बड़ी। आज की जीवन प्रणाली की देन है अनिद्रा की बीमारी। पाश्चात्य देशों में यह बीमारी बड़ी भयंकर है। अरबों-खरबों की दवाइयाँ केवल नींद के लिए ही चल रही हैं। आहार को पचाने के लिए और नींद को लाने के लिए जितने रुपए की दवाइयां चलती हैं उतने में एक राज्य का पूरा बजट बन जाता है। इतनी दवाइयां चल रही हैं और प्रयोजन कुछ भी नहीं है। नींद लेने के लिए दवा क्यों चाहिए? नींद तो प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। ये प्राकृतिक स्थितियां हमारी विकृत जीवन प्रणाली के कारण इतनी गड़बड़ा गईं कि खाने के लिए, पचाने और नींद लाने के लिए भी दवाइयां चाहिए।

एक भाई ने कहा--पहले मैं नींद की एक गोली लेता था। बाद में उसका असर कम हो गया, दो लेने लग गया और धीरे-धीरे पांच-छह गोलियां लेने लग गया। अब कोरा जहर भर रहा हूं पेट में। गोलियां विषैली और नशीली होती हैं। पर उपाय क्या, गोली लिए बिना नींद आती ही नहीं है।

आज के वैज्ञानिक विद्युत् के झटके देकर बीमार व्यक्ति को नींद दिलाते हैं। पचीस मिनट की नींद से व्यक्ति को छह घंटे की नींद जैसा विश्राम महसूस होता है। यदि आधा घंटा कायोत्सर्ग किया जाए तो दो-तीन घंटे नींद की पूर्ति हो जाए। कायोत्सर्ग से जितनी भारहीनता की अनुभूति होती है उतनी नींद से भी नहीं होती ।

## वर्तमान जीवन प्रणाली का परिणाम

उच्च रक्तचाप आदि बीमारियां वर्तमान जीवन प्रणाली का एक परिणाम है। पुराने जमाने के वैद्य तो इस बीमारी को कम जानते थे। यह होती भी कम ही थी। नहीं होती ऐसी बात तो नहीं। यक्ष्मा, उच्च रक्तचाप और हृदय की बीमारी--ये कुछ बड़े लोगों की बीमारियां थीं। आज तो जन साधारण की बीमारी बन गई। जब राजतंत्र से सत्ता सरक कर आम आदमी के हाथ में आ गई तो बीमारी क्यों पीछे रहती? उसने भी अपना अधिकार ले लिया और जन साधारण के साथ जुड़ गई।

जयपुर मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल ने कहा--रक्तचाप की बीमारी का समाधान मिल जाए तो आज की दुनिया को बहुत बड़ा समाधान मिल जाता है। यह विश्वव्यापी बीमारी है। हृदय रोग, हार्ट ट्रबल और हार्ट अटैक--ये भी जीवन प्रणाली से बहुत संबंधित हैं। जहां जल्दबाजी है, जहां व्यस्तता है वहां हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हृदय अपनी गति से चलता है। वह इतना व्यस्त नहीं है। वह आठ घंटा काम करता है और सोलह घंटे विश्राम करता है। क्या हम भी करते हैं ऐसा? हृदय एक सेकेंड धड़केगा तो दो सेकेंड विश्राम लेगा। प्रेक्षा ध्यान के संदर्भ में कहा जाता है--कोई भी काम करो तो साथ में कायोत्सर्ग करो। प्रत्येक आसन के बाद भी कायोत्सर्ग करना जरूरी है। हर प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक संतुलन बने।

काम करने की कला है--प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन। वह जीवन की प्रणाली अच्छी नहीं होती, जिसमें कोरी प्रवृत्ति होती है। कोरी निवृत्ति भी नहीं चल सकती। प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन, सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन, व्यस्तता और कायोत्सर्ग का संतुलन, तनाव और शिथिलीकरण का संतुलन। तनाव भी जीवन में जरूरी होता है किन्तु साथ में शिथिलीकरण भी होना चाहिए। संतुलन हों तो ठीक काम चलता है। कोरा खींचा जाता है तो रस्सी भी टूट जाती है।

## उदासी

मानसिक असंतुलन का एक कारण है--उदासी। उदासी--डिप्रेशन मानसिक विकार है। उदास व्यक्ति अपनी क्षमताओं का ठीक उपयोग नहीं कर सकता। उसकी शक्तियां मुरझा जाती हैं, क्षीण हो जाती हैं। प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति ही अपनी शक्तियों का सही उपयोग कर सकता है।

इस संदर्भ में हम आन्तरिक वातावरण पर विमर्श करें। आन्तरिक वातावरण व्यक्ति-व्यक्ति का निजी होता है। उसको प्रफुल्लित बनाए रखना बहुत कठिन काम है। इसका कारण है कि ग्रन्थियों के रसायन, स्राव संतुलित नहीं होते। मस्तिष्क का एक रसायन है--सेराटोनिन। इसकी कमी या असंतुलन उदासी का कारण बनता है। थाइराइड ग्रन्थि का स्राव कम होता है, उदासी छा जाती है। एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव

असंतुलित होता है, उदासी छा आती है। ग्रन्थियों के असंतुलित स्राव के कारण उदासी उभरती है। मस्तिष्क में एक रसायन होता है--बीटा एन्डोरफिन, जो मनोभावों को प्रभावित करता है। जब वह रसायन पूरा नहीं बनता तब उदासी छा जाती है। रासायनिक असंतुलन, ग्रन्थियों का अस्राव--यह उदासी का आन्तरिक कारण है। निषेधात्मक दृष्टिकोण भी उदासी का आन्तरिक कारण है।

पारिवारिक वातावरण भी उदासी का मुख्य हेतु है। परिवार में नाना प्रकार के लोग हैं, नाना प्रकार की समस्याएं हैं। वे अनेक प्रकार की परिस्थितियां पैदा कर डालते हैं और व्यक्ति उदास हो जाता है। घरेलू स्थितियां, जो मन के अनुकूल नहीं होतीं, उदासी का हेतु बनती हैं। परिवार में बेटा और बहू--दोनों प्रसन्न रहने वाले हैं। किन्तु परिवार के अन्यान्य सदस्य उन दोनों को निरंतर टोकते रहते हैं, कमी निकालते रहते हैं, ताना कसते रहते हैं तो दोनों उदास हो जाते हैं। उनकी प्रसन्नता खिन्नता में बदल जाती है।

तीसरा है समाज का वातावरण। समाज अनेक व्यक्तियों का समूह है। वहां अनेक प्रकार की समस्याएं और स्थितियां पैदा होती हैं और आदमी उदास हो जाता है। वह उन सामाजिक स्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

**उदासी से मुक्ति**

प्रश्न होता है कि उदासी से मुक्ति पाने का उपाय क्या है? वैज्ञानिकों ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका सुझाव है कि यदि पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में होता है तो व्यक्ति उदासी से छुटकारा पा लेता है। उदासी का हेतु है--पोषक आहार का अभाव। यदि आहार में विटामिन्स और एमिनो एसिड का उचित संतुलन होता है तो उदासी का एक हेतु समाप्त हो जाता है।

उदासी से बचने के लिए निषेधात्मक भावों से बचना जरूरी है। निषेधात्मक भाव समस्या पैदा करते हैं। मनुष्य का स्वभाव कहें या कर्म का विपाक कहें, कुछ विचित्र-सा लगता है कि मनुष्य में विधायक भाव कम होते हैं और नकारात्मक भाव अधिक। पोजिटिव शक्ति कम काम करती है, नेगेटिव शक्ति अधिक काम करती है। जो निषेधात्मक भावों में जीता है, वह उदासी से छुटकारा नहीं पा सकता। वह जहां भी जाएगा, उदासी उसका पीछा करेगी। उदासी के पारिवारिक सदस्य भी अनेक हैं--खिन्नता, अवसाद, घर से पलायन करने की बात सोचना, आत्महत्या का भाव आना आदि आदि। ये सारे निषेधात्मक भावों के उपजीवी हैं।

नकारात्मक भाव मन में न आएं, इसका अभ्यास किया जा सकता है। प्रातःकाल व्यक्ति यह संकल्प लेकर उठे कि आज निषेधात्मक भावों को नहीं आने दूंगा, विधायक भाव में रहूंगा। धीरे-धीरे इन नकारात्मक भावों से मुक्ति मिल जाएगी।

मादक द्रव्यों का सेवन भी उदासी लाता है। तम्बाकू, भांग, चरस, मदिरा--इनके सेवन से भी उदासी आती है। सारा शरीर शिथिल हो जाता है। यदि उदासी से बचना है तो मादक द्रव्यों का सेवन त्याग देना होगा।

**आग्रह**

मानसिक असंतुलन का एक कारण है--आग्रह। आग्रह बहुत असंतुलन पैदा करता है। हम सूक्ष्मता से ध्यान दें तो पता चलेगा कि पारिवारिक कठिनाइयों में जिद्द की प्रकृति सबसे ज्यादा तकलीफ देती है। एक बात पकड़ ली, बस अब नहीं छोड़ेंगे। समूचे परिवार में कलह का वातावरण बन जाता है। घर में दीवारें खिंच जाती हैं, कई चूल्हें जल जाते हैं। कटुता के कारण बाप और बेटा वर्षों तक नहीं मिलते। बाप दूसरे व्यक्ति के आने पर हंस-हंस कर बात करता है किंतु लड़के के सामने आने पर आखें घुमा लेता है, बड़ी अजीब स्थिति होती है। इसमें आग्रह का बहुत बड़ा योग होता है।

**पक्षपात**

मानसिक असंतुलन का एक कारण है--पक्षपात। यह अपना संतुलन भी बिगाड़ता है और सामने वाले का संतुलन भी बिगाड़ता है। ये शिकायतें बहुत आती हैं कि मैं पिता का विनीत था और अभी हूं किंतु पिता ने ऐसा पक्षपात किया--बड़े भाई को सारा धन दे दिया और मुझे अंगुठा दिखा दिया। बड़े भाई के प्रति छोटे भाई का, मां के प्रति लड़के का और सौतेली मां हो तो फिर कहना ही क्या! इस पक्षपात के कारण मानसिक संतुलन गड़बड़ा जाता है।

**नाड़ी संस्थान की दुर्बलता**

मानसिक असंतुलन का एक कारण है--नाड़ी की दुर्बलता। नाड़ी संस्थान के दो मुख्य अंग हैं--एक मस्तिष्क और दूसरा सुषुम्ना का सारा हिस्सा। सुषुम्ना-शीर्ष और सुषुम्ना स्पाईनल कॉर्ड। ये नाड़ी-संस्थान के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जिसका स्पाईनल कॉर्ड या पृष्ठरज्जु दूषित होता है, उसका संतुलन बिगड़ जाता है।

नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता, पृष्ठरज्जु की दुर्बलता और मस्तिष्क की दुर्बलता--ये सब असंतुलन के कारण बनते हैं।

आजकल एक चिकित्सा पद्धति चली है--ओस्टियोपैथी। इस चिकित्सा में और कुछ नहीं किया जाता, केवल स्पाईनल कॉर्ड पर कुछ प्रेशर दिया जाता है। इससे सारे रोगों की चिकित्सा की जाती है। यहीं रोगों की जड़ है। यहीं से सारे शरीर में नर्वस् जाते हैं, फैलते हैं। यहां तंतुओं का, स्नायुओं और धमनियों का जाल बिछा हुआ है, सब यहीं से होकर गया है। मूल यहीं है। यहीं से सारा-का-सारा संचालन हो रहा है।

जब नाड़ी-संस्थान ही दुर्बल हो जाता है तो फिर संतुलन की बात कही नहीं जा सकती। चाहे हजार बार ध्यान भी करें, संतुलन नहीं आएगा। ध्यान होगा ही नहीं। ध्यान तभी हो सकता है जब नाड़ी-संस्थान मजबूत होता है। कोई आदमी भारी-भरकम है। हमें लगेगा–बड़ा हट्टा-कट्टा है, स्वस्थ है। यदि शरीर में मांस कम है तो लगेगा--पतला-दुबला आदमी है। हम उसको कमजोर मान लेंगे और उस भारी-भरकम को शक्तिशाली मान लेंगे। यह मानना सही नहीं होगा।

*'तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः'*

जिसमें तेज है, वह बलवान् होता है, स्थूल में कोई विश्वास नहीं होता। हमारे शरीर में मूल है–नाड़ी- संस्थान। जीवन का अर्थ है–नाड़ी-संस्थान की सक्रियता। दो ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं--एक है नाड़ी-संस्थान और दूसरा है ग्रन्थि-संस्थान। ये ही सारा प्रकाश फैला रहे हैं, सब कुछ करा रहे हैं। मांस कोई बड़ी बात नहीं है। दूसरी धातुओं में भी उतनी ताकत नहीं है।

## संतुलन का प्रयोग : शरीरप्रेक्षा

मानसिक असंतुलन के ये कारण हमारे सामने हैं। हम चाहते हैं, मानसिक संतुलन बना रहे। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग है–शरीर-प्रेक्षा, शरीर को देखना। इससे नाड़ी-संस्थान दृढ़ होता है और कुछ रसायनों की पूर्ति भी होती है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि कुछ विटामिनों को हमारा शरीर पैदा करता है। सब बाहर से ही हम नहीं लेते हैं। हम भीतर से भी लेते हैं। सूर्य का ताप लगता है और विटामिन 'डी' अपने आप आ जाता है। इसका सबसे अच्छा स्रोत है–सूर्य का ताप। और भी बहुत सारे रसायन, प्रोटीन, हमारा शरीर पैदा करता है। पर करेगा तब जब हम अनावेग की स्थिति में रहेंगे। यह ध्यान का प्रयोग, मानसिक संतुलन का प्रयोग, केवल मोक्ष पाने के लिए ही नहीं है, वर्तमान जीवन को सुख से जीने के लिए भी है।

## पदार्थ-प्रतिबद्धता और तनाव

भगवान् महावीर ने एक शब्द दिया 'लाघव'। मुनि 'लाघव' का प्रतीक होना चाहिए। उसे हल्का होना चाहिए। व्यक्ति जितना पदार्थ से बंधता है, उतना भारी होता जाता है और पदार्थ से जितना मुक्त होता है, उतना हल्का होता जाता है। जैसे-जैसे पदार्थ की प्रतिबद्धता बढ़ती है वैसे-वैसे मन भारी होता जाता है, टूटने लग जाता है, दुर्बलताएं आती चली जाती हैं। जैसे-जैसे अवस्था का परिपाक होता है, मन क्षीण और दुर्बल होता चला जाता है।

आज का युग पदार्थवाद का युग है। पदार्थवादी परंपरा ने भोगवाद को बढ़ाया है और इससे असंयम बढ़ा है। लोभ और कामवासना जितनी प्रबल होगी, तनाव

उतना ही अधिक होगा। असंयम तनाव का जनक है। संयम के बिना तनाव को मिटाया नहीं जा सकता।

**संयम का अर्थ**

हम इच्छाओं के दास नहीं हैं। हम इन्द्रियों के गुलाम नहीं हैं। हम उनके स्वामी हैं। अपने स्वामित्व के अस्तित्व को अनुभव करने का अर्थ है संयम। गुलाम होना या गुलामी का अनुभव करना संयम नहीं है। इच्छाओं के वशवर्ती आदमी से मैने कहा--इच्छाओं पर नियंत्रण करो। उसने कहा--महाराज! आप ही तो कहते हैं कि जीवन नश्वर है। आदमी को एक दिन मरना ही पड़ेगा। मैं यहां अमर तो नहीं रहूंगा। फिर यदि इच्छाओं को पूरी करता हुआ मरूं तो इसमें हानि ही क्या है? मृत्यु यदि पांच-दस वर्ष पहले आ जाएगी तो क्या फर्क पड़ेगा? मैनें सोचा--कितना बड़ा त्याग! इच्छाओं की पूर्ति के लिए मरण का वरण करने की तैयारी। जीवन का मोह सबसे बड़ा होता है पर इच्छाओं के पाश में वह मोह टूट जाता है। कितना बड़ा त्याग! कितनीं बड़ी विडंबना !

**खाद्य-संयम : निदर्शन**

जीवन रस को चूसने वाली दो बातें हैं--अब्रह्मचर्य और जीभ की लोलुपता। इन दोनों की उच्छृंखलता सारे जीवन के रस को निचोड़ डालती है। व्यक्ति संभल नहीं पाता और धीरे-धीरे जीवन का रस चुक जाता है। जो व्यक्ति खाद्य-संयम करता है, वह लम्बे समय तक जवान रह सकता है। आचार्यश्री तुलसी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे चार बजे उठते हैं और रात के ११-१२ बजे तक कार्यरत रहते हैं। वे इस प्रकार स्फूर्ति के साथ अठारह घंटे तक कार्य कर सकते हैं। वाणी में वही तेज, आकृति में वही ओज। इसका मूल कारण है खाद्य-संयम । यदि यह नहीं होता तो वे इतनी लम्बी पदयात्राएं, इतना जन-संपर्क, इतना श्रम कदापि नहीं कर पाते।

**प्रभावित करता है भोजन**

जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है भोजन। किन्तु आश्चर्य है कि लोग इसके विषय में बहुत कम जानते हैं। अधिकतर महिलाएं रसोई बनाती हैं, पर वे रसोई के विज्ञान से अनभिज्ञ रहती हैं। उनकी दृष्टि में भोजन की दो ही कसौटियां हैं--दिखने में अच्छा हो, खाने में स्वादिष्ट हो। प्रायः आदमी आटे से चोकर निकालकर बाहर फेंक देता है। इसका अर्थ है--वे सार चीज फेंक देते हैं और निस्सार चीज खाते हैं। चोकर मिश्रित आटे की रोटी मुलायम या स्वादिष्ट नहीं होती है पर लाभदायक बहुत होती है। चोकर रहित आटे की रोटी या पूड़ी मुलायम होती है, खाने में स्वादिष्ट लगती है पर हानिकारक होती है, आंतों को बिगाड़ती है, अनेक

रोग उत्पन्न करती है।

### मनोबल का प्रश्न

ब्रिटेन के एक होटल में एक महिला भोजन करने गई। वह अपने साथ चोकर ले गई। दूसरे ने पूछा--सिस्टर ! यह चोकर क्यों लायी हो? उसने कहा--मैं चोकर खाती हूं इसलिए मोटापा नहीं बढ़ता, बदन इकहरा रहता है, चर्बी नहीं बढ़ती ! उस बहन ने चोकर के प्रयोग किए और एक किताब लिखी! पहली बार में ही उसकी दस लाख प्रतियां बिक गईं। इंग्लैंड में एक क्रान्ति जैसी हो गई। उस समय वहां चोकर मिलना बन्द हो गया।

चोकर में विटामिन 'बी' भरा पड़ा है। चोकर निकाल देने के बाद आटे में कुछ सार नहीं बचता।

जिसमें खाद्य-संयम और वासना का संयम आ जाता है, वह धार्मिक होता है। मनोबल इन दोनों के संयम से ही बढ़ सकता है।

### मनोविज्ञान : तनावमुक्ति के परिप्रेक्ष्य में

मनोवैज्ञानिक मानसिक समस्याओं के समाधान के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। डॉ० जार्ज स्टीवन्सन और डॉ० टील ने एक पुस्तक लिखी है--'लाइफ, टेन्सन एंड रिलेक्सेशन।' उस पुस्तक में तनावमुक्ति के कुछ उपाय निर्दिष्ट हैं। उनका कथन है कि जब क्रोध आए या क्रोध का तनाव बढ़े तब किसी न किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए, जिससे कि ध्यान बंट जाने के कारण क्रोध का आवेग कम हो जाए। दूसरा प्रयोग यह है कि जब क्रोध आदि का आवेग आए तब स्वाध्याय या किसी मनोरंजन में लग जाना चाहिए।

ये दोनों उपाय भी तात्कालिक हैं, सामयिक हैं, समस्या को स्थायी रूप में समाहित नहीं कर सकते।

### क्रोध और मनोविज्ञान

मनोवैज्ञानिकों की शोध के अनुसार यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है कि यदि व्यक्ति नौ मिनट तक क्रोध के आवेश में रहता है तो नौ घंटा तक काम करने में प्रयुक्त होने वाली शक्ति नष्ट हो जाती है। कहां नौ मिनट और कहां नौ घंटा ! कितनी हानि! यह धार्मिक उपदेश नहीं है, प्रयोगशाला में परीक्षित सत्य है।

धर्मशास्त्र क्रोध के दुष्परिणामों की लंबी तालिका प्रस्तुत करते हैं। वह सारी तालिका नरक के संदर्भ में है। क्रोध करने वाला नरकगामी होता है। क्षमा करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। मध्यकाल में इन दो शब्दों में सारी समस्या को बांध लिया गया। आज का आदमी इस भाषा को नहीं समझ सकता कि क्रोध करने से नरक

मिलता है और क्षमा करने से स्वर्ग मिलता है। एक बार यह मान भी लिया जाए कि क्रोध करने से नरक मिलता है तो भी उसके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसके मन में न नरक का भय है और न स्वर्ग का प्रलोभन है। आदमी इस भय और प्रलोभन से ऊपर उठ चुका है।

## हितकर नहीं है निरोध और दमन

आज की शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय खोजों ने जिन सचाइयों का उद्घाटन किया है, वे सचमुच सोचने के लिए बाध्य करती हैं। यह माना गया है कि भावनात्मक आवेगों (इमोसन्स) का जो आघात होता है, उसे न रोकना चाहिए और न दबाना चाहिए। उनका निरोध और दमन--दोनों हितकर नहीं होते। उन आवेगों का तात्कालिक उपाय भी किया जा सकता है किन्तु उसे स्थायी मान लेना उचित नहीं होता। मानसिक तनाव को मिटाने में ध्यान बहुत उपयोगी बनता है। जैसे- जैसे ध्यान की परिपक्वता आती है वैसे वैसे मानसिक तनाव विसर्जित होता चला जाता है।

## तनाव-विसर्जन का सूत्र

तनाव-विसर्जन का सूत्र है–विचय-ध्यान। विचय का अर्थ है--विश्लेषण। प्रेक्षा एक विश्लेषण है। सेल्फ एनलिसिस है। व्यक्ति आत्म विश्लेषण करे--क्रोध क्यों आता है? लोभ क्यों जागता है? मिथ्यादृष्टि क्यों जागती है? हम विश्लेषण नहीं करते हैं तब सारी भावनाएं पनपती रहती हैं। जब हम अपना विश्लेषण प्रारंभ करते हैं, अपनी ज्ञान-शक्ति को जगाते हैं तब ये सारी बातें टूटने लग जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी ज्ञान-शक्ति का उपयोग नहीं करता, उसमें ये सारी विकृतियां पनपती रहती हैं। जब हम अपना विश्लेषण करते हैं तब आर्त्त-रौद्र ध्यान छूट जाते हैं, धर्म ध्यान शुरू हो जाता है। धर्म ध्यान का प्रारंभ होता है विचय के द्वारा, विश्लेषण के द्वारा। यह विचय की प्रक्रिया, विश्लेषण की प्रक्रिया चिकित्सा की प्रक्रिया है। आज का मनोचिकित्सक सबसे पहले विश्लेषण का सहारा लेता है। कोई भी मानसिक बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति मानस-चिकित्सक के पास जाता है तो चिकित्सक सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग कराता है, शिथिलीकरण करने के लिए कहता है। इसके बाद कहता है–'अपना विश्लेषण करो, प्रतिक्रमण करो, अतीत की ओर लौटो और मन में जो-जो बातें आए, निःसंकोच कहते जाओ। छुपाओ मत।' अब वह रोगी अपना विश्लेषण करता है, प्रतिक्रमण करता है। मनोचिकित्सक सुनता जाता है और सुनते-सुनते यह बात पकड़ लेता है कि मन की गांठ कहां घुली है? मानसिक ग्रन्थि कहां बनी है? क्या बीमारी है? कौन-सी वृत्ति का दमन हुआ है? किस प्रकार की ग्रन्थि बनी है? वह फिर उस ग्रन्थि को खोलने का प्रयत्न करता है।

## अध्यात्म की प्रक्रिया

अध्यात्म की चिकित्सा भी इसी प्रकार चलती है। ध्यान की भी यही प्रक्रिया है। आर्त-रौद्र ध्यान के द्वारा जो ग्रन्थियां बनती हैं वे ग्रन्थियां शारीरिक और मानसिक विकृतियां पैदा करती हैं, रोग पैदा करती हैं। मैं मानता हूं–मनोविज्ञान का यह सूत्र गलत नहीं है कि जो वृत्ति दबाई जाती है, वह वृत्ति शारीरिक और मानसिक रोग पैदा करती है। इसे हम अध्यात्म की भाषा में समझें। ज्योंही वृत्ति का दमन किया, दबाने का प्रयत्न किया किन्तु निर्जरा नहीं की, उसका रेचन नहीं किया तो उसका बंध हो जाएगा। वह बंध सताता रहेगा। क्रोध आता है और चला जाता है। यह न मानें कि क्रोध आया और चला गया। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी। क्रोध आया, स्थूल शरीर से चला गया, पता नहीं चलता कि क्रोध है। क्रोध आया था इस शरीर की आकृति में। अब क्रोध अणु बनकर हमारे भीतर पैठ गया। जो क्रोध व्यक्त हुआ था अपने रूप में, वह चला गया किन्तु उसने अपना आणविक रूप छोड़ दिया। कर्म के भी परमाणु हैं। हमारे जो कर्म का बंध होता है वह परमाणु का बंध होता है। आणविक क्रोध हमारे भीतर है। वह सताता रहता है, तनाव पैदा करता है। हमें निर्जरा करना, रेचन करना, शोधन करना सीखना होगा। हम ध्यान के द्वारा यह सीखें। हम क्रोध का दमन न करें, उसका रेचन करें, शोधन करें। क्रोध का संवर करें, विवेक करें। जो व्यक्ति अक्रोध बन गया, जिसमें क्रोध का लेश भी नहीं बचा, उस व्यक्ति के परमाणु करुणा का विकिरण करते रहते हैं। उससे आभामंडल सुन्दर और स्वच्छ बनता है। उस व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति में मधुरता होती है। उसके व्यक्तित्व में निखार आ जाता है। ऐसा व्यक्ति तनाव की समस्या का हल स्वयं ढूंढने में सफल हो जाता है।

# मानसिक स्वास्थ्य

## आवेग : उप-आवेग

गरुड़ ने काकभुशुंडि से कहा– मैं मानसिक रोगों के बारे में जानना चाहता हूं। इस जिज्ञासा के उत्तर में काकभुशुंडि ने बतलाया– गरुड़ ! सब रोगों का मूल मोह है। उससे अनेक पीड़ाएं उत्पन्न होती हैं।

मनुष्य के शरीर में तीन दोष होते हैं--वात, कफ और पित्त। मानसिक जगत् में काम वात, लोभ कफ और क्रोध पित्त है। जब ये तीनों कुपित होते हैं तब सन्निपात का रोग प्रकट हो जाता है। ममता दाद है। ईर्ष्या खुजली है। हर्ष और विषाद गठियावात हैं। दूसरों का सुख देखकर जलना क्षयरोग है। मन की कुटिलता और दुष्टता कोढ़ हैं। दंभ और मान नहरुआ है। तृष्णा जलोदर है। मात्सर्य और अविवेक ज्वर हैं।

मानसिक आवेगों और उप-आवेगों के अनेक प्रकार हैं। आवेग चार हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ। भय, शोक, घृणा, ईर्ष्या और कामवासना–ये उप-आवेग हैं। ये अपनी-अपनी मात्रा के अनुसार मानस को प्रभावित करते हैं।

## आवेग : तीव्रता के कारण

क्रोध आदि की शक्ति तीव्र होती है इसलिए वे आवेग हैं। वे व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणों–सम्यक् दृष्टिकोण और आत्म-नियन्त्रण को भी प्रभावित करते हैं। भय आदि उप-आवेग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को प्रत्यक्षतः उतना प्रभावित नहीं करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत कम होती है, इसलिए वे उप-आवेग हैं। आंतरिक गुणों में होने वाला प्रभाव बहुत सूक्ष्म होता है अतः वह सहजभाव से पहचाना नहीं जाता। आवेगों और उप-आवेगों का शरीर और मन पर जो प्रभाव होता है, उसकी जानकारी हमें चिकित्सा-शास्त्र की पुरानी और नयी सभी शाखाओं के साहित्य द्वारा प्राप्त होती है।

## प्रभाव की स्थिति

योगशास्त्र में भी इसकी चर्चा मिलती है। कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं:–

मानसिक चिन्ता, निराशा, भय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगों से हृदय रोग उत्पन्न होता है। भय, चिन्ता, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगों से पुरुष का वीर्य पतला हो जाता है और स्त्री के रजोविकार का रोग उत्पन्न हो जाता है। मानसिक चिन्ता, अशान्ति, उद्विग्नता और क्षोभ के कारण क्षयरोग उत्पन्न होता है। ईर्ष्या और द्वेष यकृत् और तिल्ली को प्रभावित करते हैं। क्रोध और घृणा से गुर्दे विकृत होते हैं तथा रक्त विषैला बनता है। चिन्ता और उदासीनता से फेफड़े दुर्बल होते हैं, मस्तिष्क विकृत और रक्त दूषित होता है। विषय-वासना की प्रबलता से वीर्य-विकार, प्रमेह आदि मनोविकारों की दशा में खाये जाने वाले अन्न का समुचित परिपाक नहीं होता।

इनकी उत्पत्ति का कारण यह है कि मानसिक आवेग शरीर की रोगप्रतिरोधक शक्ति को नष्ट कर डालते हैं।

हमारे शरीर में दो पाचक रस रहते हैं—लवणांग (हाइड्रोक्लोरिक) और पेप्सीन। द्वेष, ईर्ष्या, भय, शोक, क्लेश, निन्दा, घृणा आदि मानसिक आवेगों से प्रभावित अवस्था में पाचक रस अल्प मात्रा में बनते हैं इसलिए शरीर और मन शक्तिहीन हो जाते हैं।

चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, लोभ आदि से अरुचि और अजीर्ण रोग होता है।

चिन्ता आदि से आमाशयिक स्राव कम होता है और क्षुधा नष्ट हो जाती है।

हमारा जीवन प्रवृत्ति-बहुल है। जहां प्रवृत्ति होती है वहां वेग होता है। वह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक वेग तेरह प्रकार के हैं—वात (उर्ध्ववात, अधोवात), मल, मूत्र, छींक, प्यास, भूख, निद्रा, काम, श्रमजनितश्वास, जमुहाई, अश्रु, वमन और शुक्र। इनका वेग धारण करने से रोग उत्पन्न होते हैं इसलिए वेग को रोकने का निषेध है।

## रोग के चार प्रकार

आयुर्वेद में रोग चार प्रकार के माने गये है:-

| | |
|---|---|
| १. आगन्तुक | ३. मानसिक |
| २. शारीरिक | ४. स्वाभाविक। |

आगन्तुक रोगों का हेतु बाह्य उपकरण--शस्त्र आदि हैं।

शारीरिक रोग अल्प, मिथ्या और अतिमात्रा में प्रयुक्त अन्न-पान के कारण कुपित (या विषम) हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके मिश्रण से उत्पन्न होते हैं।

मानसिक रोग क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदों से उत्पन्न होते हैं।

स्वाभाविक रोग भूख, प्यास, बुढ़ापा, मृत्यु, निद्रा आदि हैं।

रोग का एक हेतु कर्म भी माना जाता है। कर्मज रोग किसी बाह्य हेतु के बिना

भी प्रकट हो जाते हैं। कर्मज रोग हमारे लिए परोक्ष हैं। स्वाभाविक रोग जीवन का सहज क्रम है। आगन्तुक रोग आकस्मिक घटना है।

शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक—इन तीनों प्रकार के रोगों में मुख्य रोग मानसिक हैं। तात्पर्य की भाषा में—रोग के मुख्य हेतु आन्तरिक दोष—क्रोध आदि हैं।

मन वशवर्ती होता है तो वात, पित्त और कफ की अतिरिक्त विषमता नहीं होती। मन पवित्र होता है तो क्रोध आदि जनित रोग उत्पन्न नहीं होते। उसकी अस्थिरता, उच्छृंखलता और अपवित्रता में तीनों प्रकार के रोग होते हैं। इसलिए आरोग्य की पृष्ठभूमि में स्वास्थ्य सहज अपेक्षित है। स्वास्थ्य यानी स्वस्थिति—आत्मस्थता।

## क्या हम स्वस्थ हैं?

क्या हम स्वस्थ हैं?—यह प्रश्न हम किसी दूसरे से न पूछें, अपने-आप से पूछें। इस प्रश्न का उत्तर किसी दूसरे से पाने का प्रयत्न न करें किन्तु अपने-आप से ही इसका उत्तर पाने का प्रयत्न करें। यदि हमारे जीवन में समता है तो समझना चाहिए कि हम शरीर से भी स्वस्थ हैं और मन से भी स्वस्थ हैं। यदि समता नहीं है तो हम शरीर से भी स्वस्थ नहीं हैं और मन से भी स्वस्थ नहीं हैं। हम स्वास्थ्य को दो भागों में बांटते हैं। एक है शारीरिक स्वास्थ्य और दूसरा है मानसिक स्वास्थ्य। यदि हम गहरे में उतर कर देखें तो यह विभाजन जरूरी नहीं लगता। मन स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। शरीर स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि मन स्वस्थ है। शरीर और मन—दोनों जुड़े हुए हैं। मन शरीर को प्रभावित करता है और शरीर मन को प्रभावित करता है। किन्तु मन का प्रभाव शरीर पर गहरा होता है। मन का स्वास्थ्य समता से संबंधित है। यदि मन में समता है तो मानसिक स्वास्थ्य होगा और यदि समता नहीं है तो मन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। समता की साधना के जो सूत्र हैं, वे ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं।

## मानसिक स्वास्थ्य का पहला सूत्र

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है—अपने आपको जानो। मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपने आपको जानना बहुत जरूरी है। जो अपनी क्षमता को नहीं जानता, अपनी अक्षमता को नहीं जानता, वह व्यक्ति मन से स्वस्थ कैसे हो सकता है? हमारे में अपने आपको जानने की योग्यता है, क्षमता है किन्तु हमने कभी अपने आपको जानने का प्रयत्न नहीं किया। व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अक्षम अनुभव करता है, मन अनुताप से भर जाता है। अपने प्रति अभद्र व्यवहार देखकर व्यक्ति भभक उठता है, मन में असंतोष उभर आता है क्योंकि वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता। जब वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता तब वह दूसरों को ही देखता है, स्वयं को नहीं देख पाता। पिता के दो पुत्र हैं। पिता एक पुत्र को दायित्व सौंप देता है तब दूसरे

के मन में असंतोष की ज्वाला उभर आती है। यह इसलिए उभरती है कि वह यह नहीं जानता -- वह इस दायित्व के लिए अक्षम है। जो व्यक्ति अपने आप को नहीं जानता, वह अपने मन में सदा जलने वाली आग सुलगा देता है और उसमें सदा जलता रहता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्वयं की योग्यता और अयोग्यता का निरीक्षण बहुत आवश्यक है।

## परिणामों की स्वीकृति

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का दूसरा सूत्र है—परिणामों की स्वीकृति। हम प्रवृत्ति करते हैं किन्तु उसके परिणामों को स्वीकार नहीं करते और इसीलिए मन में असंतोष और अशांति पैदा होती है। कृत के परिणामों से जहां अपने आपको बचाने की मनोवृत्ति होती है, वहां मानसिक स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है। रोग का एक कीटाणु उसमें घुस जाता है। परिणाम को स्वीकार करने के लिए मन बहुत शक्तिशाली चाहिए। जो मन शक्तिहीन होता है, वह कभी परिणामों को स्वीकार नहीं कर सकता। हमें अच्छे या बुरे—सभी प्रकार के परिणामों को स्वीकारना चाहिए। जिस व्यक्ति में परिणामों को स्वीकार करने का साहस नहीं होता, वह परिणामों को दूसरे के माथे पर मढ़ देता है, स्वयं बच निकलना चाहता है। यदि परिणाम अच्छा है तो उसका श्रेय स्वयं लेना चाहेगा और यदि परिणाम बुरा है तो उसका श्रेय दूसरे पर उंडेल देगा। यह साहसहीनता है। इससे मन मलिन होता है, बीमार होता है।

## सत्य के प्रति समर्पण

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का तीसरा सूत्र है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य की व्याख्या बहुत ही जटिल है। किसे सत्य माना जाए? हमें इसमें उलझना नहीं है। सत्य का अर्थ हैं—सार्वभौम नियम (युनिवर्सल ट्रुथ)। मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, यह एक बड़ी सचाई है। कोई भी इसे नहीं टाल सकता। इस दुनिया में तीर्थंकर, भगवान्, अर्हत्, मसीहा आदि-आदि अनेक शक्तिशाली व्यक्ति हुए हैं, वे भी इस शाश्वत नियम को नहीं टाल पाए हैं। कोई भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं है। कोई भी प्राणी सदेह अमर नहीं होता। विदेह में जो अमर होता है, वह हमारे सामने नहीं है। मृत्यु एक सचाई है। कर्म एक सचाई है। काल एक सचाई है। वस्तु-स्वभाव एक सचाई है। सार्वभौम सचाइयों के प्रति जो समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकता है।

## दुःखी होने का अर्थ

एक व्यक्ति की घड़ी गुम हो गयी। व्यक्ति रोने लगा। उसके मुंह पर उदासी छा गई। जो करोड़पति हैं, उनकी जेब से भी यदि सौ रुपये गुम हो जाते हैं तो उनका

सारा दिन उदासी में बीतता है। इसका मतलब है कि वे सचाई के प्रति समर्पित नहीं हैं। वे इस सचाई को नहीं जानते--जहां संयोग है वहां वियोग निश्चित है। हम इस सचाई के प्रति समर्पित हों--'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' संयोग विप्रयोग से जुड़े रहते हैं। जिस क्षण में संयोग होता है, वियोग का सिलसिला भी चालू हो जाता है। जन्म के साथ ही मृत्यु का क्षण भी प्रारंभ हो जाता है। जन्म का अन्तिम परिणाम है मृत्यु। जन्म हो और मृत्यु न हो, यह कभी संभव नहीं है। जो मृत्यु की सचाई को जानते हैं। वे किसी के मर जाने पर अपना संतुलन नहीं खोते। कुछ दुःख होता है किन्तु वह भी स्थायी नहीं रहता, क्षणिक होता है। जिन्होंने इस शाश्वत सत्य के प्रति समर्पण नहीं किया, वे मृत्यु की घटना से विचलित हो जाते हैं और अपने मन को रोगी बना देते हैं।

### सहिष्णुता का विकास

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का चौथा सूत्र है--सहिष्णुता का विकास। सहिष्णुता को विकसित किए बिना कोई व्यक्ति संतुलित जीवन नहीं जी सकता। जो व्यक्ति सहिष्णु नहीं होता। वह अपने मन को सदा दुःख में डाले रहता है। कांच का बर्तन कब फूट जाए, कहा नहीं जा सकता। असहिष्णु व्यक्ति का मन कब टूट जाए, कहा नहीं जा सकता। थोड़ी-सी स्थिति आती है और तत्काल मन बेचैन हो उठता है। व्यक्ति ध्यान करने बैठता है। गर्मी के दिन होते हैं और पंखा अचानक बंद हो जाता है। मन ध्यान से हट कर पंखें में उलझ जाता है। मन इतना आकुल-व्याकुल हो जाता है कि बेचारा ध्यान कहीं अटक जाता है।

जिसने सहिष्णुता को साध लिया, उसके लिए सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुविधा-असुविधा कोई अर्थवान् नहीं होते। ऐसा व्यक्ति अपने मन और शरीर का ऐसा निर्माण कर लेता है, जिससे वह हर स्थिति को झेलने में समर्थ और सक्षम होता है।

### यथार्थ प्रस्तुति

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पांचवां सूत्र है--अपने आपको यथार्थरूप में प्रस्तुत करना। व्यक्ति अपने आपको यथार्थ-रूप में प्रस्तुत करना नहीं चाहता। वह अपने आपको उस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़े। किन्तु जब यथार्थ सामने आता है तब बहुत कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।

सामाजिक संदर्भ में अपने-आपको अयथार्थरूप में प्रस्तुत करना अपने-आपको धोखा देना है, दूसरे को धोखा देना है। इससे अनेक कठिनाइयां और समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

### आयुर्वेद में स्वास्थ्य

आयुर्वेद में शरीर के स्वास्थ्य को ही स्वास्थ्य नहीं माना है, मन के स्वास्थ्य

को भी स्वास्थ्य माना है। प्रश्न आया--स्वस्थ कौन? कहा गया--

*समाग्निः समदोषश्च, समधातुमलक्रियः।*
*प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते।।*

जिस व्यक्ति के शरीर की धातुएं सम हैं, विषम नहीं हैं, अग्नि सम है, विषम नहीं है, दोष और मल की क्रिया भी सम है, वह स्वस्थ है। जिसकी इन्द्रियां उच्छृंखल नहीं हैं, जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण है, जो प्रसन्न आत्मा है, वह स्वस्थ है। शरीर की धातुएं और मल-दोष सम हैं किन्तु मन की प्रसन्नता नहीं है, निर्मलता नहीं है तो व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है, वह स्वस्थ नहीं हो सकता। स्वस्थ रहने के लिए शरीर की क्रियाओं का ठीक होना और मन की प्रसन्नता का होना--दोनों आवश्यक हैं।

**आहार का स्वास्थ्य पर प्रभाव**

आहार का भी मानसिक स्वास्थ्य के साथ बहुत सम्बन्ध है। एक प्रकार का भोजन करने वाला व्यक्ति बहुत क्रोधी बन जाता है। एक प्रकार का भोजन करने वाला व्यक्ति लालची बन जाता है। वृत्ति के साथ भोजन का बहुत गहरा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

पहले मानसशास्त्री और मानसचिकित्सक मानते थे कि मानसिक विकृतियों के कारण, मस्तिष्कीय दुर्बलता के कारण मानसिक बीमारियां पैदा होती हैं। किन्तु अब नयी खोजों से यह पता चला है—अपोषण और कुपोषण--ये दोनों मानसिक बीमारियों के लिए काफी जिम्मेदार हैं। पूरा पोषण नहीं मिलता है तो स्नायविक दुर्बलता होती है, मानसिक रोग पैदा होते हैं। कुपोषण से भी मानसिक रोग पैदा होते हैं।

भोजन का मतलब कोरा पेट भरना ही नहीं है। शरीर को जिन तत्त्वों के संतुलन की जरूरत है, जो तत्त्व शरीर में पूरा कार्य करते हैं, उनके सम्यग् आहरण से शरीर और मन को पोषण मिलता है। शरीर के पूरे यन्त्र को संचालित करने के लिए कार्बोहाइड्रेट भी चाहिए, चिकनाई भी चाहिए, लवण भी चाहिए, क्षार भी चाहिए। विटामिन--सारतत्त्व भी चाहिए। अगर एक नहीं मिलता है तो उससे सम्बन्धित अंग निकम्मा हो जाता है। शरीर का श्रम करने वाला व्यक्ति यदि अन्न ज्यादा खाता है तो कठिनाई पैदा नहीं होती। मानसिक काम करने वाला, बौद्धिक श्रम करने वाला कोरे अन्न पर रहे, उसे स्वस्थ पोषण न मिले तो मानसिक अवस्था गड़बड़ा जाएगी। इसलिए संतुलन यानी न अपोषण और न कुपोषण किन्तु सम्यक् पोषण। यह आज मानसिक स्वास्थ्य के लिए मानसशास्त्रियों के द्वारा सम्मत हो गया है। इस स्थिति में आहार पर अनेक कोणों से विचार करना जरूरी है।

## स्वास्थ्य का आधार : मानसिक स्वास्थ्य

आज चिकित्सा विज्ञान और आयुर्विज्ञान में भी इस सचाई को स्वीकारा गया है कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक है। बहुत सारी बीमारियां हमारे मन के कारण होती हैं। बड़ा आश्चर्य होता है। किन्तु आदमी उद्वेग करता है, आवेश में आता है और घृणा भी करता है। वह दूसरों की निन्दा भी करता है, दूसरों को सताता भी है। ये सारी मानसिक प्रवृत्तियां करता है और अपने आपको स्वस्थ भी रखना चाहता है, यह कैसे संभव है?

जिस व्यक्ति को अपना मानसिक स्वास्थ्य इष्ट नहीं है, उसे शारीरिक स्वास्थ्य भी इष्ट नहीं है। कैंसर की बीमारी, अल्सर की बीमारी, श्वास-दमा की बीमारी—इस प्रकार की बहुत सारी बीमारियां मन से जुड़ी हुई बीमारियां हैं। मन में एक प्रकार की भावना जागती है और बीमारी पैदा हो जाती है।

यह दृष्टिकोण बने—बीमारी की खोज मन में की जाए। हम देखें, कौनसी वृत्ति मन में जाग रही है, कौनसी वृत्ति प्रबल है, सक्रिय है और उसके द्वारा किस प्रकार की बीमारी पैदा हो रही है। मानसिक स्वास्थ्य को पाने के लिए आवेशों पर, क्षोभ और चंचलता पर नियंत्रण आवश्यक है। कोई भी घटना सुनी और मन क्षुब्ध हो गया। तालाब में कंकड़ फेंका और तरंग उठ गई। तरंगें उठती रहेंगी तो वह पानी कभी शांत नहीं होगा। इस प्रकार बाहरी घटना एक तरंग पैदा कर देती है तो मन स्वस्थ नहीं रह सकता और मन स्वस्थ नहीं रहता तो फिर तन भी स्वस्थ नहीं रह सकता। इस सचाई का स्पष्ट अनुभव दृष्टिकोण के बदले बिना संभव नहीं लगता।

## स्वस्थता का रहस्य : स्वस्थ चिंतन

चिन्तन से व्यक्ति को परखा जा सकता है, व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का परीक्षण किया जा सकता है।

आचार्य भिक्षु जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। संयोगवश कोई साधु पास में नहीं था। वे अकेले ही थे। उस मार्ग से एक काफिला निकला। कुछ लोग पास में आए। उन्होंने वंदना कर पूछा—'महाराज आप कौन हैं? आपका नाम क्या है।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'मैं मुनि हूं। मेरा नाम है भीखन।' लोग एक साथ बोल पड़े-'अरे, भीखनजी! हमने आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है। गांव-गांव में आपकी महिमा के गीत गाए जा रहे हैं। हमारे मन में तो आपकी तस्वीर ही दूसरी थी। हमने सोचा था—कितने बड़े सन्त होंगे। उनके साथ संतों की बड़ी टोली होगी। उनके पास हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर आदि होंगे, बड़ा ठाट-बाट होगा। परन्तु आप तो अकेले ही हैं। जमीन पर बैठे हैं। न नौकर, न चाकर, न घोड़ा, न हाथी। सामान्य व्यक्ति की भांति बैठे हैं।

आचार्य भिक्षु का यदि चिन्तन अस्वस्थ होता तो मन-ही-मन दुःखी हो जाते

और यह सोचते कि लोगों के मन में मेरी तस्वीर कुछ और है किन्तु मैं कुछ और हूं। यदि जमीन फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—'यदि मेरे पास इतना ठाट-बाट होता तो इतनी महिमा नहीं होती। मैं अकेला हूं इसीलिए यह सारी महिमा है। जो व्यक्ति अपने में अकेला होता है और अपने अकेलेपन का अनुभव करता है, वह स्वयं अपनी महिमा का अनुभव करता है, दूसरे भी उसकी महिमा का अनुभव करते हैं।'

## आघात का परिणाम

अनेक बीमारियां मानसिक दुर्बलताओं के कारण पनपती हैं। एक भाई को मैंने पूछा—तुम स्वस्थ थे। हट्टे-कट्टे थे। ऐसी स्थिति कैसे हो गई? पूरा शरीर थका-मांदा-सा लगता है। क्या बात है?

उसने कहा—मेरे परिवार का एक सदस्य अत्यन्त बीमार हो गया था। वह न चल सकता है, न उठ-बैठ सकता है, न करवट ही बदल सकता है। उसकी स्थिति को देखकर मुझे बहुत धक्का लगा। उसी दिन से मेरी यह स्थिति हो रही है। न खाया हुआ पचता है और न कोई पदार्थ अच्छा लगता है।

## महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-सूत्र

यह मन की बीमारी है, शरीर की नहीं। दूसरों पर आरोप लगाने के भयंकर परिणाम होते हैं। दूसरों पर आरोप लगाने वाला, दूसरों पर आरोप लगाने से पूर्व स्वयं आरोपित हो जाता है और अनजाने ही मन उस बात को इतना पकड़ लेता है। वह व्यक्ति अपराधी की भांति मन ही मन घुलने लग जाता है। यह एक प्रकार का कैन्सर है। कैन्सर का, अन्तर्व्रण और शल्य का पता नहीं चलता पर भीतर ही भीतर वह विकृति पैदा कर देता है और एक दिन जब विस्फोट होता है तब ज्ञात होता है कि कितना भयंकर परिणाम हुआ है।

मन की बीमारियां अपने आपको न देखने के कारण पैदा होती हैं। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें'—यह एक छोटा सी बात लगती है किन्तु यह महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-सूत्र है, कारगर औषधि है। यदि यह एक सूत्र हृदयंगम हो जाता है तो सारी चिकित्सा पद्धतियां हाथ लग जाती हैं।

## मंत्रशक्ति का प्रभाव

मंत्र की आराधना के द्वारा, मंत्र चिकित्सा के द्वारा मन को स्वस्थ और शक्तिसंपन्न बनाया जा सकता है। मुनि सुदर्शन भगवान् पार्श्व की परंपरा के शक्ति-संपन्न मुनि थे। एक कापालिक अपनी महाशक्ति के द्वारा उन्हें भस्म कर देना चाहता था। उसने शक्ति का प्रयोग किया। मुनि सुदर्शन को शक्ति का भान हो गया। वे तत्काल

कायोत्सर्ग में स्थित हो जाए। उन्होंने अपनी पवित्र लेश्या और जागरूकता के द्वारा अपने आभामंडल को इतना शक्तिशाली बना दिया कि वह महाशक्ति उस आभा-वलय को भेद कर मुनि सुदर्शन तक नहीं पहुंच सकी। उसने लौटकर प्रयोक्ता को ही जला डाला।

जब अप्रमाद और वीतरागभाव जागृत होता है तब कोई भी व्यक्ति सता नहीं सकता।

मंत्र मन के संक्लेशों को दूर करने का बहुत बड़ा माध्यम है। इसीलिए मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह चिकित्सा बन जाता है। जब हम अर्हत् का ध्यान करते हैं तब मन के संक्लेश दूर होते हैं। जब हम अर्हत् का अपने में अनुभव करते हैं तब शरीर का कण-कण वज्रमय बनने लग जाता है, एक अभेद्य कवच तैयार हो जाता है।

### प्राण का महत्त्व

मंत्र-साधना में प्राण का बहुत बड़ा महत्त्व है। जब तक हम प्राणशक्ति को नहीं समझते तब तक मंत्र की वास्तविकता भी हमारी समझ में नहीं आ सकती। हमारा समूचा जीवन-तंत्र प्राणशक्ति के द्वारा संचालित होता है। तैजस शरीर प्राणशक्ति या जैविक विद्युत् का बड़ा खजाना है। शरीर के सभी मुख्य केन्द्र मस्तिष्क में हैं। ये सक्रिय होते हैं प्राण के द्वारा। प्राण सूर्य की उष्मा को लेता है और चक्षु को सक्रिय बनाता है। समान प्राणधारा मन को सक्रिय बनाती है। अपान प्राणधारा हमारे समूचे शक्ति-तंत्र को सक्रिय बनाती है। शक्ति का मुख्य स्थान है--अपान का स्थान, नाभि से शक्तिकेन्द्र तक का स्थान। व्यान प्राण हमारी श्रोतृ-शक्ति को सक्रिय बनाता है। उदान प्राण कंठ से ऊपर की सारी शक्ति को सक्रिय करता है।

हम नमस्कार महामंत्र का संदर्भ लें। नमस्कार महामन्त्र की आराधना जब प्राणशक्ति के साथ जुड़ जाती है तब हमारा मन इतना स्वस्थ होता है कि सामान्यतः उस स्वास्थ्य की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती।

मन का स्वास्थ्य प्राणधारा के साथ जुड़ा हुआ है। जब प्राण को सक्रिय और निर्मल बनाना है तो फिर नमस्कार महामंत्र की साधना प्राण के पांच बीजों के साथ करनी चाहिए। प्राणधारा के पांच बीज हैं--यैं, पैं, वैं, रैं, लैं। इन बीजाक्षरों के साथ महामन्त्र की आराधना की जाती है।

### प्रश्न मंत्र की आराधना का

मंत्र के तीन तत्त्व हैं--शब्द, संकल्प और साधना। शब्द मन के भावों को वहन करता है। मन के भाव शब्द के वाहन पर चढ़कर यात्रा करते हैं। कोई विचार-संप्रेषण (टेलीपेथी) का प्रयोग करे, कोई सजेशन या ऑटो सजेशन का प्रयोग करे, उसे सबसे पहले ध्वनि का, शब्द का सहारा लेना ही पड़ता है। वह व्यक्ति अपने मन में भावों

को तेज ध्वनि में उच्चारित करता है। ध्वनि की तरंगें तेज गति से प्रवाहित होती हैं। फिर वह उच्चारण को मध्यम करता है, धीरे-धीरे मंद कर देता है। पहले होंठ और कंठ अधिक सक्रिय थे, वे मंद हो जाते हैं, ध्वनि मंद हो जाती है। होंठ तक आवाज पहुंचती है और बाहर नहीं निकलती। जोर से बोलना या मंद स्वर में बोलना--दोनों कंठ के प्रयत्न हैं, स्वर-यंत्र के प्रयत्न हैं।

कंठ का प्रयत्न शक्तिशाली होता है किन्तु बहुत शक्तिशाली नहीं होता। उसका परिणाम आता है किन्तु वह परिणाम नहीं आता, जिसकी हम मंत्र से उम्मीद करते हैं। हम मानते हैं कि मंत्र से यह हो सकता है, वह हो सकता है। वैसा कंठध्वनि का परिणाम नहीं आता, तब निराशा आती है और मन्त्र के प्रति संशय हो जाता है। मन्त्र की वास्तविक परिणति या मूर्धन्य परिणाम तब आता है जब कंठ की क्रिया समाप्त हो जाती है और मन्त्र हमारे दर्शन-केन्द्र में पहुंच जाता है। यह मानसिक क्रिया है। जब मंत्र की मानसिक क्रिया होती है, मानसिक जप होता है तब न कंठ की क्रिया होती है, न जीभ हिलती है, न होठ और दांत हिलते हैं। स्वर-यंत्र का कोई प्रकंपन नहीं होता। मन दर्शनकेन्द्र में केन्द्रित हो जाता है। जो व्यक्ति मंत्र का मानसिक अभ्यास करना चाहें वे अपनी आंखों की कीकी को थोड़ा ऊपर उठाएं, भृकुटि को भी ऊपर उठाएं, मन की पूरी शक्ति को दर्शनकेन्द्र पर केन्द्रित करें और इसी स्थान से मन्त्र का जाप करें। उच्चारण नहीं, केवल मंत्र का दर्शन, मंत्र का साक्षात्कार, मंत्र का प्रत्यक्षीकरण। इस स्थिति में मंत्र की आराधना से वह सब कुछ उपलब्ध होता है जो उसका विधान है। मंत्र इस भूमिका तक पहुंचकर ही कृतकृत्य होता है। यह उसके आरोहण की भूमिका है। मानसिक जप की भूमिका उपलब्ध हुए बिना हम मन की स्वस्थता की भी पूरी परिकल्पना नहीं कर सकते।

**मानसिक स्वास्थ्य : चैतन्य केन्द्र की सक्रियता**

मन का स्वास्थ्य हमारे चैतन्यकेन्द्रों की सक्रियता पर निर्भर है। जब सारे चैतन्यकेन्द्र सक्रिय हो जाते हैं तब हमारी शक्ति का स्रोत फूटता है। इसके बिना मन शक्तिशाली नहीं बनता। मन पर निरन्तर आघात और प्रतिघात होते रहते हैं। सामाजिक, पारिवारिक और राजनीतिक वातावरण में ऐसी घटनाएं घटित होती रहती हैं जिनसे मन आहत होता है, प्रतिहत होता है। इतने आघात-प्रतिघात के बीच रहता हुआ मन स्वस्थ कैसे हो सकता है?

मन पर होने वाले आघातों से बचने का एक ही उपाय है--हम अपने चैतन्यकेन्द्रों को सक्रिय करें। चैतन्यकेन्द्रों को सक्रिय करने की भी प्रक्रिया है। तैजसकेन्द्र पर ध्यान किया, मन का प्रकाश नाभि से सुषुम्ना तक, पृष्ठभाग तक फैलाया। इससे मन की एकाग्रता सधेगी और सारा तैजसकेन्द्र सक्रिय हो जायेगा। जहां मन जाता है वहां प्राण

का प्रवाह भी जाता है। जिस स्थान पर मन केन्द्रित होता है, प्राण उस ओर दौड़ने लगता है। जब मन को प्राण का पूरा सिंचन मिलता है और शरीर के उस भाग के सारे अवयवों, अणुओं और परमाणुओं को प्राण और मन–दोनों का सिंचन मिलता है तब वे सक्रिय हो जाते हैं। जो कण सोये हुए हैं, वे जाग जाते हैं, शक्ति बढ़ जाती है। हम अतिकल्पना न करें कि दो-चार-दस दिन में चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करने से उनकी सक्रियता बढ़ जायेगी। उसके लिए दीर्घकालीन साधना अपेक्षित है।

यह तथ्य है-- एक चैतन्यकेन्द्र के सक्रिय होने पर सारे चैतन्य-केन्द्र सक्रिय नहीं हो जाते। दूसरे चैतन्यकेन्द्र निष्क्रिय पड़े रहते हैं। यह कसौटी है कि जिस केन्द्र पर स्पंदनों का अनुभव हो, प्रकाश दिखे, वह चैतन्य-केन्द्र सक्रिय है। जहां कुछ भी अनुभव नहीं होता, वे चैतन्यकेन्द्र निष्क्रिय हैं। जो सक्रिय हैं, उन्हें और अधिक सक्रिय बनाना और जो निष्क्रिय हैं, उन्हें सक्रिय बनाना, यह मंत्र-साधना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बात हैं। मंत्र के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। मन के प्रकाश से उन केन्द्रों को प्रकाशित कर ऐसा किया जा सकता है। जब तक हमारे चैतन्यकेन्द्र सक्रिय नहीं होंगे जब तक हमारी शक्ति के मूल स्रोत या प्राणधारा को स्वीकार करने वाले केन्द्र अपना काम नही करेंगे तब तक विद्युत् का पूरा प्रवाह हमें उपलब्ध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में मन भी शक्तिशाली नहीं बनेगा। मन को शक्तिशाली बनाने के लिए चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान और चैतन्यकेन्द्रों पर मंत्र की आराधना–दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं।

## शब्द की सीमा

अपान प्राणधारा से वाणी प्रस्फुटित होती है अथवा शक्तिकेन्द्र से वाक् प्रस्फुटित होती है। वह ध्वनित नहीं होती, उच्चारित नहीं होती किन्तु उसका पहला प्रस्फुटन शक्तिकेन्द्र से होता है, अपान प्राण की मर्यादा में होता है। बीज अंकुरित नहीं होता किन्तु उसका प्रस्फुटन हो जाता है। मन्त्र की उपासना करने वाले व्यक्ति सबसे पहले अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं शक्तिकेन्द्र पर। जब शक्तिकेन्द्र से वाक् का, मन्त्र के शब्दों का प्रस्फुटन शुरू होता है तब वह आरोहण करते-करते स्वास्थ्यकेन्द्र,तैजसकेन्द्र, आनन्दकेन्द्र, प्राणकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र तक पहुंचता है, विशुद्धिकेन्द्र तक आते-आते शब्द की सीमा समाप्त हो जाती है। आगे वह मंत्र प्राण की सीमा में, मन की सीमा में चला जाता है, सक्रियता उत्पन्न करता है और सारे तंत्र को शक्तिशाली बना देता है।

## मंत्र के तीन तत्त्व

मंत्र का पहला तत्त्व है–शब्द और शब्द से अशब्द। शब्द अपने स्वरूप को छोड़कर प्राण में विलीन हो जाता है, मन में विलीन हो जाता है तब वह अशब्द बन जाता हैं।

जब तक मंत्र के तीनों तत्त्व—शब्द, संकल्पशक्ति और साधना का समुचित योग नहीं होता तब तक मंत्रसाधक सत्य-संकल्प नहीं होता। सत्य संकल्प का अर्थ है—संकल्प की सिद्धि कर लेना, संकल्प का सफल हो जाना, संकल्प का यथार्थ बन जाना। कल्पना से संकल्प और संकल्प से यथार्थ। संकल्प और यथार्थ की दूरी समाप्त हो जाए।

## संक्लेश चिकित्सा

मंत्र का संकल्प किया और कालान्तर में वह यथार्थ बनकर प्रत्यक्ष हो गया—इस भूमिका में पहुंचकर ही मंत्र-चिकित्सा के द्वारा मन की बीमारियों को मिटाया जा सकता है। इस स्थिति में ही मन के संक्लेशों की चिकित्सा की जा सकती है। जब व्यक्ति का मन स्वस्थ होता है तब उसमें धर्म का अवतरण होने लगता है। यह सहज होता है, विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उस समय ऐसा लगता है कि किसी दिव्य-शक्ति का प्रकाश, प्रसाद या अनुग्रह अपने-आप बरस रहा है और आत्मा में प्रवेश कर रहा है। इसे हम किसी नाम से पुकारें। ईश्वर के कर्त्तृत्व में विश्वास करने वाला मान ले कि ईश्वर का प्रसाद बरस रहा है, अनुग्रह बरस रहा है। अपने आत्म-कर्त्तृत्व में विश्वास करने वाला मान ले कि आत्मा का जागरण हो रहा है, चैतन्यकेन्द्रों की सारी शक्तियां पूरे शरीर में अवतरित हो रही हैं।

## मनः समस्या और समाधान

जब मन स्वस्थ, चेतना जागृत होती है, तव व्यक्ति सभी प्रकार की परिस्थितियों में संतुलित रहेगा। परिस्थितियों का प्रभाव उस तक पहुंचेगा ही नहीं। समस्या उस व्यक्ति का स्पर्श नहीं कर पाएगी। उसको यह स्पष्ट दर्शन हो जाएगा कि समस्या यह है और समाधान यह है। समस्याओं से आक्रांत होने वाले व्यक्ति, समस्याओं के नीचे दब जाने वाले व्यक्ति, समस्याओं का सही समाधान नहीं पा सकते। समस्याओं का समाधान वे ही व्यक्ति पा सकते हैं, जो समस्याओं को तीसरे व्यक्ति की भांति सामने खड़ा देखते हैं। यह रहा मैं, यह है मेरा मन और यह है समस्या। समस्याएं दरवाजे के बाहर खड़ी हैं, मैं भीतर हूं। इनका समाधान यह है। ऐसे व्यक्ति ही समस्याओं का समाधान दे सकते हैं। चोर और डकैत को घर में घुसने दें और चोरी-डकैती न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? समस्याओं से मन आक्रांत करें और वह अस्वस्थ न हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? समस्याओं का समाधान तभी संभव है जब हम उनको मन के भीतर प्रवेश न करने दें। समस्या समस्या के स्थान पर, मन मन के स्थान पर और समाधान समाधान के स्थान पर। यह तभी संभव है जब हमारे चैतन्यकेन्द्र जागृत हो जाएं, सक्रिय हो जाएं। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा यह संभव है। चैतन्यकेन्द्रों को जागृत कर हम मन पर ऐसा कवच तैयार कर दें, जिससे बाहर का कुछ भी प्रवेश न कर सके। इस स्थिति में ही मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि संभव

बन सकती है।

**मानसिक स्वास्थ्य : छह पेरामीटर**

मनोविज्ञान ने 'परसनेलिटि पेरामीटर' की पद्धति से व्यक्तित्व को अंकित करने और मानसिक स्वास्थ्य को जांचने के छह सूत्र—छह पेरामीटर दिए हैं।

पहला पेरामीटर है--वेश-भूषा। व्यक्ति कैसे कपड़े पहनता है? वह अपने प्रति कितना सजग है? यह कपड़ों को किस चतुराई से धारण करता है? कपड़े पहनने की विधि से मन की प्रसन्नता नापी जा सकती है।

दूसरा पेरामीटर है--व्यवहार। व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है। कभी संतुलित व्यवहार और कभी असंतुलित व्यवहार करने वाले का मन स्वस्थ नहीं होता। जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो उसके प्रति सामने वाला कितना ही दुर्व्यवहार क्यों न करे, वह अपना संतुलन नहीं खोएगा। वह अच्छा व्यवहार ही करेगा। वह अपने अच्छे व्यवहार के द्वारा सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार को बदलेगा या उसे यह सोचने के लिए बाध्य करेगा कि यह व्यक्ति सचमुच ही विनम्र और सद्-व्यवहार करने वाला है।

तीसरा पेरामीटर है--विचार। मनुष्य का सारा जीवन विचार के द्वारा संचालित होता है। उसके जीवन का सारा कार्य-कलाप विचार के द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु वह नहीं जानता कि कैसे सोचना चाहिए? कैसे चिंतन करना चाहिए? आदमी सोचने कुछ बैठता है और सोच कुछ और लेता है। सोचते समय मनुष्य के सामने अनेक तर्क प्रस्तुत होते हैं और वह अपने सोचने के मार्ग से भटक जाता है। विचार के द्वारा व्यक्ति को परखा जा सकता है। विचार के द्वारा ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को जाना जा सकता है। जब मन स्वस्थ होता है तब व्यक्ति की उपज भी स्वस्थ होती है। वह सही बात को सही ढंग से सोचता है।

चौथा पेरामीटर है—प्रतिक्रिया। विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। कोई व्यक्ति कटु बात कहता है तो उसका उत्तर कटु बात से ही दिया जाए, यह जरूरी नहीं है। किंतु जब ये प्रतिक्रियाएं प्रगट होती हैं तब यह जान लिया जाता है कि व्यक्ति मन से कितना रुग्ण है। पिता यदि मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो पुत्र के क्रोधित होने पर भी वह विचलित नहीं होता। वह कहेगा—'बेटा! कोई बात नहीं है। धैर्य रखो। शांत होकर इस बात को सोचो।'

पांचवा पेरामीटर है—स्वभाव। आदमी आलसी है या कर्मठ? आशावादी है या निराशावादी? कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो आशा में भी निराशा खोज लेते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो निराशा में भी आशा ढूंढ निकालते है। आशावादी व्यक्ति नीरस

वातावरण में भी उत्साह भर देता है। हम यह न मानें--जो व्यक्ति हमेशा आशा और उत्साह की बात करते हैं, वे अयथार्थ हैं। वह जीवन का यथार्थ है, पलायन नहीं है। वे इस सचाई में एक तथ्य यह जोड़ देना चाहते हैं, जिससे यह सचाई वास्तविक सचाई या क्रियान्विति की सचाई बन जाए।

छठा पेरामीटर है–निर्णय की शक्ति। व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नहीं लेता? व्यक्ति तत्काल निर्णय लेता है या नहीं लेता? निर्णायक क्षमता के आधार पर मानसिक स्वास्थ्य का पता लगाया जा सकता है।

## समता और स्वास्थ्य

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य परीक्षण के ये बिन्दु सुझाएं हैं। दूसरा निष्कर्ष है–जो व्यक्ति संतुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, मन को आवेगों और दुश्चिंताओं की भट्टी में नहीं झोंकता, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। समता का बहुत बड़ा परिणाम है--मानसिक स्वास्थ्य। जिस व्यक्ति ने समता का मूल्यांकन नहीं किया, उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी भी संजोकर रखने का प्रयत्न नहीं किया। समता और मानसिक स्वास्थ्य--एक दूसरे के पर्याय हैं। इस सचाई को आत्मसात् करने वाला मानसिक स्वास्थ्य को उपलब्ध हो जाता है।

# मनोदशा कैसे बदलें

मनुष्य एकरूप नहीं होता। वह बदलता रहता है। उसके भाव बदलते हैं, मन बदलता है। आज मूड (Mood) शब्द बहुत प्रचलित है। मूड का अर्थ है मनोदशा। भाव के साथ-साथ मनोदशाएं बदलती हैं, मुद्राएं बदलती हैं। कोई भी आदमी कभी एकरूप में नहीं मिलता। प्रातःकाल प्रसन्न मुद्रा में है तो मध्यान्ह में क्रुद्ध मिलेगा। प्रातःकाल यदि शांत है तो सायंकाल भीषण ज्वार-भाटे में मिलेगा। कहा नहीं जा सकता कि आदमी कब कैसा बन जाए। इसलिए सोचना पड़ता है कि किस आदमी से कब काम लिया जाए।

## मूड क्यों बिगड़ता है?

आजकल एक विशेष रसायन पर बहुत खोज हो रही है, वह है 'ट्रिप्टोफेन'। यह सेराटोनिन का निर्माण करता है। आदमी का मूड बिगड़ता है। इसका मूल कारण है ट्रिप्टोफेन (TRVPTOPHAN) की कमी और फलतः सेरोटोनिन (SERATONAN) की कमी। यदि यह तत्त्व पर्याप्त मात्रा में होता है तो न मूड बिगड़ता है, न भय लगता है। इससे पीड़ा सहन करने की क्षमता भी बढ़ती है।

## अन्न और मन का संबंध

आहार के तीन प्रकार हैं--राजसिक आहार, तामसिक आहार और सात्विक आहार। जीवन का भोजन के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए कहा गया--जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। अन्न और मन का सम्बन्ध गहरा है। दूसरे शब्दों में, अन्न और भावों का गहरा संबंध है। इसीलिए भोजन सम्बन्धी अनेक वर्जनाएं की गईं। तामसिक भोजन नहीं करना चाहिए, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए, प्याज-लहसुन आदि का वर्जन करना चाहिए। मांस और मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए, आदि-आदि। योद्धाओं के लिए मांस-मदिरा की छूट थी, क्योंकि क्रूर हुए बिना दूसरों का कत्लेआम नहीं किया जा सकता। योद्धा को क्रूर होना होता है तभी वह अपने शत्रुओं को घास की भांति काट सकता है। उसके लिए तामसिक आहार की उपयोगिता बताई गई । सात्विक आहार करने वाले के मन में करुणा जाग जाती है।

वह दूसरे को मार नहीं सकता। पहले मांस-मदिरा का प्रयोग सीमित दायरे में था पर आज यह समाजव्यापी बन गया। सभी योद्धा बन गए।

## पाचनक्रिया और स्वभाव

पाचनक्रिया का स्वभाव के साथ संबंध है। पाचनक्रिया ठीक नहीं है तो शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा। पाचन ठीक नहीं होगा तो चयापचय की क्रिया ठीक नहीं होगी। इसका भावनात्मक स्वास्थ्य पर भी बहुत असर होता है। जिस व्यक्ति का पाचन ठीक नहीं है, उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है।

मैंने स्वयं अनुभव किया है--जिसका पाचन-तंत्र और उत्सर्जन-तंत्र स्वस्थ नहीं होता, वह स्वभाव से भी स्वस्थ नहीं होता। पाचन-तंत्र ठीक नहीं होता है तो स्वभाव में विकृतियां आ जाती हैं। खाते खूब हैं किन्तु सफाई होती नहीं है। मल का निष्कासन ठीक प्रकार से नहीं होता है, कब्ज रहता है, कोष्ठबद्धता रहती है तो सारा स्वभाव गड़बड़ा जाता है। उदासी, बेचैनी, बुरी कल्पना और बुरे विचार आने लग जाते हैं। हमें जागरूक होना है इन दो तंत्रों के प्रति--पाचन-तंत्र के प्रति और उत्सर्जन-तंत्र के प्रति। जो लोग इसमें जागरूक नहीं होते, उनका दिमाग भी ठीक काम नहीं करता, स्मृति भी ठीक काम नहीं करती। स्मृति-दोष और उत्सर्जन-तंत्र में बहुत गहरा संबंध है। प्रसन्नता से भी उसका बहुत गहरा संबंध है। हमारा जितना ध्यान खाने पर केन्द्रित है उतना उत्सर्जन पर केन्द्रित नहीं है। होना तो यह चाहिए कि खाने की अपेक्षा उत्सर्जन पर अधिक ध्यान केन्द्रित हो। ऐसा होगा तो भावशुद्धि भी रहेगी, विचारशुद्धि भी रहेगी। बुरे विचार, बुरी कल्पना और बुरे स्वप्न भी नहीं आएंगे।

## स्वरोदय साधना

प्रश्न है कि मनोदशा क्यों बदलती है? कारण क्या है? हम कारण पर विचार करें। वह कारण बाहर नहीं है, अपने ही भीतर है। हम जो श्वास लेते हैं, वह दो भागों में बंटा हुआ है। हम कभी बाएं नथुने से और कभी दाएं नथुने से श्वास लेते हैं। कभी दायां स्वर चलता है, कभी बायां स्वर चलता है और कभी दोनों साथ-साथ चलते हैं। स्वरोदय की भाषा में बाएं स्वर को चन्द्रस्वर और दाएं स्वर को सूर्यस्वर कहा जाता है। जब दोनों स्वर साथ चलते हैं तब उसे सुषुम्ना स्वर कहा जाता है। ये तीन स्वर हैं। श्वास और स्वर का संबंध मस्तिष्क से है। जब बायां स्वर चलता है तब दायां पटल सक्रिय होता है। जब दायां स्वर चलता है तब बायां पटल सक्रिय होता है। हमारा मस्तिष्क दो गोलार्धों में विभक्त है--दायां और बायां। दोनों का अलग-अलग कार्य है। इस विषय में बहुत अनुसंधान हुए हैं।

स्वरोदय में यह विवेचित हुआ है कि कौन से स्वर में कौनसा कार्य करना चाहिए। कार्य दो भागों में विभक्त है--चल कार्य और स्थिर कार्य। सौम्य कार्य और

क्रूर कार्य। जब चन्द्रस्वर चलता है तब सौम्य कार्य करना चाहिए। सौम्य और शांत कार्य उसी में सफल होते हैं। यह बहुत वैज्ञानिक चिन्तन है। जब चन्द्रस्वर चलता है तब मस्तिष्क का दायां पटल सक्रिय होता है। दायां पटल सौम्य और शांत कार्य के लिए उत्तरदायी है। स्वरविद्या का विशेषज्ञ व्यक्ति निरन्तर अपने स्वरों की जानकारी करता रहता है। वह जानता है कि किसी के साथ मैत्री करनी है, किसी को अपनी बात से सहमत करना है, किसी को कोई बात जचानी है तो सारा कार्य चन्द्रस्वर में निष्पन्न होना चाहिए। उस समय मूड शांत रहता है। उसी स्थिति में सामने वाले पर प्रभाव पड़ सकता है। अन्यथा सामने वाला व्यक्ति बात सुनते ही उत्तेजित हो जाएगा, बात बिगड़ जाएगी। स्वयं का मूड और सामने वाले व्यक्ति का मूड--दोनों को स्वर के साथ मिलाया जाता है, बात बन जाती है।

कोई व्यक्ति यदि चन्द्रस्वर में कठोर कर्म, वाद-विवाद आदि करने जाता है तो पहले ही क्षण में हार जाता है। कठोर कर्म सूर्यस्वर में ही सफल हो सकते हैं। जब दायां स्वर--सूर्यस्वर चलता है तब बांयां पटल सक्रिय होता है। उस समय तर्कशक्ति का विकास होता है। उस समय होने वाले तक-वितर्क में सूर्यस्वर वाला व्यक्ति जीत जाएगा। लड़ना, झगड़ना, संघर्ष करना और विवाद करना--ये सारे कठोर कर्म हैं। इनको सूर्यस्वर में ही किया जाना चाहिए।

साधु-संत चन्द्रस्वर को विकसित करते हैं। उन्हें उत्तेजित करना सरल नहीं होता। एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा--'आप ज्ञानी हैं। मुझे कोई तत्त्वज्ञान पूछिए।'

भिक्षु बोले--तत्त्वज्ञान की बात रहने दो। ऐसे ही औपचारिक बात करो।

उसने कहा--नहीं, तत्त्व के विषय में पूछिए।

भिक्षु बोले--तुम संज्ञी हो या असंज्ञी अर्थात् मन वाले हो या अमन वाले?

उसने कहा--संज्ञी।

किस न्याय से?

नहीं, नहीं, असंज्ञी।

'किस न्याय से?'

'नहीं, नहीं, दोनों।'

' किस न्याय से?'

'नहीं, नहीं, दोनों नहीं।'

'किस न्याय से?'

वह उत्तेजित होकर बोला--न्याय, न्याय करते खोपड़ी खा ली। लो, इस न्याय से, कहता हुआ वह आचार्य भिक्षु की छाती में जोर से मुक्का मार कर चलता बना। आचार्य भिक्षु उसी प्रसन्न मुद्रा में उसको जाते हुए देखते रहे।

जिनके चन्द्रस्वर सध जाता है, उनका मूड कभी खराब नहीं किया जा सकता।

## अंकुश-शक्ति

जिन व्यक्तियों ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सुना है, समझा है, जिन्होंने मस्तिष्क के दाएं पटल को जागृत कर डाला है, उनके मूड को कोई विकृत नहीं कर सकता।

आज के युग में बायां पटल अधिक सक्रिय है, दायां सुषुप्त है। दोनों में संतुलन अपेक्षित है। यह संतुलन समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा से साधा जा सकता है। यह अंकुश-शक्ति है। जैसे हाथी के नियन्त्रण के लिए अंकुश, घोड़े के लिए लगाम होती है, वैसे ही समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा इन दोनों पटलों के संतुलन के लिए नियंत्रणकारी है। यह नियंत्रण-शक्ति हमारे हाथ में होनी चाहिए अन्यथा मूड बार-बार बिगड़ेगा।

## सुविधावादी मनोवृत्ति

आज के सारे सुविधा-साधन प्रकृति के विरुद्ध हैं। हमारे लिए धूप और हवा आवश्यक है पर वह आज के मकानों में सुलभ नहीं है। धूप तो मकानों में घुसती ही नहीं, हवा भी कृत्रिम साधनों से लाई जाती है। इससे शरीर ही नहीं बिगड़ा है, आदमी की मनोदशा भी बिगड़ी है, मूड भी बिगड़ने लगा है।

आज का समूचा परिवेश मनोदशा को उत्तेजित करने वाला है, बिगाड़ने वाला है। आदमी की सहनशक्ति कम हुई है और इसका कारण है सुविधावादी मनोवृत्ति। इस वृत्ति ने सहन करने की प्राकृतिक क्षमताओं को नष्ट कर डाला। सुविधाओं को भोगते-भोगते आदमी उनके वशवर्ती हो गया। सहन शक्ति चुक गई है। केवल शारीरिक सहनशक्ति ही नहीं, आदमी का मन भी कमजोर हो गया है। कठोर जीवन और श्रम का जीवन जीना अच्छा होता है पर उसे भुला दिया गया। इन सुविधाओं ने आदमी में स्वार्थ और क्रूरता का भाव भी उजागर किया है। आदमी सारी सुविधाएं स्वयं भोगना चाहता है। दूसरों के प्रति उसका वैसा भाव नहीं है।

महात्मा गांधी इलाहाबाद गए। आनन्द भवन में ठहरे। प्रातःकाल हाथ-मुंह धो रहे थे। पास में जवाहरलाल नेहरू बैठे थे। बातचीत चल रही थी। गांधीजी के लोटे का पानी समाप्त हो गया। वे बोले—ओह ! बात ही बात में पानी पूरा हो गया, अभी कुल्ला करना शेष है। नेहरू ने कहा—बापू ! क्या कह रहे हैं। पानी पूरा हो गया तो आप जितना चाहेंगे उतना और आ जाएगा। यह गंगा-यमुना का नगर है। यहां पानी की कमी कैसी? बापू बोले—जवाहर ! तुम ठीक कहते हो कि यह नगर गंगा-यमुना का है। किन्तु इन पर अकेले बापू का अधिकार नहीं है। लाखों-करोड़ों लोगों का इन पर अधिकार है। मैं फिजूल पानी खर्च करूं, यह अनुचित है।

## स्वार्थ घटे

ऐसी भावना तब बनती है जब दृष्टिकोण सुविधावादी नहीं होता। मैं एक कोटेज के पास से गुजर रहा था। मैंने देखा–टंकी से पानी फिजूल नीचे गिर रहा है। इतना पानी कि दस-बीस व्यक्ति स्नान कर सकें। पर उस ओर किसी का ध्यान नहीं था, क्योंकि पानी का अभाव नहीं है, प्रचुरता है। यह नहीं सोचा जाता कि दुनिया में मैं अकेला ही नहीं हूं, लाखों और हैं, जिनको पानी की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी मुझे है। सुविधावादी दृष्टिकोण में स्वार्थ की बात अधिक सोची जाती है, परार्थ की बात पर कम ध्यान दिया जाता है।

आज अपेक्षा है–चिंतन बदले, चिंतन की धारा बदले। व्यक्ति यह सोचे–मैं अकेला ही हकदार नहीं हूं। दुनिया में बहुत प्राणी हैं। सबका हिस्सा है उसमें। भारत के ऋषियों ने इस बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण चिन्तन दिया था। ऋषियों ने कहा–जितने से पेट भरे उतने मात्र पर व्यक्ति का अधिकार है। इतनी सम्पत्ति पर ही उसका हक है। शेष सारा अनधिकृत है। शेष सम्पत्ति समाज की है। जो इससे अधिक रखता है, वह चोर है, वध्य है। पर वे ऋषि व्यवस्था नहीं दे पाए। मार्क्स ने चिंतन के साथ-साथ व्यवस्था दी।

## सहिष्णुता बढे

सुविधावादी मनोवृति से वह व्यक्ति बच सकता है, जो सहिष्णु होता है। सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाने के लिए आसनों का प्रयोग भी कारगर होता है। ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता सधती है किन्तु सहन करने की शक्ति का विकास उससे नहीं होता। सहन करने के लिए शरीर को पहले तैयार करना होता है। शरीर तैयार होता है आसनों से। जब तक शरीर नहीं सधता तब तक ध्यान भी पूरे ढंग से नहीं होता। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्कता है कायसिद्धि की। ध्यान है मनःसिद्धि, मानसिक सिद्धि, चैतसिक सिद्धि। शरीर की सिद्धि हुए बिना यह नहीं सधती।

आसन की सिद्धि होने पर प्राणायाम की सिद्धि होती है और फिर द्वन्द्व सता नहीं सकते। आसनसिद्धि का अर्थ है–एक ही आसन में तीन घंटा बैठे रहना। इससे द्वन्द्वों, कष्टों को सहने की क्षमता बढ़ती है। ध्यान की सिद्धि और मन की सिद्धि तभी सम्भव है–जब आसनसिद्धि हो जाए, कायसिद्धि हो जाए।

## संतुलन का सूत्र

मूड या मनोदशा को ठीक रखने के लिए, 'क्षणे तुष्टः क्षणे रुष्टः' की प्रकृति को बदलने के लिए, मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों का संतुलन जरूरी है। इस सन्तुलन को साधने के लिए चन्द्र और सूर्य–दोनों की साधना करनी होती है–

*चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।*
*सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।*

इसमें सिद्ध की स्तुति की गई है। परमात्मा चन्द्रमा की भांति निर्मल होता है, सूर्य की भांति प्रकाश देने वाला होता है, समुद्र की तरह गंभीर होता है। यह है परमात्मा का स्वभाव, परमात्मा की प्रकृति। चांद का उपयोग निर्मलता के लिए तथा सूर्य का उपयोग प्रकाश के लिए होता है। इससे जीवन में समता आती है। जहां चांद का प्रयोग नहीं, सूर्य का प्रयोग नहीं, वहां संतुलन नहीं आता, समता नहीं आती।

जहां मन को शांत करने की, मन को विकल्पशून्य करने की, मन को अमन करने की साधना होती है वहां प्रारंभ में चन्द्रस्वर का प्रयोग किया जाता है और जहां प्राणशक्ति को तीव्र करने की प्रक्रिया होती है, वहां सूर्यस्वर के द्वारा प्रयोग किया जाता है। चन्द्रमा और सूर्य--इन दोनों की साधना के बिना हमारे जीवन में संतुलन नहीं आता, समता नहीं आती। परिवर्तन की प्रक्रिया में बहुत बड़ा महत्त्व है चन्द्र सूर्य का। बायां स्वर निर्मलता का प्रतीक है, दायां स्वर सक्रियता और प्रकाश का प्रतीक है। जिस व्यक्ति ने अपने श्वास को नहीं समझा, श्वास को नहीं साधा, वह जीवन में परिवर्तन नहीं ला सकता। परिवर्तन करने की बहुत बड़ी प्रक्रिया है--श्वास का अनुभव।

### आवेश का प्रश्न

प्रश्न उभरता है--क्या कोई नियामक तत्त्व है कि आवेश की स्थिति में आवेश न आए, व्यक्ति का मूड न बिगड़े? अप्रिय परिस्थिति और घटना होने पर अप्रिय व्यवहार न हो, इसका नियामक सूत्र कौन सा है? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है। आवेश की स्थिति होने पर आवेश न आए, इसके लिए बहुत जरूरी है मनोगुप्ति की साधना। मनोगुप्ति का अर्थ है--मन को इतना छिपा लेना कि उसका पता ही न चले। जब मन को छिपा दिया, ढक दिया तो वह मन रहा ही नहीं, अमन बन गया। अमन बनने पर ही अमन (चैन) की स्थिति बन सकती है। अमन-चैन और मन--दोनों एक साथ नहीं हो सकते। एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं? अमन-चैन होगा तो मन नहीं होगा और मन होगा तो अमन-चैन नहीं होगा। अमन होने की साधना, मनोगुप्ति की साधना बहुत महत्त्वपूर्ण साधना है। यह कलह निवारण, अशांति निवारण और मानसिक तनावों के विसर्जन की साधना है। इसे समझने वाला मूड को नियंत्रित करने का सूत्र हस्तगत कर लेता है।

# मन का जागरण

रात बीतती है, सूरज उगने को होता है और आदमी जाग जाता है। सोने के बाद जागना, यह निश्चित क्रम है। कोई आदमी २४ घंटा तक नहीं सोता। जो २४ घंटा सोया रहता है, वह मूर्च्छित माना जाता है। शरीर लम्बे समय तक सोया नहीं रह सकता। चेतना लम्बे समय तक सोयी रह जाती है, वह मूर्च्छा में रहती है। ध्यान का प्रयोजन है--मन जागे, चेतना जागे।

**अचेतन मन : अच्छा भी, बुरा भी**

जागना विकास है, सोना ह्रास है। जब इच्छा और शरीर का संघर्ष चलता है तब ऐसा प्रतीत होता है--चेतना सोई हुई है, मन सोया हुआ है। जब इच्छा और मन की चंचलता जीवन का संचालन करती है, तब महानता प्रगट नहीं हो पाती। उन्हीं व्यक्तियों में महानता प्रगट हुई है, जिनके जीवन की लगाम इच्छा के हाथ में नहीं थी, मन की चंचलता से जीवन संचालित नहीं था। जब सुप्त चेतना जागती है तब इच्छा और मन पर नियंत्रण होता है। जब इच्छा और मन पर अनुशासन होता है, तब सुप्त चेतना जागती है। हमारी चेतना शरीर में बंदी बनी हुई है। मनोवैज्ञानिकों ने कहा--सचेतन मन को शांत करो और अचेतन मन को जागृत करो, शक्तियां बढ़ेंगी। जब इस तथ्य पर दार्शनिक दृष्टि से सोचते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह सही है पर अपूर्ण है। इसमें कुछ परिष्कार अपेक्षित है। अचेतन मन के जागरण की बात कही गई तो क्या अचेतन मन में भद्दापन, कुरूपता, हिंसा और घृणा नहीं हैं? सारे आवेगों का अड्डा है अचेतन मन। सारे बुरे भाव अचेतन मन से ही सचेतन मन में संक्रांत होते हैं।

**शुक्लपक्ष को जगाएं**

हमें अचेतन मन को दो भागों में बांटना होगा। एक वह अचेतन मन, जिसका रूप भद्दा है और एक वह अचेतन मन, जो सुन्दर है, सरस और मधुर है। एक है कृष्णपक्ष और एक है शुक्लपक्ष। हम अचेतन मन के शुक्लपक्ष वाले भाग को जगाएं और कृष्णपक्ष वाले भाग को सोया रहने दें। सैद्धांतिक भाषा में कहें तो उस धारा

को जगाना है, जो क्षायोपशमिक भाव है। उस धारा को शांत रहने देना है, जो औदयिक भाव है। इसलिए केवल सचेतन मन को ही नहीं, अचेतन मन के कृष्णपक्ष वाले भाग को भी शांत करना है। हमें एक को जगाना है और एक को सुलाना है। सचेतन मन और अचेतन मन के कृष्णपक्ष को सुलाना है और उनके शुक्लपक्ष को जगाना है। इसका उपाय है--चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा। जब दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तो अचेतन मन का शुक्लपक्ष जागृत होता है।

### हृदय है हाइपोथेलेमस

शरीर के दो भाग हैं--नाभि के नीचे का भाग और ऊपर का भाग। नीचे का भाग कृष्णपक्ष और ऊपर का भाग शुक्लपक्ष। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो पिनियल और पिच्यूटरी ग्रन्थियों के स्राव एड्रीनलीन को प्रभावित करते हैं। इन सबका प्रभाव हाइपोथेलेमस को उत्तेजित करता है। यह भावधारा का मुख्य केन्द्र है, हमारा हृदय है। हृदय की पवित्रता मस्तिष्क में है। हमारा यह हृदय जीवन-यात्रा का संवाहक है। भावना का केन्द्र जो हृदय है, वह फुफ्फुस के पास नहीं है। वह हमारे मस्तिष्क में है। यह हृदय ब्रेन का एक भाग है। जब यह हृदय जागृत होता है, सक्रिय होता है तब अचेतन मन का शुक्लपक्ष उजागर होता है, जीवन की कल्पना और धारणा रूपान्तरित हो जाती है। जितने महापुरुष/उदारचेता और विशाल हृदय वाले व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने सचाइयों का साक्षात्कार किया है, ये वे ही लोग हुए हैं, जिनके अचेतन मन का शुक्लपक्ष वाला भाग जाग गया।

### ऊंचाई का वरदान

इच्छा आकाश के समान अनन्त हैं--यह एक सचाई है। हम जानते हैं कि अनेक इच्छाएं अपूर्ण रहती हैं पर इस सचाई का साक्षात्कार करने वाले विरल व्यक्ति ही मिलेंगे। साक्षात्कार वही व्यक्ति कर पाता है, जिसका शुक्लपक्ष जाग जाता है।

सिद्धपुरुष ने अपने भक्त से कहा--प्रसन्न हूं। कुछ मांगो। भक्त बोला--कुछ नहीं चाहिए । सिद्धपुरुष ने मांगने के लिए आग्रह किया। भक्त बोला--यदि आप देना ही चाहते हैं तो यह वरदान दें कि मेरे मन में चाह उत्पन्न ही न हो, मांग रहे ही नहीं।

### मनौती का कारण

यह तब संभव है जब सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। अन्यथा लोग मांग को पूरी करने के चक्कर में कहां-कहां नहीं भटकते। कितने देवी-देवताओं की मनौतियां मनाते हैं, पूजा-अर्चना करते हैं। इच्छा पर अंकुश नहीं रहता। जब असीम इच्छा पराक्रम के द्वारा पूरी नहीं होती, तब देवताओं की शरण ली जाती है। कोई भी व्यक्ति देवताओं की मनौती उनके गुणों के कारण नहीं मनाता। उसमें दिव्य गुणों के प्रति

कोई आस्था भी नहीं है। मुझे दिव्य बनना है, देवता सदृश बनना है, इस भावना से कोई देवता के पास नहीं जाता किन्तु स्वार्थ से प्रेरित होकर अपनी निरंकुश इच्छा को पूरी करने के लिए उनकी शरण लेता है।

## दो सूत्र

आज लोग साधु-संन्यासियों के पास भी इच्छा-प्रेरित भावना को लेकर आते हैं, इच्छापूर्ति के लिए आते हैं। यह साधुओं के पास आने का धुंधला अर्थ है। यहां आना चाहिए सचाई के साक्षात्कार के लिए, जिससे इच्छा कम हो, चाह मिटे और सोया मन जाग जाए।

एक साधारण गरीब व्यक्ति आत्मा से अत्यन्त जागृत था। इकलौता बेटा दुर्घटना में दोनों पैर गंवा बैठा। अपंग हो गया। पास-पड़ोस वाले संवेदना प्रगट करने आए। वह मुस्करा रहा था। वे बोले—इतना बड़ा आघात और तुम मुस्करा रहे हो? आजीविका का एक मात्र माध्यम अपंग हो गया, तुम्हें कोई पीड़ा नहीं है? क्या यह मुस्कराने का क्षण है? ऐसे मर्मान्तक क्षणों में भी मुस्कराते रहने का रहस्य क्या है?

वह बोला--'मेरी मुस्कराहट क्यों गायब हो? मैं क्यों दुःखी बनूं? मैंने दो सूत्र आत्मसात् कर रखे हैं। पहला सूत्र है--धन और सपंदा चंचल है। दूसरा है--जीवन क्षणभंगुर है। सारे पदार्थ चंचल और क्षणभंगुर हैं। केवल मेरी मुस्कराहट ही निश्चल है, कायम रह सकती है।'

ऐसा उत्तर वही व्यक्ति दे सकता है जिसे सत्य का भान हो गया है। यह तभी संभव है जब सोया मन जग जाता है।

## जब मन जाग जाता है

अध्यात्म साधना की निष्पत्ति है--मन को जागरूक बना देना। मन को जागरूक बनाए बिना हम उससे मनचाहा काम नहीं ले सकते। हम शरीर-प्रेक्षा करते हैं, मन को भीतर ले जाने का प्रयास करते हैं किन्तु वह बाहर ही बाहर दौड़ता है, भटकता है क्योंकि वह जागरूक नहीं है। मन को जगाने के बाद किसी को जगाने की आवश्यकता नहीं होती। जब मन जाग जाता है तब अपने भीतर बैठा हुआ अपना प्रभु, अपना परमात्मा जाग जाता है। जब मन नहीं जागता तब भीतर बैठा हुआ प्रभु नहीं जागता। एक मन के जागने पर सब जाग जाते हैं। एक मन के सोने पर सब सो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि मन के जाग जाने पर कोई सोया रह नहीं सकता। सबको जागना ही पड़ता है।

जागरूकता का विकास सिद्धान्त को जानने मात्र से नहीं होता। उसका विकास तब होता है जब साधक उचित दिशा में जागरूकता का अभ्यास करे।

## समाधि का अर्थ

समाधि का अर्थ है--भीतर में जागना। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और भाव--इन छह विषयों में जीने वाला व्यक्ति बाहर में जीता है। भाव का अर्थ है--मन के भाव--क्रोध, मान, माया, कपट, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि। जो इन छह विषयों से हटकर जीता है, वह भीतर में जीता है, भीतर में जागता है। जब व्यक्ति भीतर में जागता है, भीतर में जीता है तब समाधि अपने आप घटित होती है।

असमाधि का अर्थ है--बाहर में जागना, बाहर में जीना। मनुष्य सहज ही बाहर के प्रति जागरूक होता है क्योंकि बाहर के आकर्षण से वह जितना परिचित है, उतना भीतर के आकर्षण से परिचित नहीं है। समाधि का अर्थ ही है भीतर से परिचित होना, अपने आप से परिचित होना। जब मनुष्य अपने आप से परिचित होना शुरू कर देता है और परिचित हो जाता है तब बाहर में जीना उसके लिए कठिन हो जाता है। बाहर में जीता है तो केवल एक साक्षी के रूप में जीता है, तटस्थता के साथ जीता है, उसके आकर्षण की दिशा बदल जाती है, नया आयाम खुल जाता है।

जब तक जीवन में समाधि का अवतरण नहीं होता तब तक आदमी प्रियता और अप्रियता--इन दो आयामों में जीता है। उसका सारा जीवन राग और द्वेष की परिधि में बीतता है। जब उसे भीतर का परिचय प्राप्त होता है, आन्तरिक जागरण होता है तब तीसरा आयाम उद्घाटित होता है। वह तीसरा आयाम है--वीतरागता, समता या संयम। इस आयाम में जीने वाला समाधि को प्राप्त होता है।

## जागरूकता का अचूक उपाय

हम भीतर जाने वाले श्वास को भी देखें और बाहर निकलने वाले श्वास को भी देखें। मन जागरूक है तो श्वास को ठीक से देखा जा सकता है। मन जागरूक नहीं है तो न बाहर जाने वाला श्वास दिखेगा और न भीतर जाने वाला श्वास ही दिखेगा। दरवाजे पर खड़ा प्रहरी जागरूक नहीं होता है तो कोई भी भीतर जा सकता है, कोई भी बाहर आ सकता है। फिर प्रहरी होने का कोई अर्थ ही नहीं है। आते-जाते श्वास को देखते-देखते मन इतना जागरूक हो जाता है कि एक भी श्वास उससे बचकर निकल नहीं पाता। प्रत्येक श्वास को वह देख ही लेता है।

श्वास का क्षेत्र सीमित है। मन का क्षेत्र असीम है। श्वास का यात्रापथ बहुत संकीर्ण और छोटा है। नथुने से फेफड़े तक ही उसकी यात्रा होती है। वहां पहुंचकर वह वापस लौट आता है। किन्तु मन का मार्ग बहुत लम्बा चौड़ा है, बहुत दीर्घ है। वह एक क्षण में सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है। इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले मन को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोड़े रखना बहुत ही कठिन काम है। मन को संकीर्ण यात्रा-पथ से बांध लेना वास्तव

में ही बड़ी बात है किन्तु यह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही मन जागरूक होता है। फिर वह कभी नहीं सोता। वह श्वास का साथी बन जाता है। जब कभी मन को थोड़ी-सी झपकी आ जाती है, श्वास का साथ छूट जाता है।

हमें मन को पूर्ण जागरूक रखना है। श्वास-प्रेक्षा इसका सबल माध्यम है। मन को साधने के बाद उसका भटकाव मिट जाता है, प्रमाद मिट जाता है, सोने की आदत मिट जाती है। वह पूर्ण अनुशासित हो जाता है, नियंत्रित और जागृत हो जाता है।

मन को जागृत करने का एक उपाय है--जीवन की दिशा को बदलना, जीवन की गति को बदलना। श्वास को बदले बिना जीवन की दिशा को नहीं बदला जा सकता। हमारी शक्तियों का प्रतिनिधि है--श्वासप्राण। सारा जीवन प्राण के द्वारा संचालित है। जब तक प्राण का दीप जलता है तब तक सब कुछ है। हम ऐसा प्रयत्न करें, जिससे यह दीप सदा जलता रहे।

## मूर्च्छा का हेतु

कहा गया--चरणं कफनाशाय--चारित्र से कफ का प्रकोप शान्त होता है। समता, अहिंसा और सत्य के आचरण से, प्रामाणिक व्यवहार से कफ का प्रशमन होता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है--कफ मूर्च्छा पैदा करता है। भ्रमी का उत्पन्न होना, चक्कर आना, चेतना का लुप्त हो जाना--यह सब कफ के प्रकोप से होता है। चारित्र-भ्रंश क्यों होता है? चारित्र की विकृति, आचरण और व्यवहार की अशुद्धि क्यों होती है? कर्मशास्त्र के अनुसार चारित्र में जितने विकार आते हैं, वे मोहनीय कर्म के कारण आते हैं। मोहनीय कर्म मूढ़ता पैदा करता है, मूर्च्छा उत्पन्न करता है और चेतना की जागृति को लुप्त करता है। जब चेतना की जागृति समाप्त होती है, मूढ़ता और मूर्च्छा जागती है तब चरित्र विकृत होता है। जब चरित्र का विकास होता है तब जागृति का विकास होता है, मूर्च्छा समाप्त होती है। जब मूर्च्छा समाप्त होती है तब कफ का प्रकोप नहीं होता । कफ का कार्य है--जड़ता पैदा करना और चरित्र का काम है--चेतना की जागृति करना। चेतना की जागृति होने पर जड़ता टिक नहीं सकती। जाड्य कफ का मुख्य लक्षण है। जब शरीर में कफ का प्रकोप बढ़ता है तब शरीर जकड़ जाता है, अकड़ जाता है, स्तब्ध हो जाता है। चेतना की जागृति से यह स्तब्धता नष्ट हो जाती है।

## तीन दोष : तीन उपाय

तीन दोष हैं--वात, पित्त और कफ। इन तीनों को मिटाने के लिए तीन आध्यात्मिक उपाय हैं--ज्ञान, दर्शन और चरित्र। जब ये तीनों शारीरिक दोष उपशान्त होते हैं तब स्वतः ही अशुद्ध भावधारा नीचे चली जाती है, शुद्ध भावधारा बहने लग जाती है।

साधना का यह मुख्य उद्देश्य है कि शुद्ध भावधारा जागृत रहे, प्रवहमान रहे। श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, अन्तर्यात्रा--ये सब शुद्ध भावधारा को जागृत रखने के आलम्बन हैं और शुद्ध भावधारा ही जागृत मन का लक्षण है।

**प्रश्न वर्तमान क्षण का**

एक साधक ने पूछा--क्या यह श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा आदि से अन्त तक यही है या कुछ और भी है?

मैंने कहा--न आदि है न अन्त है, कुछ भी नहीं है।

उसने पूछा--जब कुछ भी नहीं है तो क्यों करवाई जा रही है?

मैंने कहा--आदि और अन्त है वर्तमान क्षण में जीना। ध्यान का आदि-बिन्दु है--वर्तमान क्षण में जीना और अंतिम बिन्दु है वर्तमान क्षण में जीना। ध्यान का प्रथम और अन्तिम सोपान है वर्तमान क्षण में जीना। वर्तमान क्षण ही महत्त्वपूर्ण क्षण है। जो वर्तमान क्षण में जीता है, वह रागद्वेष मुक्त क्षण में जीता है। जो व्यक्ति वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, घटित होने वाली घटनाओं का अनुभव करता है--केवल अनुभव करता है, जानता-देखता है, केवल ज्ञाता-द्रष्टा होता है, वह ध्यान का स्पर्श कर सकता है, जागरूकतापूर्ण जीवन जी सकता है।

**अन्तर्दृष्टि का जागरण**

एक प्रश्न है--अन्तर्दृष्टि कैसे जागे? जयाचार्य ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है--'इक पुद्गल दृष्टि थाप ने, कीधो है मन मेरु समान के'। मस्तिष्क के पिछले रहस्यमय हिस्से को सक्रिय करने का, अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध होने का, सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है--एक पुद्गल पर दृष्टि को टिकाना। यह है अनिमेषप्रेक्षा। हम किसी भी वस्तु का चुनाव करें और उसे खुली आंखों से देखें। बिल्कुल अनिमेषदृष्टि। कोई झपकी न हो, निमेष न हो। निर्निमेष नेत्रों से अपलक उस वस्तु को देखते जाएं। यह अनिमेष ध्यान है। हठयोग में इसे त्राटक कहा जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इससे अनुमस्तिष्क जागता है, शक्तियां जागती हैं। आगमों का वाक्य है--एग पोग्गल निविट्ठदिट्ठि। भगवान् महावीर एक पुद्गल पर दृष्टि टिका कर ध्यान करते थे। ध्यान की पद्धति का उल्लेख मिलता है, परिणाम का उल्लेख नहीं मिलता। जयाचार्य ने इस पद्धति के साथ-साथ इसके परिणाम का उल्लेख करते हुए लिखा--की धो हो मन मेरु समान के--एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाने से मन मेरु की तरह अडोल और अप्रकंप हो जाता है।

पर्वत अडोल होता है। मेरु पर्वतराज है। वह पर्वतों में श्रेष्ठ है। वह कभी प्रकंपित नहीं होता। कितने ही महाप्रलयंकारी झंझावात आए, मेरु कभी चलित नहीं होता। जब एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित करने की साधना सफल होती है तब मन

शान्त हो जाता है। वह किसी भी परिस्थिति में उद्वेलित नहीं होता, प्रकंपित नहीं होता। मधुर शब्द सामने आए, चाहे सुन्दर रूप सामने आए, चाहे सुगन्ध का स्पर्श हो, मृदु स्पर्श का अनुभव हो, स्मृति या कल्पना आए—यह मन का मेरु कभी प्रकंपित नहीं होता, प्रभावित नहीं होता। जब मन की यह स्थिति बन जाती है तब चैतन्य जागता है, पिछला मस्तिष्क खुलता है। तंत्रशास्त्र में यह सम्मत है कि त्राटक से मस्तिष्क के पीछे का भाग जागता है। यह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है उस चेतना को सक्रिय करने की।

भगवान् महावीर कई दिनों तक अनिमेष ध्यान करते, त्राटक करते। ध्यान की इस लम्बी अवधि में उनकी आंखें लाल हो जातीं। आंखों से इतनी विद्युत् निकलती कि आसपास में आने वाला भयभीत हो जाता । यह निर्निमेष या अलपक ध्यान मन को विलीन, शान्त, जागृत या समाप्त करने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है, सभी साधनों में अग्र साधन है।

जब अपलक ध्यान से पृष्ठ-मस्तिष्कीय चेतना जागती है तब अन्तर्दर्शन स्पष्ट होता है, आन्तरिक आंखें उद्घाटित होती हैं। भोग भयंकर हैं, अनित्य हैं, वास्तविक सुख तो कुछ और ही है—यह रटी-रटाई बात नहीं रहती, अनुभवगत हो जाती है। वह व्यक्ति पुस्तक से पढ़कर नहीं कहता किन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार कर कहता है। जो लोग साधना नहीं करते, साधना का अनुभव नहीं करते, केवल पुस्तकीय ज्ञान और बौद्धिकता के आधार पर इसकी चर्चा करते हैं, वे कभी चित्त की डांवाडोल स्थिति के पार नहीं जा सकते।

**सम्यग्दर्शन और जागरिका**

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन के लिए जागरिका शब्द का प्रयोग हुआ है। साधना के क्षेत्र में जागृति वहीं से शुरू होती है, जहां शरीर और आत्मा का भेद-ज्ञान हो जाता है। वास्तव में सम्यक्दर्शन का अर्थ ही है—भेद-ज्ञान, जहां चेतना और अचेतना की भिन्नता का स्पष्ट बोध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द तथा अनेक व्याख्याकारों ने मुख्यतः यही प्रतिपादित किया है।

स्थितप्रज्ञा की प्रज्ञान्तर से पृथक् प्रतीति होना, चैतन्य द्रव्य की अन्य द्रव्यों से पृथक् प्रतीति होना सम्यक्दर्शन है और यही वास्तव में आत्मा है। यह सम्यक् दर्शन या जागरिका, एक ही बात है और यहीं से जागरण का प्रारम्भ होता है। तब यह समझ लिया जाता है—आत्मा भिन्न है, शरीर और शरीर-जनित अनुभूतियां भिन्न हैं। यह हमारी जागरिका का परिणाम है इसलिए सम्यक्त्व के लिए जागरिका शब्द का चुनाव बहुत उचित है।

## तीन प्रकार के मनुष्य

भगवान् से पूछा गया--'मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं?

भगवान् ने उत्तर दिया--मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं--सुप्त, सुप्त-जागृत और जागृत।'

शंख और मुद्गल भगवान् के श्रावक थे। एक बार शंख ने कहा--हम भोज करेंगे, सब मिलकर खायेंगे। वह धर्म-आराधना में लग गया। दूसरे सारे इकट्ठे हो गये। भोजन बनाया। वह नहीं आया तो सबको बहुत बुरा लगा। सब भगवान् के पास गये। वहां शंख बैठा था। उसे देखकर उन्होंने कहा, 'शंख! तुमने हमारे साथ बहुत बड़ा धोखा किया। पहले तो तुमने हमसे कहा कि भोजन करेंगे, अच्छे-अच्छे भोज बनाओ। हमने बना लिये। सब आ गये और तुम नहीं आये। तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया है।

भगवान् ने कहा--'ऐसा मत कहो। इसने तुम लोगों के साथ विश्वासघात नहीं किया, धोखा नहीं दिया।

'भंते! फिर इसने क्या किया?'

भगवान् ने कहा--'इसने सुदृष्ट जागरिका की।'

भंते! जागरिका कितनी प्रकार की होती है?

भगवान् ने उत्तर दिया,-- 'जागरिका तीन प्रकार की होती है--सुदृष्ट जागरिका, अबुद्ध जागरिका और बुद्ध जागरिका।

## तीन अवस्थाएं

श्रावक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, यह सुदृष्ट जागरिका है। प्रमत्त संयति से प्रारम्भ कर वीतराग तक अबुद्ध जागरिका होती है। केवली के बुद्ध जागरिका होती है। ये तीन जागरिकाएं हैं और इनका चुनाव करना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उपनिषदों में तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है--स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था और तुरियावस्था। अगर इन अवस्थाओं की हम तुलना करें तो सुदृष्टावस्था है स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्था। सम्यक्त्व है जागृत अवस्था। सम्यक्त्व या जागृति के आदि-बिन्दु से लेकर अबुद्ध जागरिका तक, सारी की सारी जागरिका जागृत अवस्था है और तुरियावस्था है केवलज्ञानी की अवस्था।

## सम्यक्त्व कब होता है?

जैन सूत्रों में एक चर्चा है-- आठ प्रदेश ऐसे हैं, जो प्रकट रहते हैं, अभिव्यक्त रहते हैं। उन पर कोई आवरण नहीं होता। जिन्हें हम मनःचक्र की आठ पंखुड़ियां कहते हैं, वे आठ प्रदेश हैं। वहां चेतना पहुंचने पर सम्यक्त्व का विकास या जागरण का विकास होता है। हमारी प्राणशक्ति जब नीचे रहती है, उस स्थिति में चेतना का

विकास नहीं हो सकता, सम्यक्‌दृष्टि का विकास नहीं हो सकता। प्राणशक्ति को ऊपर की ओर ले जाए बिना उसमें स्थिरता नहीं आ सकती, मन की चंचलता समाप्त नहीं हो सकती। इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हुए बिना जागृति प्राप्त नहीं होती। जब तक अनन्तानुबन्ध की ग्रन्थि, जिसे राग-द्वेष की ग्रन्थि कहते हैं, समाप्त नहीं होती तब तक जागरण प्राप्त नहीं हो सकता। ग्रन्थि का विच्छेदन या ग्रन्थि का क्षीण होना आवश्यक है।

**चक्र, ग्रन्थि और कमल**

प्रश्न है—वह ग्रन्थि कहां है? वह गांठ कहां है? वह हमारे मनःचक्र में है? इसे हम गांठ क्यों मानते हैं? इसका एक कारण है। हमारे शरीर के जो स्नायु हैं, वे स्नायु सीधे भी चलते हैं और टेढ़े-मेढ़े भी चलते हैं। वे स्नायु जहां बहुत उलझे हुए हैं, टेढ़े हैं, उन्हें गांठ कहा जाता है। प्राणशक्ति को वहां घुमाव करके गति करनी पड़ती है इसलिए उसे ग्रन्थि कहा जाता है। कुछ लोग उसे चक्र भी कहते हैं। क्योंकि चक्राकार गति करनी पड़ती है। कमल कहने का भी अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। कमल का धर्म है—संकुचित और विकसित होना। वहां हमारी चेतना या प्राणशक्ति के द्वारा उन स्नायुओं में या उलझे हुए तारों में संकोच और विकोच भी होता रहता है। चेतना प्रवाहित होती है, वे खुल जाते हैं, विकसित हो जाते हैं। जब प्राणशक्ति का प्रवाह कम होता है, वे फिर सिकुड़ जाते हैं, संकुचित हो जाते हैं। इसलिए ग्रन्थि, चक्र या कमल—ये तीनों बातें कही जा सकती हैं—मनःचक्र, मनोग्रन्थि या मन : कमल।

**ग्रन्थिभेदन की प्रक्रिया**

मन के चक्र से हृदयचक्र बिलकुल भिन्न है। हृदयचक्र से भिन्न जो मन का चक्र है, उसकी कर्णिका में जाकर अपनी सारी चेतनाओं को समेटकर, हमारी चिंतन की रश्मियां, हमारी परिणाम धारा और हमारी भावधारा, जो सारे शरीर में प्रवाहित होती है, उसे संकुचित कर, समेटकर, जब तक मनःचक्र की कर्णिका पर केन्द्रित नहीं कर देते हैं, तब तक उस ग्रन्थि का भेदन नहीं होता है और उस ग्रन्थि का भेदन हुए बिना जागृति, सम्यक्‌दर्शन या सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। यह उसकी प्रक्रिया है।

अपनी धारणा के द्वारा प्राणशक्ति को मनःचक्र में केन्द्रित करना और वहां से केन्द्रित कर फिर प्राणायाम करना—रेचक, पूरक और कुंभक करना—यह है जागृति की प्रक्रिया। ऐसा करने पर—मनःचक्र पर रेचक, पूरक, कुंभक आदि विविध ध्यान करने पर मन की ग्रन्थि धीमे-धीमे खुलने लग जाती है और एक दिन ऐसा आता है कि वह ग्रंथि पूर्णतः खुल जाती है, ग्रंथि-मोक्ष हो जाता है। ग्रंथि का मोक्ष होते ही जागरण का क्षण प्रकट हो जाता है, हमारी दृष्टि सम्यक् बन जाती है। हमें स्पष्ट

लगने लग जाता है कि स्थूल शरीर से भी बड़ी एक शक्ति है, वह है सूक्ष्म शरीर। हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का बोध हो जाता है।

हम स्थूल शरीर की शक्ति को ही शक्ति मानकर चल रहे हैं किन्तु स्थूल शरीर की शक्ति सूक्ष्म शरीर की शक्ति का सौवां हिस्सा भी नहीं है, हजारवां हिस्सा भी नहीं है। हमारी सारी शक्ति सूक्ष्म शरीर में केन्द्रित है। हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का भी बोध हो जाएगा, चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता का भी बोध हो जाएगा। इस स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से परे चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता है, यह बात स्पष्ट हो जाएगी और चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता के विकास करने की प्रक्रिया का भी बोध हो जाएगा।

**अपूर्वकरण : अपूर्वक्षण**

इस प्रकार सम्यक्दर्शन के द्वारा, मनःचक्र पर रही हुई ग्रन्थि के भेदन के द्वारा हम इन सारी स्थितियों को स्पष्ट समझ लेंगे। आत्मा और शरीर का भेदज्ञान, हमारी शक्तियों का बोध, हमारे अस्तित्व का बोध, हमारे अन्तर्जगत् की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का बोध--ये सारी बातें हमारे सामने स्पष्ट हो जाएंगी, मूर्च्छा की स्थिति से जागृति की स्थिति में चले जाएंगे, मूर्च्छा की यात्रा समाप्त कर जागृति की यात्रा प्रारम्भ कर देंगे। यह हमारे जीवन का पहला क्षण यानी अपूर्व क्षण आता है। यहीं से हमारी नयी यात्रा शुरू होती है, नया मार्ग शुरू होता है और हमारे सामने मंजिल भी नयी हो जाती है। इस अपूर्वकरण की स्थिति में आकर, इस अपूर्वकरण की स्थिति का अनुभव कर, हम अन्तर् की यात्रा शुरू कर देते हैं, जागृति की यात्रा शुरू कर देते हैं।

तीन यात्राएं हैं--मूर्च्छा की यात्रा, जागृति की यात्रा और वीतरागता की यात्रा। मूर्च्छा की यात्रा को समाप्त कर जागृति की यात्रा में प्रवेश करना ही साधना है। मूर्च्छा की ग्रन्थि को तोड़कर जागृति के द्वार में प्रवेश करना ही साधना की सार्थकता है।

# मन का कायाकल्प

स्वभाव को बदला जा सकता है, इतना रूपान्तरण किया जा सकता है कि आदमी का पूरा व्यक्तित्व ही बदल जाता है। अनेक घटनाएं हैं, उदाहरण हैं। अनेक डाकू संत बन गए और अनेक संत डाकू बन गए। केवल बुरा स्वभाव ही नहीं बदलता, अच्छा स्वभाव भी बदलता है। दोनों में परिवर्तन होता है। परिवर्तन क्यों होता है, इस पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए।

परिवर्तन का एक कारण है--भोजन। जब भोजन असंतुलित होता है तब आदतें बिगड़ जाती हैं। एक आदमी बहुत चिड़चिड़े स्वभाव का है। मनोचिकित्सक चिकित्सा से पूर्व उसके भोजन पर ध्यान देगा। वह जानता है कि जब भोजन में विटामिन 'ए' की कमी होती है तब स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। पोषक तत्त्वों का संतुलन नहीं होता है तो स्वभाव बदल जाता है। भोजन का असंतुलन, पोषक तत्त्वों की कमी स्वभाव-परिवर्तन का एक कारण है।

भोजन के परिवर्तन से भी स्वभाव बदल जाता है। एक कहानी है--एक साधु किसी घर में ठहरा। उसने वहां भोजन किया! कुछ ही समय पश्चात् उसकी दृष्टि आलमारी में पड़े हुए हार पर गई। उसके मन में हार को चुराने की भावना जागी। उसने हार अपने पास रख लिया। अनेक विकृत विचार उसके मन में आते रहे। अचानक ही उसे वमन हुआ, खाया हुआ सारा भोजन निकल गया। उसे ज्ञान हुआ--मैंने चोरी कर कितना बड़ा पाप कर डाला। उसने तत्काल हार को मूल स्थान पर रख दिया उसका मन अनुताप और पश्चात्ताप से भर उठा।

भोजन उस चोरी का कारण बना। भोजन निकला और भाव बदल गया।

## रंग और स्वभाव

एक क्रोधी व्यक्ति यदि सूर्यरश्मि-चिकित्सक के पास जाएगा तो वह सबसे पहले इस बात पर ध्यान देगा कि इस व्यक्ति में किस रंग की कमी हुई है, जिससे इसमें क्रोध बढ़ा है। वह विश्लेषण करके जान लेगा कि इसमें नीले रंग की कमी हुई है या लाल रंग की मात्रा बढ़ी है, इसीलिए क्रोध बढ़ा है। वह चिकित्सक लाल रंग को घटाता

है, नीले रंग को बढ़ाता है और उस व्यक्ति का क्रोध कम हो जाता है। रंग-चिकित्सा (कलर थेरेपी) में दो रंग गर्म माने जाते हैं–लाल और पीला। दो रंग ठंडे माने जाते हैं–नीला (ब्लू) और हरा।

### आयुर्वेद : स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया

आयुर्वेद में कहा गया--जब व्यक्ति में पित्त का प्रकोप होता है तब क्रोध का प्रकोप बढ़ जाता है। कफ का प्रकोप होता है तो लोभ बढ़ जाता है। अपान वायु दूषित होता है तो भी क्रोध बढ़ जाता है। क्रोधी व्यक्ति को पित्तशामक औषधि का सेवन कराया जाता है तो क्रोध की मात्रा कम हो जाती है। लोभ भी एक बीमारी है। बीमार व्यक्ति को यदि कफ-शामक औषधि दी जाती है तो उसमें लोभ की वृत्ति कम हो जाती है। वायु-शामक औषधियों से कामवासना शांत होती है। एक आदमी को काम-वासना अधिक सताती है। वह सोचता है, यह सब उसके कर्म का उदय है किन्तु उसमें केवल कर्म का ही उदय नहीं है, शरीर के रसायन का भी उसमें योग है। इस बात को समझ लेने पर इस आदत में परिवर्तन आ सकता है।

जिसमें वायु की प्रधानता होगी, वह अधिक डरेगा। नींद में भी भय लगेगा। स्वप्न भी दूषित आएंगे, और भी अनेक विकृतियां आएंगी। ज्यों ही वायु शांत होगी, भूत भाग जाएगा। आयुर्वेद में वायु का नाम है 'भूत'। वायु का प्रकोप ही भूत-भूतनियों का प्रकोप है।

### स्वभाव-निर्माण के तत्त्व

स्वभाव-निर्माण और स्वभाव-परिवर्तन के चार मुख्य कारण हैं-

१. आनुवंशिकता ३. परिस्थिति
२. वातावरण ४. कर्म-संस्कार ।

भगवान् महावीर ने कहा--'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा' जो आश्रव हैं, वे ही परिश्रव हैं और जो परिस्रव हैं, वे ही आश्रव हैं। जो आने के द्वार हैं वे ही जाने के द्वार हैं और जो जाने के द्वार हैं, वे ही आने के द्वार हैं। जिन कारणों से स्वभाव का निर्माण होता है, वे ही कारण स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र बनते हैं।

### स्वभाव बनता है भाव

भाव ही स्वभाव बनता है। मन में एक विचार उत्पन्न होता है । वही विचार जब रूढ़ होता है तब स्वभाव बन जाता है । इसीलिए जब भी कोई बुरा विचार आए तो तत्काल प्रायश्चित्त के द्वारा उसका शोधन कर डालो । उसे मन से निकाल दो। यदि प्रायश्चित्त के द्वारा उसका शोधन नहीं किया तो वह ग्रंथि बन जाएगी । जब तक वह ग्रंथि मन में बनी रहेगी, तब तक वह सताती रहेगी । भाव का जब शोधन

नहीं किया जाता तब वह स्वभाव बन जाता है । वह सघन हो जाता है, जग जाता है और प्रतिक्रिया शुरू कर देता है । भाव को बदलने का अच्छा साधन है प्रायश्चित्त।

## जरूरी है ज्ञान

भाव और स्वभाव के परिवर्तन के लिए ज्ञान का होना भी बहुत जरूरी है । समस्या है--स्वभाव-निर्माण के अनेक-अनेक शारीरिक कारण भी हैं । उन्हें कैसे जाना जाए ? सारे कारणों को जानना कैसे संभव है ? बायोकेमिस्ट कहता है कि अमुक प्रकार के लवण की कमी होती है तो आदमी का संतुलन बिगड़ जाता है और वह असामान्य आचरण करने लग जाता है। अनेक बीमारियां भी आदतों को बिगाड़ देती हैं। क्षार की कमी के कारण जैसे आदतों में परिवर्तन आता है वैसे ही रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा भी आदतें बनती-बिगड़ती हैं ।

इन्डोबायोलोजिस्ट बताता है कि अमुक ग्रंथि का स्राव न होने के कारण या असंतुलित स्राव होने के कारण ये बीमारियां आई हैं, आदतें बदली हैं। जब ग्रंथियों के स्राव संतुलित होते हैं तब बीमारियां मिट जाती हैं, आदतें बदल जाती हैं।

प्रश्न होता है कि आदमी इन भिन्न-भिन्न कारणों को कैसे जान सकता है ? एक-दो-चार कारण हो तो वह उनका ज्ञान कर सकता है पर इन् सबको वह जान जाए, यह संभव नहीं है । एक-दो सूत्र ऐसे भी हैं, जो अन्यान्य कारणों के ज्ञान की पूर्ति कर सकें ।

## संकल्पशक्ति और भावशुद्धि

पहला सूत्र है--संकल्पशक्ति का विकास । जिस व्यक्ति ने अपनी संकल्पशक्ति को जगा दिया, वह इन सारी कमियों को पूरा कर सकता है। इस शक्ति से असंभव संभव बन सकता है। उसका वैज्ञानिक कारण है। हमारे शरीर में प्रवहमान सबसे शक्तिशाली धारा है--प्राणधारा। प्राणशक्ति जीवन का मूल आधार है। प्राणशक्ति जितनी प्रबल होती है, संकल्प उतना ही बलवान् होता है। जितना प्रबल होता है संकल्प उतना ही प्रबल होता है परिवर्तन। संकल्प का प्रबल होना स्वभाव-परिवर्तन में अपरिहार्य तत्त्व है।

परिवर्तन का आधार है--आभामंडल। जिसका आभामंडल शक्तिशाली और पवित्र होता है, उसकी संकल्पशक्ति प्रबल होती है, प्राणशक्ति प्रबल होती है। सुदर्शन ने कायोत्सर्ग किया। उसके चारों ओर विद्युत् का ऐसा शक्तिशाली वलय बन गया कि प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने वाले अर्जुनमाली की दानवीय शक्ति उस वलय को भेदने में अक्षम रही । सुदर्शन के शक्तिशाली और पवित्र आभामंडल ने अर्जुनमाली के मन में परिवर्तन घटित किया और वह हत्यारे से संत बन गया । उसने महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

इन्द्रभूति गौतम महावीर को पराजित करने के लिए आ रहे थे किन्तु जैसे ही

उन्होंने महावीर के आभामंडल की परिधि में प्रवेश किया, वे सब कूछ भूल गए और महावीर की पवित्रता से अभिभूत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया ।

जिसके भाव पवित्र होते हैं, जिसकी संकल्प-शक्ति विकसित होती है, उसका आभामंडल शक्तिशाली होता है। जो व्यक्ति बुरा सोचता है, बुरा करता है, बुरा सुनता है, उसका आभामंडल मलिन हो जाता है, उसकी आदतें बिगड़ने लग जाती हैं। यदि भाव विशुद्ध होते हैं तो आदतों का बदलना आसान होता है। इसलिए प्रतिपल भाव की विशुद्धि के प्रति जागरूक रहना चाहिए। यह है अप्रमाद। अप्रमाद का जितना विकास होता है उतना ही भाव परिवर्तन में सहयोग मिलता है।

इन्द्रिय जगत् में जीने वाला व्यक्ति न भाव को शुद्ध रख पाता है, न संकल्प-शक्ति का विकास कर पाता है और न आदतों को बदलने में सक्षम होता है। इस जगत् में आदतें और भी अधिक जटिल बनती जाती हैं। किन्तु वे ही जटिलतम आदतें इन्द्रिय जगत् से परे चले जाने पर बदल जाती हैं। अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेश करने पर भावशुद्धि सहज-संभव हो सकती है।

## आदत परिवर्तन का सूत्र

एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि हजार बार उपदेश सुनने पर भी परिवर्तन घटित नहीं होता । उपदेश से दिशा-बोध हो सकता है। परिवर्तन घटित होता है अभ्यास के द्वारा । जब महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त होता है, उनका अनुग्रह मिलता है, तब अनायास ही परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि उस महान् व्यक्ति की प्राणधारा, आभामंडल बहुत प्रभावी होता है, शक्तिशाली होता है। ऐसे व्यक्ति के उपपात में जो व्यक्ति रहता है, उसमें परिवर्तन अवश्य आता है पर ऐसे व्यक्ति का योग विरल होता है।

अभ्यास के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव में परिवर्तन कर सकता है। अभ्यास परिपक्व तब होता है जब उसका चिरकाल तक अनुशीलन होता है। आदत तब छूटती है जब आदमी यह जान जाता है कि आदत ने उसको नहीं पकड़ा है,उसने आदत को पकड़ रखा है।

विलियम जेम्स ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदतों को बदलने का कोर्स प्रस्तुत किया है। उसमें तीन बातें मुख्य हैं--

१. बदलने की तीव्र इच्छा २. दृढ़ निश्चय ३. निरन्तरता ।

पहली बात है कि व्यक्ति के मन में तीव्र अभीप्सा जागे कि उसे अपनी आदतों को बदलना है। जब तक यह इच्छा ही पैदा नहीं होती तब तक बदलने का प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं होता। पर उससे भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इच्छा के साथ दृढ़ निश्चय भी होना चाहिए। इच्छा को दृढ़ निश्चय में बदल देना चाहिए। निश्चय ऐसा हो कि

मुझे बदलना ही है। बदले बिना मैं चैन नहीं लूंगा। निश्चय दृढ़ होगा तो रूपान्तरण प्रारम्भ हो जाएगा । दृढ़ निश्चय के साथ-साथ निरन्तरता भी होनी चाहिए। एक दिन निश्चय किया, फिर दस दिन तक उसकी स्मृति ही नहीं रही तो कुछ भी रूपान्तरण घटित नहीं होगा। निरन्तरता से आदत अपने आप बदलने लग जाएगी।

## धर्म है मनोचिकित्सा का सूत्र

आज अनेक संस्थान हैं, जिनमें मानसिक चिकित्सा का विभाग सक्रिय है। मानसिक चिकित्सा का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है किन्तु धर्म का प्रयोग, जो मनश्चिकित्सा का प्रयोग है, वह बहुत पुराना है। हजारों-हजारों वर्षों में हजारों-हजारों धर्म के साधकों, अध्यात्म के आराधकों ने अनेक प्रयोग किए, अनेक सूत्र खोजे और अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया। आज यदि उन प्रयोगों का उपयोग किया जाए तो बहुत लाभ हो सकता है। उससे न केवल मनोरोगी ही लाभान्वित होगा किन्तु मनश्चिकित्सक भी लाभान्वित होगा।

दिल्ली प्रवास में एक आयोजन संयोजित हुआ। उसका विषय था—न्यूरो एन्डोक्राइन सिस्टम एण्ड मेडिटेशन। उसमें अनेक विशिष्ट चिकित्सकों और प्रोफेसरों ने भाग लिया। 'आल इन्डिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट' दिल्ली के मनश्चिकित्सकों ने भी उस आयोजन में भाग लिया। कार्यक्रम चला। प्रवचन और प्रश्नोत्तर हुए। एक मनश्चिकित्सक का कुछ दिन बाद एक पत्र मिला। उसमें लिखा था--मैंने सेमिनार में भाग लिया। मैं स्वयं मनश्चिकित्सक हूं। मैंने सेमिनार में बताए गए प्रयोग किए। वे सफल सिद्ध हुए। मेरा मानसिक तनाव घटा है। नींद सुखद हुई है।

मुझे पत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ। जो दूसरे रोगियों की मानसिक चिकित्सा करता है, वह स्वयं मानसिक तनाव से ग्रस्त है। पानी में ही मानो आग लग गई है। एक साधु या धर्म की आराधना करने वाला गृहस्थ यदि मानसिक तनाव से ग्रस्त होता है तो मानना चाहिए—सूर्य की रश्मियां अंधकार फैला रही हैं।

अध्यात्म के आचार्यों ने मानसिक मैलों को साफ करने वाले, मन को शक्तिशाली बनाने वाले सैकड़ों-सैकड़ों उपाय विकसित किए हैं। उन सब उपायों के संदर्भ में यह बलपूर्वक कहना चाहता हूं कि 'धम्मं सरणं गच्छामि' एक स्वर्णिम सूत्र है मन की निर्मलता को घटित करने का। हम धर्म की शरण में जाएं और उसकी यथार्थता को हृदयंगम कर जीवन में उसका प्रयोग करें।

## अतीत का प्रतिक्रमण

दूसरा उपाय है--प्रतिक्रमण। जब अतीत का प्रतिक्रमण करने में हमारी अन्तर्प्रेरणा जाग जाती है तब समग्र जीवन में परिवर्तन शुरू होता है। हम इस बात को पकड़ें—प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त किये बिना, शोधन और परिष्कार किये बिना

मानसिक ग्रंथियां नहीं खुलतीं, हजार उपचार करने पर भी परिवर्तन नहीं होता। मनश्चिकित्सा के क्षेत्र में ग्रंथि-विमोचन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मनश्चिकित्सक रोग की ग्रंथि को ढूंढने का प्रयत्न करता है। जब ग्रंथि पकड़ में आ जाती है तब चिकित्सा सुलभ हो जाती है।

ध्यान की प्रक्रिया में, मानसिक चिकित्सा और भाव-चिकित्सा की प्रक्रिया में अतीत के प्रतिक्रमण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जब अतीत का शोधन होता है, बहुत सारा भार हट जाता है, हल्केपन का अनुभव होता है।

## निःशल्य होने की प्रक्रिया

ध्यान की प्रक्रिया में कायोत्सर्ग का प्रयोग चलता है। कायोत्सर्ग में एक सूत्रपाठ का उच्चारण किया जाता है--'तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।' कायोत्सर्ग करने वाला यह संकल्प करता है कि मैं अतीत के दूषित मनोभावों को निर्मल करना चाहता हूं, उनका प्रायश्चित्त करना चाहता हूं, उनको विशुद्ध करना चाहता हूं और सभी शल्यों को नष्ट कर निःशल्य होना चाहता हूं। कायोत्सर्ग निःशल्य होने की प्रक्रिया है।

शल्य तीन हैं– माया का शल्य, मिथ्या दृष्टिकोण का शल्य और आकांक्षा का शल्य। जब तक इनका उद्धार नहीं होता तब तक आदमी स्वस्थ नहीं हो सकता। शल्य विषलिप्त तीर है। तीर निकल जाता है पर विष का शल्य भीतर रह जाता है। तीनों शल्य भयंकर हैं, पर मिथ्यादर्शन का शल्य अत्यन्त भयंकर है। जब तक यह शल्य नहीं मिटता तब तक कोई व्रती नहीं बन सकता। आचार्य उमास्वाति ने व्रती की परिभाषा करते हुए लिखा है-'निःशल्यो व्रती'–जो निःशल्य होता है, वही व्रती बनता है। अतीत का प्रतिक्रमण निःशल्य होने का अचूक उपाय है।

भविष्य पर ध्यान देना भी आवश्यक है। वर्तमान ही भविष्य बनता है। व्यक्ति वर्तमान में जैसा होता है वैसा भविष्य में बनता है। जब वर्तमान में जागरूकता आती है तब भविष्य के लिए संकल्पशक्ति का विकास करना होता है। अतीत का प्रायश्चित्त होता है तो भविष्य का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान सीधा नहीं होता। उसके लिए पूरी तैयारी करनी होती है।

## साधना का समग्र सूत्र

ध्यान का प्रयोग प्रत्याख्यान का प्रयोग है। ध्यान में अपने आप प्रत्याख्यान होता है। ध्यान के द्वारा व्यक्ति में ऐसा रासायनिक परिवर्तन होता है कि व्यसन अपने आप छूट जाते हैं, प्रत्याख्यान स्वयं घटित हो जाता है। जैसे ही व्यक्ति वर्तमान के प्रति जागरूक होता है वैसे ही उसमें अतीत का प्रायश्चित्त और भविष्य का प्रत्याख्यान प्रारंभ हो जाता है।

भगवान् महावीर ने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है उदीरणा और संक्रमण का। उन्होंने कहा–कर्मों की उदीरणा की जा सकती है, कर्मों को बदला जा सकता है। पापरूप में बंधे कर्मों को पुण्यरुप में और पुण्यरुप में बंधे कर्मों को पापरुप में परिवर्तित किया जा सकता है। यह संक्रमण का सिद्धांत है।

साधना का समग्र सूत्र है–तीनों काल का समाधान। उससे वर्तमान का ही समाधान नहीं होता, उसके साथ अतीत और भविष्य का भी समाधान करना होता है।

## हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया : तीन अंग

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या–ये तीन प्रकार के मनोभाव हमारे मन के तीन दोष हैं। सांख्य दर्शन की भाषा में रजोगुण और तमोगुण-ये मन के दो दोष हैं। ये अनेक दोष उत्पन्न करते हैं।

इन मानसिक दोषों का शोधन भी होता है और शमन भी होता है। इसके साथ विलय की बात मैं और जोड़ देना चाहता हूं । आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर तीन बातें फलित होती हैं–दोषों का शोधन, दोषों का शमन और दोषों का विलयीकरण या क्षयीकरण । शमन या शांत किए गए दोष पुनः उभर सकते हैं। क्षीण किए गए दोष कभी नहीं उभर सकते ।

शोधन, शमन और क्षयीकरण–ये हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया के तीन अंग हैं। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया ही मन के कायाकल्प की प्रक्रिया है।

## प्रश्न कायाकल्प का

एक अपरिचित आदमी आकर बोला-'महाराज ! मैं कायाकल्प करना चाहता हूं।' मैंने कहा–'कायाकल्प करना हो तो किसी वैद्य की शरण में जाओ, मेरे पास क्यों आए हो ?' उसने कहा–'मैं शरीर से स्वस्थ हूं किन्तु मन से रुग्ण हूं।' मैंने कहा-'आओ, बैठो। तुम्हारी नाड़ी देखना चाहता हूं, निदान करना चाहता हूं।' वह बैठ गया। मैंने नाड़ी देखी। मुझे लगा–रोग असाध्य नहीं, साध्य है। कायाकल्प हो सकता है। मन के टिस्यू जीर्ण-शीर्ण अवश्य हैं पर मन टूटा नहीं है। मैंने कहा–तुम्हारा कायाकल्प हो सकता है पर कुछ शर्तें हैं। यदि वे तुम्हें मान्य हों तो मैं प्रयत्न करूं। उसने कहा–आपकी सभी शर्तें मैं मान लूंगा।

## आराधना का कुटीर

मैंने पहली शर्त रखी कि तुम्हें कायाकल्प के लिए एक कुटीर बनाना होगा। वह होगा आराधना का कुटीर। कायाकल्प के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सभी प्रदूषणों से बचे। आज की हवा भी शुद्ध नहीं है। आज का प्रकाश भी शुद्ध नहीं है। सारा

पर्यावरण प्रदूषणों से भरा पड़ा है। उद्योगीकरण के द्वारा न केवल वायुमंडल दूषित हो रहा है, मन भी इतना तनावग्रस्त हो रहा है कि एक प्रकार से टूट रहा है। उसमें सहन करने की क्षमता नष्ट हो चुकी है।

पुराने जमाने में कहा जाता था--प्रातःकाल सूर्य की रश्मियों का सेवन करना चाहिए। बालसूर्य की किरणों में विटामिन 'डी' अधिक होता है। और भी अनेक लाभ होते हैं। आज सारे वायुमंडल में अणु धूलि तथा रेडियम के इतने विकिरण हैं कि प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का सेवन करना खतरे से खाली नहीं है । शारीरिक दृष्टि से भी प्रदूषण की समस्या है। जहां मन का कायाकल्प करना होता है वहां प्रदूषण से बचने की अत्यन्त आवश्यकता हो जाती है। मैंने कायाकल्प के इच्छुक व्यक्ति से कहा--तुम ऐसा आराधना का कुटीर बनाओ, जिसमें बाहर की हवा भी न लगे, बाहर का प्रकाश और प्रदूषण भी न पहुंचे। इन सबकी पहुंच से परे हो वह कुटीर।

**पंचकर्म की अनिवार्यता**

दूसरी शर्त है-तुम्हें पंचकर्म करना होगा। वे पांच कर्म हैं-- वमन, विरेचन, निरूहण, वस्तिकर्म और स्नेहन। तुम्हें मन का कायाकल्प करने के लिए पंचकर्म पद्धति की पांचों क्रियाओं से गुजरना होगा । यह बहुत कठिन बात है। मैं स्वयं पंचकर्म से गुजरा हूं। मुझे उसकी कठिनाइयां ज्ञात हैं।

उसने कहा--आप मुझे इतना कठिन कोर्स दे रहे हैं। क्या आपको परंपरा का ज्ञान है ?

'हां, मैं परंपरा को जानता हूं। मुझे पता है, कोई नई बात नहीं है। मैंने परंपरा जानी है आचार्य तुलसी से, और इसके पीछे महावैद्यों की प्रलम्ब परंपरा भी जुड़ी हुई है। पूरी एक श्रृंखला है । मैं तुम्हें महावैद्य जयाचार्य के पास ले चलूं। वे मन का कायाकल्प करने में कुशल थे। मैं तुम्हें आचार्य शिवकोटि के पास ले चलूं, जो आराधना का कुटीर बनाने में और पंचकर्म कराने में कुशल शिल्पी थे। और भी कितने नाम गिनाऊं । मैं इन सारे महावैद्यों की, आचार्यों की परंपरा जानता हूं इसीलिए मैं कहता हूं कि यदि तुम्हें मन का कायाकल्प करना है तो तुम्हें पंचकर्म करना ही होगा। इसके बिना कुछ भी नहीं होगा।

उसने कुछ क्षणों तक चिन्तन किया । मन का कायाकल्प कराने का निश्चय कर सारी शर्तें स्वीकार कर लीं।

मैंने कहा--तुमने आराधना की कुटीर बना लिया है। अब पंचकर्म की क्रिया का प्रारंभ करो । पडिक्कमामि, निंदामि, गरहामि, आलोएमि, मिच्छामि दुक्कड़ं --ये पांच कर्म हैं। उस व्यक्तिके पंचकर्म की प्रक्रिया से शोधन हो गया। आयुर्वेदीय पंचकर्म

से शरीर शुद्ध हो जाता है किन्तु उस शुद्धि को टिकाए रखने के लिए फिर उचित औषधि का सेवन आवश्यक होता हे । उसी प्रकार मन को शुद्ध करने के पश्चात् फिर वह दूषित न बने, इसलिए कुछ करना शेष रह जाता है। कोरे 'मिच्छामि दुक्कड़ं' से कुछ भी नहीं होता ।

पूरा 'मिच्छामि दुक्कड़ं' तब बनता है जब उसके साथ यह आगे का सूत्र 'इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं' जुड़ जाता है। 'मिच्छामि दुक्कड़ं' का अर्थ है- मैंने भूल से यह काम कर दिया । इसके उत्तरसूत्र का अर्थ होता है- अब मैं वह भूल नहीं करूंगा, जो मैंने पहले की थी। 'पुनरकरणयाए अब्भुट्ठिओमि' मैं सावधान होता हूं कि फिर वह कभी नहीं दोहराऊंगा। भूल करना दोष है तो भूल को दोहराना महादोष है । जो व्यक्ति भूल को नहीं दोहराता, वह भूलों से बहुत कुछ सीख जाता है। यह रसायन है। शोधन के पश्चात् रसायन का प्रयोग आवश्यक होता है।

'मिच्छामि दुक्कड़ं'-यह शोधन है । 'पुनरकरणयाए अब्भुट्ठिओमि' 'इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं' यह रसायन है ।

**शोधन है मूल में**

स्वभाव का परिवर्तन और मानवीय संबंधों का परिवर्तन तब घटित हो सकता है जब प्रतिदिन हमारे मन पर जमने वाले मलों का शोधन होता रहे । पसीना आता है, शरीर पर मैल जम जाता है । धूल उड़ती हैं, शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं। आदमी इनके मैल को पानी से धो डालता है किन्तु वह इस ओर ध्यान ही नहीं देता कि मन पर प्रतिपल कितना मैल जमता है । उस मैल को हटाने के लिए वह नहीं सोचता । कितने आश्चर्य की बात है ? जब तक इस मैल को नहीं धोया जाता तब तक स्वभाव परिवर्तन या मानवीय संबंधों में परिवर्तन करने की कल्पना केवल कल्पना मात्र ही रह जाती है । उसका कोई परिणाम नहीं आ सकता । सबके मूल में है शोधन । हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण करें। प्रतिक्रमण का तात्पर्य है-दिन में या रात में मैल जमा हो, उसे धोकर साफ कर डालें ।

**मैल क्यों जमता है?**

मन पर मैल जमता है पदार्थों के द्वारा । पदार्थ अनित्य हैं, अशाश्वत हैं। आदमी उनको नित्य और शाश्वत मान लेता है । उससे मूर्च्छा पलती है। इतना लगाव हो जाता है पदार्थ से कि एक सूई भी खो जाए तो मन खो जाए । पदार्थ के वियोग से मन बेचैन हो जाता है। अनित्य को इतना नित्य मान लिया कि मानो वह कभी भी बिछुड़ने वाला नहीं है । पदार्थों के प्रति जो नित्यता की बुद्धि है, उससे मैल जमता है।

परिवार एक सचाई है किन्तु आदमी अपने आपको उससे अभिन्न मान लेता

है । 'मैं और मेरा परिवार एक है'-यह मान्यता बन जाती है । जब व्यक्ति परिवार के स्वार्थों का पोषण करता है तब तक परिवार वाले उसको अलग नहीं मानते और वह भी परिवार से अपने को अलग नहीं मानता किन्तु यह सचाई जब खंडित हो जाती है तब पता चलता है कि परिवार व्यक्ति के प्रति क्या है और व्यक्ति परिवार के प्रति क्या है ? उस समय एक साथ इतना अनुताप उभरता है, इतना दुःख होता है कि व्यक्ति का मन टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है । वह सोचता है– जिस परिवार के लिए मैंने इतने कष्ट सहे, यह किया, वह किया, वही परिवार आज मेरे से आंख तक नहीं मिलाता । उसे अत्यन्त दुःखद अनुभूति होती है । मन पर मैल की परतें जमती चली जाती हैं। उसके लिए दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता । हम इस सचाई को मानकर चलें कि पारिवारिक संबंध, मित्रों और साथियों के संबंध वास्तविक नहीं हैं । अन्तिम सचाई यह है कि व्यक्ति अकेला है, बिल्कुल अकेला । हम इस सचाई को समझकर ही पारिवारिक संबंधों को निभा सकते हैं। जो इस सचाई को भूलकर संबंधों को अन्तिम सचाई मानकर चलते हैं, उनके मन पर मैल इतना गाढ़ा जम जाता है कि उसको धोने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ता है ।

### तीन अनुप्रेक्षाएं

मन पर जमने वाले मलों को दूर करने के लिए हमें अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए । तीन अनुप्रेक्षाएं हैं–अन्यत्व अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा और अनित्य अनुप्रेक्षा। अन्यत्व अनुप्रेक्षा अर्थात् शरीर और आत्मा का भेदज्ञान । शरीर को अलग मानना, आत्मा को अलग मानना । दोष का मूल कारण है--शरीर के प्रति मूर्च्छा । यह मूर्च्छा दूसरी सारी मूर्च्छाओं को जन्म देती है । जब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होता है तब शरीर के प्रति होने वाली मूर्च्छा नहीं पनपती, मैल नहीं जमता। पदार्थ के द्वारा होने वाली मूर्च्छा और उससे जमने वाला मैल भी कम होने लगता है। एकत्व अनुप्रेक्षा के अभ्यास से सामाजिक संबंधों से आने वाली मूर्च्छा कम होने लगती है । अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से पदार्थों के प्रति होने वाली मूर्च्छा नष्ट हो जाती है। ये तीन प्रकार की अनुप्रेक्षाएं रसायन हैं। इनसे मन के मैल को धोया जा सकता है।

### पथ्य की अनिवार्यता

रसायन के सेवन से भी काम पूरा नहीं होता । शोधन ओर रसायन के साथ-साथ पथ्य का सेवन भी होना चाहिए । जो व्यक्ति शरीर का पूरा शोधन कर लेता है, पौष्टिकता के लिए रसायन का सेवन भी करता है पर यदि वह पथ्यापथ्य का विवेक नहीं रखेगा, जो चाहा, वह खाने लग जाएगा तो शोधन और रसायन का सेवन भी क्या करेगा ? पथ्य का सेवन जरूरी है । उसके बिना प्रक्रिया पूरी नहीं होती । कहा गया -'यदि पथ्यं किमौषधेन ? यद्यपथ्यं किमौषधेन ?' यदि पथ्य है तो

औषधि-सेवन से क्या ? यदि अपथ्य है तो औषधि- सेवन से क्या ? जितना लाभ दवाई नहीं करती उतना लाभ पथ्य कर देता है।

एक साधक ने बताया –मैंने पिछले शिविर में कुछ प्रयोग सीखे, दैनंदिन के भोजन में परिवर्तन किया । नमक छोड़ दिया, चीनी छोड़ दी। भोजन की मात्रा कम कर दी । पर मेरी शक्ति यथावत् बनी रही। आलस्य घटा, स्फूर्ति बढ़ी और कार्य करने की क्षमता का विकास हुआ । स्वास्थ्य भी पहले से बहुत अच्छा बना ।

यह सारा पथ्य का ही परिणाम है । यह पथ्य न हो, भोजन का क्रम न बदले और ध्यान भी चलता रहे तो कोई परिणाम नहीं आ सकता । पथ्य का विवेक हो, भोजन का क्रम बदले, चर्या बदले, उचित श्रम हो तभी ध्यान फलदायी हो सकता है।

**पथ्य क्या ? क्यों ?**

प्रश्न होता है--पथ्य क्या है ? पथ्य है मन की शान्ति, मन की निर्मलता । जो मानव-मन जीर्ण-शीर्ण हो गया है, टूट-फूट गया है, उसे संभालना है तो उस पर ध्यान देना होगा । हमारे जीवन में सबसे अधिक शक्तिशाली हैं--चित्त, मन और चेतना । उन पर हम ध्यान ही नहीं देते, सारा ध्यान शरीर पर केन्द्रित कर देते हैं। जहां शरीर को कष्ट होता है वहां आदमी मन और चेतना को भी गौण कर देता है।

सुख का साधन है--शरीर। शरीर को आराम मिलना चाहिए। शरीर पर पसीना नहीं आना चाहिए । शरीर पर धूप नहीं लगनी चाहिए। आदमी प्रत्येक बात को शरीर की दृष्टि से ही सोचता है । वह चेतना को गौण कर देता है । जिस व्यक्ति ने कर्तव्य,सेवा,उदात्त भावना और परमार्थ चेतना को मूल्य दिया है, वह कभी शरीर का विचार नहीं करता, उसको कभी अतिरिक्ति मूल्य नहीं देता, क्योंकि उसका लक्ष्य ही बदल जाता है । इस दुनियां में जीने वाले निन्नानवें प्रतिशत लोग शरीर-प्रतिबद्ध होते हैं । वे शरीर की दृष्टि से विचार करते हैं, मन की दृष्टि से विचार नहीं करते। वस्तुतः मन की दृष्टि से विचार करना बहुत बड़ा पथ्य है।

**वक्र है मन का घोड़ा**

मन का अश्व बहुत वक्रगति से चलता है । उस की लगाम खींचेंगे तो वह उछलने लग जाएगा । ध्यान में मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं तो मन का अश्व, जो पहले शांत था, दौड़ने लग जाता है । काम में संलग्न होते हैं तो मन शांत रहता है। ज्योंही माला जपने बैठते हैं, उसमें मन को टिकाने का प्रयत्न करते हैं, मन और अधिक चंचल हो जाता है, दौड़ने लग जाता है । यह अश्व वक्र है । इस अश्व को संभालना बहुत ही टेढ़ा काम है । यह नियंत्रण से हाथ में नहीं आएगा । यह हाथ में तब आता है जब इसको शिथिल कर दिया जाता है, नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाता है।

हमारा शुद्ध रूप है--केवल ज्ञाताभाव, केवल द्रष्टाभाव, केवल जानना, केवल देखना । यह मन के कायाकल्प का सबसे महत्त्वपूर्ण पथ्य है। न प्रियता का संवेदन, न अप्रियता का संवेदन–कुछ भी नहीं, केवल जानना, केवल देखना । यह कठोर पथ्य है । किन्तु यदि मन का कायाकल्प करना है तो इस पथ्य का पालन करना होगा।

**मन का बुढ़ापा : तीन कारण**

हम इस प्रश्न पर भी विचार करें कि मन बूढ़ा क्यों होता है ? मन बीमार क्यों होता है ? मन टूटता क्यों है ? इसके ऊतक खराब क्यों होते हैं ? नए ऊतक क्यों नहीं बनते ? शरीर के बीमार होने में मूल कारण यही है कि नए टिस्यू बनते नहीं और पुराने जीर्ण हो जाते हैं । यही समस्या मन की है ।

मन के टूटने, बीमार और बूढ़ा होने के तीन कारण हैं–शंका, कांक्षा और विचिकित्सा । मन का कायाकल्प करने वाले व्यक्ति को इन तीन तत्त्वों से बचना होता है । जो इनसे बचता है, उसके सामने मन के कायाकल्प की पूरी प्रक्रिया प्रस्तुत हो जाती है।

हम अपनी दृष्टि को विकसित करें और मन के शोधन की प्रक्रिया को नए संदर्भ में पढ़ें तो मन के कायाकल्प की पूरी कल्पना हमारे सामने प्रस्तुत होगी।

# मन का अनुशासन

**व्यक्ति की समस्या**

एक भाई आया । बहुत परेशान और चिन्तित । उसकी आंखों में निराशा और उदासी थी । ऐसा लग रहा था-- वह किसी गहरी चिन्ता से आकुल-व्याकुल हो रहा है ।

मैंने पूछा--' ऐसी स्थिति क्यों? क्या किसी आर्थिक झंझट में फंस गए हो ? '

उसने कहा–'नहीं, आर्थिक कठिनाई कुछ नहीं है । बहुत संपन्न हूं। सारी सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं । जितना चाहता हूं, उससे अधिक ही मिलता है।'

'क्या तुम पारिवारिक समस्याओं से आक्रान्त हो ?'

'नहीं, सौभाग्य से मुझे एक ऐसा परिवार मिला है, जो विरल व्यक्तियों को मिल पाता है। सभी मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। एक को बुलाता हूं, पांच दौड़ आते हैं । नौकर-चाकर भी बहुत विनीत और श्रमनिष्ठ हैं। '

उसने निश्‍वास छोडते हुए कहा-' बाहर की मुझे कोई परेशानी नहीं है। मेरा मन बहुत दुर्बल हो गया है। प्रातःकाल एक बात सोचता हूं, मध्याह्न में उसको भूलकर दूसरी बात सोचता हूं और सायं उसे भी भूलकर तीसरी बात सोच लेता हूं। किसी बात पर मन दृढ़ नहीं रहता । जानता हूं–हिंसा बहुत बुरी है । मन करता है, अहिंसक रहूं परन्तु ज्योंही हिंसा की स्थिति सामने आती है, मैं हिंसा में रत हो जाता हूं, अहिंसा को भूल जाता हूं। सोचता हूं, गाली नहीं दूंगा। किंतु जब उत्तेजना का अवसर आता है, मुंह से गाली निकल ही जाती है।

प्रतिदिन बीसों घटनाएं घटित होती हैं । सोचता हूं–ऐसा नही करूंगा, समय आता है और वैसा ही कर लेता हूं

मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि सोचने वाला मन कोई दूसरा है और करने वाला मन कोई दूसरा है । जो साचता हूं, वह कर नहीं पाता । सब कुछ उल्टा होता है। इसी से दिन-रात परेशानी में रहता हूं।

## निरपराध है मन

मैंने कहा- परेशान मत बनो । यह केवल तुम्हारी ही समस्या नहीं है, प्रत्येक मनुष्य की यह समस्या है । मनुष्य की ही नहीं, जिस किसी प्राणी में मन का विकास है, वह इस समस्या से आक्रान्त है। दुनिया में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जो इस द्विरूप मन की समस्या का सामना न कर रहा हो ।

प्रश्न होता है-क्या मन भी दो हैं ? यदि मन एक होता तो आदमी का सोचना और करना एक होता । किंतु उसका सोचना और करना दो होते हैं इसलिए यह मानना होगा कि मन दो हैं। प्रश्न है--किस मन से लड़ें और किस मन का नियंत्रण करें ? आदमी लड़ने की बात सोचता है, नियंत्रण की बात सोचता है परन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि जिस पर नियन्त्रण करना चाहता है, वह तो बच निकलता है और जिस पर नियन्त्रण नहीं होना चाहिए, वह बेचारा फंस जाता है । अपराधी बच जाता है और निरपराधी पकड़ लिया जाता है।

हमारा मन बिलकुल निरपराध है। मन कोई दोष नहीं करता । वह पवित्र शक्ति है किन्तु अज्ञान के कारण हम उस पर नियंत्रण करने की बात सोचते हैं ।

निर्दोषी पर कैसा नियंत्रण ? दोष कहीं और है । दोषी कोई और है।

## व्यर्थ है मन के साथ लड़ना

हमने केवल स्थूल जगत् को समझा है उस के पीछे कितना बड़ा सूक्ष्म जगत् है, उसको समझने का प्रयत्न ही नहीं किया या प्रयत्न करने पर भी समझ नहीं पाए। यदि हम अपने भीतर छिपे हुए विराट् सूक्ष्म जगत् को समझ पाते तो मन से लड़ने की बात उपजती ही नहीं । सारा दोष सूक्ष्म जगत् से आ रहा है। सारे दोष भावना से प्रवाहित हो रहे हैं। सूक्ष्म जगत् से आने वाली भावना की धारा मन को काम में लेती है । मन को जैसा काम सौंपा जाता है वैसा वह कर देता है।

नौकर कितना ही शक्तिशाली हो, मालिक के कहे अनुसार उसे काम करना ही पड़ता है। कभी-कभी मन को अनचाहा काम भी करना पड़ता है। दोष भावना से आ रहा है । हम वहां पहुंच नहीं पाते या पहुंचना नहीं चाहते और मन से लड़ने की बात सोचते हैं । उसका परिणाम क्या होगा ? हजारों-लाखों वर्षों से या अनन्त काल से आदमी मन से लड़ता रहा है पर वह आज तक उसको पराजित करने में सफल नहीं हुआ । जिन लोगें ने यह जाना--मन के साथ लड़ने का प्रयास व्यर्थ है, वे भावना के स्तर पर दोषों को सुधारने में सफल हुए हैं।

हमें इस सचाई को समझ लेना चाहिए कि मन से साथ लड़ना व्यर्थ है । उसके साथ लड़ने की कोई जरूरत नहीं है । यदि लड़ाई करनी है तो उससे करें, जो मन से बहुत गलत कार्य करवा रहा है। उसके साथ लड़ना व्यर्थ नहीं जाएगा । उसके

साथ भी लड़ना नहीं होगा, प्रतिरोध नहीं करना होगा पर दूसरी पद्धति से उस पर नियन्त्रण करना होगा ।

## स्रोत है अविरति

एक आस्रव है--अविरति । महान् आस्रव और विशाल झरना । उसके कारण नई-नई आकांक्षाएं पैदा हो रही हैं । मन को वह आकांक्षा का पानी निरन्तर मिल रहा है । उस पानी से यह सदा हरा-भरा रहता है । प्रमाद का एक झरना है । वह भी छोटा नहीं है, बहुत बड़ा है । उसके कारण आदमी सोता रहता है, जागता ही नहीं । यह महानिद्रा कभी मिटती ही नहीं । यह स्थूल शरीर बेचारा दिन में सात-आठ घंटे सोता होगा किन्तु प्रमाद की नींद चौबीस घंटा बनी रहती है, आंखें खुलती ही नहीं । कषाय का आस्रव, झरना भी विशाल है । उसका प्रवाह चारों दिशाओं में फैलता है। अहंकार, घृणा, ईर्ष्या, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता--उसके उपजीवी छोटे-छोटे झरने हैं । ये विविध प्रकार के झरने भीतर में बह रहे हैं। सब झरनों का पानी बेचारे मन पर गिरता है और वहां से दूसरों तक पहुंचता है। जो कुछ आता है, इस पानी के साथ बहता हुआ आता है । चंचलता भी उसी पानी के साथ आती है । यह पानी सारी गंदगी को एकत्रित कर लाता है और बेचारे मन की धारा से, मन की प्रणालिका से होकर गुजरता हे । हमें भीतर के झरने दिखाई नहीं देते, मन की नाली, मन की प्रणालिका दिखाई देती है । हम सोचते हैं--यह सारी गन्दगी मन से आ रही है। बेचारे मन को दोषी होना पड़ता है ।

## झरने को कैसे रोकें ?

प्रश्न है--कैसे करें ? क्या करें ? सबसे सरल उपाय है गंदगी के उन झरनों को बंद कर देना, आस्रवों का संवर करना । उसमें हम मन का सहारा ले सकते हैं । झरनों को सुखाना, सबसे पहला उपाय है। दूसरा उपाय होगा--मन की नाली को बंद कर देना । जिससे कि भीतर से जो आए, उसे वह स्वीकार न करे, संबंध कट हो जाए । ये दोनों उपाय चलें तो परेशानी का अन्त होगा और आदमी यह शिकायत कभी नहीं करेगा कि प्रातः एक बात सोचता हूं, मध्याह्न में दूसरी बात सोचता हूं, शाम को तीसरी बात सोचता हूं और करता कुछ और ही हूं।

पहले हम बाहर से चलें, भीतर के झरनों से संबंध-विच्छेद कर दें । घरों से संबंध ही तोड़ दें, जिससे घरों की गंदगी इन नालियों तक पहुंचे ही नहीं। इसका उपाय यही है।

## संकल्प-शक्ति और एकाग्रता

मन को शुद्ध और स्वच्छ करने का एक उपाय है-संकल्प की दृढ़ता ।

जिस आदमी का संकल्प दृढ़ नहीं होता, वह अपने कार्य में सफल नहीं होता। कल्पना को संकल्प में बदल दिया जाए, वह इतनी शक्तिशाली बन जाए कि वह कवच बन जाए, वज्र-पंजर बन जाए । जब कवच और वज्रपंजर का निर्माण हो जाता है तब भीतरी या बाहरी शक्तियों का कितना ही आक्रमण हो, कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता।

साधना के तीन बल हैं--मन का बल, वचन का बल और शरीर का बल । जैसे-जैसे मन का बल बढता है, शक्तियां विकसित होती जाती हैं और बाहर का प्रभाव कम होता जाता है । एकाग्रता और संकल्प-शक्ति का विकास होने पर--

- पुरानी आदतें बदलती हैं, नई आदतों का निर्माण होता है।
- पुरानी आस्थाएं बदलती हैं, नई आस्थाएं जन्म लेती हैं।
- पुराने संस्कार टूटते हैं, नए संस्कार निर्मित होते हैं ।

इस स्थिति में मन भीतरी झरनों को कह देता है-- अपना पानी और कहीं से बहायें। मैं आपके पानी को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हूं । बाहर के निमित्तों को भी वह अस्वीकृति दे देता है, निश्चिन्त होकर अपना काम करने लग जाता है।

### भावक्रिया : महत्त्वपूर्ण आयाम

दर्शन का एक आयाम है--मन का प्रशिक्षण । मानसिक प्रशिक्षण से मन को अनुशासित किया जा सकता है। हम मन को प्रशिक्षित कर, मन को सूक्ष्म बनाकर जितना देख सकते हैं उतना स्थूल मन के द्वारा नहीं देख पाते । भावक्रिया का अर्थ है कर्म और मन का सामंजस्य। कर्म और मन--दोनों साथ-साथ चलें । मन कहीं भटक रहा है और क्रिया कुछ हो रही है, यह विसंवाद है । भावक्रिया सधती है तो मन सध जाता है । खाएं तो मन खाने की स्मृति में रहे, चलें तो मन चलने की स्मृति में रहे, बोलें तो मन बोलने की स्मृति में रहे, सोचें तो मन मस्तिष्क की प्रक्रिया में जुटा रहे। यह है कर्म और मन का सामंजस्य।

भावक्रिया दर्शन का महत्त्वपूर्ण आयाम है । जब भावक्रिया सध जाती है तब ध्यान की पद्धति केवल एक घंटा बैठकर करने की पद्धति नहीं रहती, वह समग्र जीवन दर्शन बन जाता है । इस स्थिति में प्रत्येक क्रिया में ध्यान बना रहेगा । फिर व्यक्ति झाडू लगाएगा, तब भी ध्यान होगा । हाथ झाडू लगाएगा तो मन भी साथ-साथ झाडू लगाने की दिशा में संलग्न हो जाएगा । यह नहीं होगा कि हाथ तो झाडू लगाए और मन कहीं सिंहासन पर जाकर बैठ जाए । यह व्यक्तित्व का विभाजन नहीं होगा, खंडित व्यक्तित्व नहीं होगा । जिस काम में शरीर व्यापृत है, उसी काम में मन व्यापृत हो जाएगा। ऐसा नहीं होगा कि मन आदेश देकर कहीं चला जाए और शरीर बेचारा काम करता रहे । यह स्वामी और सेवक का संबंध भावक्रिया में नहीं रहेगा । वहां

दो साथियों का संबंध होता है मन और शरीर में। दोनों साथ-साथ काम करेंगे, साथ-साथ विश्राम करेंगे । मन काम करेगा तो शरीर भी काम करेगा । मन विश्राम करेगा तो शरीर भी विश्राम करेगा । दोनों का पूरा सामंजस्य होगा ।

भावक्रिया से मन प्रशिक्षित होता है। उससे मन पटु और सूक्ष्म होता है।

## कल्पनाशक्ति का विकास

मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है-कल्पनाशक्ति का विकास, संकल्प या इच्छाशक्ति का विकास । मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह स्पष्ट चित्र बना सके । कल्पनाशक्ति के द्वारा चित्र का निर्माण और संकल्पशक्ति के द्वारा उस चित्र की उपलब्धि । हमारी जो भावना होती है, उससे हम अपने सुझावों के द्वारा, इच्छाशक्ति के द्वारा जहां पहुंचना चाहते हैं वहां पहुंच जाते हैं । जो होना चाहते हैं, वह हो जाते हैं। जिस दिशा में हम चलना चाहते हैं, उस दिशा में स्वयं प्रस्थित हो जाते हैं।

## संयम और संकल्प

संयम और संकल्प में बहुत निकटता है । संकल्प की सिद्धि के लिए संयम के अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं। जैसे--

१ . एक घंटा सर्दी सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा ।

२ . एक घंटा गर्मी सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा ।

३ . एक घंटा भूख सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा ।

४ . एक घंटा प्यास सहूंगा, कष्ट से विचलित नहीं होऊंगा ।

इस प्रकार संकल्प-शक्ति के अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं ।

आयुर्वेद से परिचित व्यक्ति जानते हैं--आठ पुटी अभ्रक और हजार पुटी अभ्रक में शक्ति का कितना अंतर है ? जितनी पुटें होंगी, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाएगी। औषधियों के प्रकरण में भावना का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। उसी प्रकार मन में भावना की पुट देने से जो कार्य हम करेंगे, उसमें दूसरा विकल्प बाधक नहीं बनेगा।

## एकाग्रता का विकास

मन को प्रशिक्षित करने का तीसरा सूत्र है--एकाग्रता का विकास। वृत्तियों के कारण मन स्वभावतः चंचल होता ही है। जब उसे चंचल बनाने के अनेक साधन मिल जाते हैं तब उसकी चंचलता वृद्धिंगत हो जाती है। आज मन को चंचल बनाने के जितने साधन सुलभ हैं उतने अतीत में नहीं थे। अतीत में साधन ही बहुत कम थे । पदार्थ विकास के साथ-साथ भौतिक साधन बढ़ रहे हैं और वे सब चंचलता को बढ़ाने वाले हैं। रेडियो, टेलीविजन आदि उपकरण जानकारी के अच्छे साधन माने

जाते हैं। किन्तु वे चंचलता को बढ़ावा देने वाले भी हैं। सिनेमा मनोरंजन का अच्छा साधन माना जाता है पर वह मन को चंचल बनाने का अनुत्तर उपाय है । जितने दृश्य और श्रव्य साधन हैं, वे सब चंचलता के वर्द्धक हैं । जो व्यक्ति समाचारपत्रों को पढ़ता है, वह हत्या, मारकाट, लूटखसोट, बलात्कार आदि की घटनाओं को पढ़कर अनेक संवेदनों से भर जाता है ।

चंचलता बढ़ाने वाले साधन-बहुल इस युग में यदि योग की अपेक्षा न हो और मन को एकाग्र करने की आवश्यकता न हो तो अतीत के किसी भी युग में ऐसी अपेक्षा नहीं मानी जा सकती । मन को एकाग्र करना वर्तमान युग की बहुत बडी अपेक्षा है। कहीं न टिकना, चंचल बने रहना, मन की अपनी सहज प्रकृति है । यदि वह किसी बिन्दु पर स्थित हो जाता है तो मानना चाहिए-- वह अपनी प्रकृति से ऊपर उठ गया है। मन की तुलना पारे से की जा सकती है। पारा चंचल है, पर आदमी ने उसकी गोलियां बांध दी । अब उसे पकड़ा जा सकता है । पारे की गोली हो सकती है तो मन को क्यों नहीं बांधा जा सकता । वह भी बंध सकता है।

**एकाग्रता : विकास की पद्धति**

एकाग्रता मन की निरोधावस्था नहीं है। यह उसकी किसी एक विषय में निरोधावस्था है । अनेक मार्गों में जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग में मोड़ देना है । नदी के प्रवाह में जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहों में नहीं हो सकती । सूर्य की बिखरी रश्मियों में वह शक्ति नहीं होती, जो केन्द्रित किरणों में होती है । मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरंतर बहता हैं तब उसमें अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता का अर्थ है--चिन्तन-प्रवाह को एक ही दिशा में प्रवाहित करना । मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतियां हैं। उनमें से कुछ पद्धतियां प्रस्तुत हैं--

१. **द्रष्टा की स्थिति**--मन की चंचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहां जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेय मन को ही बना लीजिए। उस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप में जागरूक रहकर मन का अध्ययन ही नहीं कर पाएंगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व स्थपित कर लेंगे।

२. **विकल्पों की उपेक्षा**--आपके मन में जो विकल्प उठते हैं, उनकी उपेक्षा कीजिए। जो प्रश्न उठते हैं, उनके उत्तर मत दीजिए । जैसे प्रश्न करने वाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी (प्रश्नों का उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३. **अप्रयत्न**--मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है । शरीर को स्थिर और श्वास को मन्द कीजिए। जैसे-जैसे शरीर और श्वास मन्द होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा

४. **श्वास-योग**—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए । श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास में लीन हो जाएगा।

५. **आकृति-आलम्बन**—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्र बनाइए। पहले देश, काल और बाह्य वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए, फिर उसे मानसिक चित्र में बदल दीजिए । उस चित्र को बहुत स्पष्ट और प्राणवान् जैसा कीजिए।

यदि प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियों पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्र बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६. **शब्द-आलम्बन**—इष्ट मंत्रों में मन को लगाइए । मन का प्रवाह शब्द की दिशा में प्रवाहित होकर अन्य विकल्पों से शून्य हो जाता है ।

७. **दृढ़ इच्छा-शक्ति**—इच्छा-शक्ति भावों से उत्पन्न होती है । भावों की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावों को इच्छा-शक्ति के रूप में बदलने का साधन है, स्वतः सूचन (Auto Suggestion) । मन को सूचना देने से भावों में उत्तेजना आरम्भ होती है और वही इच्छा-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इच्छा-शक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ़ हो जाती है। दृढ़ इच्छा-शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

## प्रेक्षा का अभ्यास

मन को प्रशिक्षित करने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—प्रेक्षा का अभ्यास। मन को देखने का अभ्यास करना चाहिए । मन सोचना तो बहुत जानता है। उसे यही सिखाया गया है। वह निरन्तर सोचने में लगा रहता है। हमें उसे इस दिशा में प्रशिक्षित करना है कि वह देख सके । मन में देखने की शक्ति भी है । सोचना और विचारना- यह मन की सतही अवस्था है। देखने में बहुत गहराई होती है । जब मन देखने लग जाता है तब सोचने की बात नीचे रह जाती है। कोई भी बात आती है तो देखने की बात मुख्य होगी, सोचने की बात पारिपार्श्विक बन जाएगी ।

## मन की चार भूमिकाएं

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में हम मन की चार भूमिकाओं के विकास का अभ्यास करते हैं—

१. जागरूकता   २. भावना   ३. विचार   ४. दर्शन।

हम सत्य और संयम के प्रति जागरूक नहीं होते इसीलिए मिथ्यादृष्टि, इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता चलती है । हमारा अस्तित्व परिणमनशील है इसीलिए हम बाहरी वातावरण से सम्मोहित होते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। राग-द्वेष के नाना आवेश

भी भावना के स्तर पर उभरते हैं वैसा ही हमारा दर्शन होता है। जब हम इन्द्रिय विषयों के प्रति मूर्च्छित होते हैं, तब भावना, विचार और दर्शन–ये सब इन्द्रिय विषयों के आस-पास ही घूमते रहते हैं । यही सारी समस्याओं और दुःखों का मूल स्रोत है।

### अस्वीकार की क्षमता

प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से हमारी मूर्च्छा टूट जाती है, मन सत्य और संयम के प्रति जागरूक बन जाता है। जागरूक मन दूसरे के सम्मोहन को अस्वीकार करने में सक्षम हो जाता है। हम शरीर और मन की अस्वस्थता को दूर करने के लिए सम्मोहन का प्रयोग करते हैं और पवित्र भावना के द्वारा हम निर्मल बन जाते हैं । हमें शरीर और मन का स्वास्थ्य उपलब्ध हो जाता है।

सम्मोहन के मुख्य तीन कारण हैं–तनाव, आवेग और अपने प्रति निराशा की भावना । जब निराशा की भावना होती है तब प्रत्येक बात में संतुलन बिगड़ जाता है।

### परिस्थिति का प्रभाव

एक कारण है बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव । हम बहुत जल्दी प्रभावित होते हैं। एक मनःस्थिति बन जाती है । यद्यपि हमारी चेतना की स्थिति है मनःस्थिति। वह स्वतंत्र होनी चाहिए। किन्तु परिस्थिति जैसी होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। बहुत कम लोग अपनी मनःस्थिति को मुक्त रख पाते हैं । जो परिस्थिति से मुक्त रख पाते हैं, वे ही लोग अच्छा निर्णय ले सकते हैं और अच्छा काम कर सकते हैं।

### जीवन का आधार

मानसिक संतुलन के लिए श्वास का अभ्यास बहुत आवश्यक है। श्वास से केवल प्राणवायु ही नहीं लेते, उसके साथ अनेक तत्त्व शरीर में आते हैं । प्राणशक्ति भी उसके साथ शरीर में जाती है। हम जी रहे हैं, केवल इन न्यूरॉन्स, विटामिन के आधार पर नहीं जी रहे हैं । जीवन का सबसे बड़ा आधार है प्राणशक्ति। हम दीर्घ-श्वास के अभ्यास के द्वारा प्राण का भी संग्रह करते हैं। प्राण को कहीं से खरीदना नहीं पडता, कहीं से लाना नहीं पड़ता । हमारे आस-पास प्राण बहुत हैं। पूरा आकाशमंडल प्राण से भरा है । आजकल इतना प्रदूषण हो गया कि प्राणशक्ति भी कम होने लग गई । फिर भी अभी तक हिन्दुस्तान में यह सुरक्षा है कि उतना प्रदूषण नहीं है । जिस व्यक्ति ने दीर्घश्वास का अभ्यास किया है, वह कभी भी प्राणशक्ति से खाली नहीं हो सकता और प्राणशक्ति के अभाव में बीमारियों, मानसिक व्याधियों से ग्रस्त नहीं हो सकता।

**निःश्रेयस्**

दीर्घ-श्वास का प्रयोग निर्विचारता का प्रयोग है। यह चिंतन को सीमित करने का प्रयोग है। यदि अच्छा अभ्यास हो जाता है तो जब चाहें, चिंतन कर सकते हैं और जब चाहें, चिंतन को रोक सकते हैं। कुछ लोग, जिन्हें भाषण देना होता है, पहले पूरी तैयारी करते हैं। बोलते हैं तो चिंतन के साथ बोलते हैं और भाषण देने के बाद भी चिंतन चलता रहता है। अगर यह कहता तो और अच्छा रहता । यह कहता तो और भी अच्छा होता । तीन भाषण हो जाते हैं । एक जनता के सामने आता है, दो मस्तिष्क में रहते हैं। मैंने एक सूत्र बनाया निश्चिंत होने के लिए–निश्शेषम्। हम कोई भी काम करें, गम्भीर अध्ययन, गंभीर शोध या गंभीर प्रवृत्ति करें, पूरी तन्मयता के साथ करें, उसमें डूब जाएं । जैसे ही उठें, एक बात का संकल्प लें–निश्शेषम्। बस, मेरा काम पूरा हो गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा । हम यदि यह भार लेकर उठते हैं कि इतना काम बाकी रह गया तो काम होगा या नहीं होगा पर दिमाग की शक्ति अवश्य ही खर्च हो जाएगी, तनाव बढ जाएगा और वह चिंतन चिंता में बदल जाएगा। रावण जैसे शक्तिशाली व्यक्ति ने मरते समय कहा था- मेरी इतनी बातें अधूरी रह गईं।

**चिन्तन करें, चिन्ता नहीं**

प्रत्येक आदमी सोचता है कि यह अधूरा रह गया, वह अधूरा रह गया। इस अधूरे-अधूरे की बात ने सारे जीवन के रस को सुखा दिया । अन्यथा कितना अच्छा हो, आज हमने किया, सोने से पहले या काम से उठने से पहले कर लिया। अब कल फिर नया जीवन शुरू करना है। कोई अधूरापन नहीं होगा और वह चिंतन चिंता नहीं बन पाएगा । यदि हम चिंतन और चिंता के भेद को समझ लें तो कोई उलझन नहीं होगी । एक बार आचार्य श्री तुलसी से एक व्यक्ति ने कहा–भीड़ आ रही है, जाने क्या होगा ? बहुत भय दिखाया । आचार्य श्री ने उत्तर दिया–चार शब्दों का उत्तर–चिंता नही, चिंतन करो। व्यथा नहीं, व्यवस्था करो।

व्यथा करना अलग बात है और व्यवस्था करना अलग बात है। चिंता करना अलग बात है और चिंतन करना अलग बात हैं। व्यथा नहीं, चिंता नहीं। चिंतन और व्यवस्था हो। चिंतन भी इतना न हो कि वह चिंता बन जाए । हर बात की सीमा होती है। मानसिक संतुलन के लिए चिंतन को भी सीमित करना आवश्यक है और यह एक प्रयोग है श्वास का, जिसमें ध्यान केन्द्रित होता हैं, विकल्प समाप्त होता है, विचार समाप्त होता है, चिंतन समाप्त होता है । श्वास का अभ्यास करते-करते भी ऐसा लगे कि विचार ज्यादा आ रहे हैं तो श्वास को बीच-बीच में रोक दें । जैसे ही श्वास का संयम हुआ, श्वास को रोका, विचार एकदम शान्त हो जाएंगे।

दूसरा उपाय एक और भी किया जा सकता है। जब यह लगे कि विकल्प ज्यादा उठ रहे हैं तो जीभ को स्थिर कर लें, जीभ को दांतों के साथ गहरा दबा दें। जीभ स्थिर होती है तो विचार और चिंतन अपने आप स्थिर हो जाता है। जीभ ओर विचार का गहरा सम्बन्ध है।

तीसरा उपाय यह भी कर सकते हैं कि जीभ को उल्टा लें तालु की ओर। जीभ को उलटते ही विचारों का प्रवाह एकदम रुक जाएगा।

ये छोटे-छोटे अभ्यास हैं, छोटे-छोटे प्रयोग हैं । ये हमारे चिन्तन को चिंता में बदलने से रोकते हैं। चिंता नहीं होगी तो मानसिक संतुलन बना रहेगा। मानसिक संतुलन से ही मानसिक अनुशासन संभव बन सकता है।

## संतुलन बनाएं

अगर दिन भर में एक घंटा न बोलने का अभ्यास किया जाए, प्रयोग किया जाए तो एक संतुलन बनेगा । जैसे कायिक अनुशासन है कायोत्सर्ग, वैसे ही वाचिक अनुशासन है-अन्तर्मौन। आदमी इतना सोचता है कि निरंतर सोचता ही रहता है सोचना जरूरी होता है, बिना सोचे काम नहीं चलता पर व्यक्ति अनावश्यक भी बहुत सोचता रहता है। अनाश्यक चिंतन को बंद करना मानसिक अनुशासन है।

हम एक संतुलन बनाएं । २४ घंटा न सोचने का अभ्यास करें, ऐसा न हो सके तो कम से कम एक घंटा एक ही विषय पर सोचने का अभ्यास करें । एक विषय पर सोचें, दूसरे विषय पर न जाएं।

## वर्तमान के साथ मैत्री

हमारा मन बहुत दौड़ता है । जो व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि मन के साथ कब किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, कब मन को दौड़ने के लिए स्थान देना चाहिए और कब मन को बांध कर पिंजड़े में डाल देना चाहिए, कब मुक्त करना चाहिए और कब उसे जकड़ देना चाहिए, वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करता है। मन के साथ-साथ चलने वाला कभी सफल नहीं हो सकता । जो मन के साथ नहीं चलता किन्तु मन की गति पर जब-जैसी जरूरत हो वैसा नियन्त्रण स्थापित करता है, वह व्यक्ति जीवन में सफल हो सकता है। मन उसी व्यक्ति को सताता है, जो अतीत की यात्रा करता है । जो वर्तमान की यात्रा पर रहता है, मन उसे नहीं सताता । जो व्यक्ति मन की हर मांग को पूरी नहीं करता किंतु मन की मांग की उपेक्षा करता है, वह वर्तमान को पकड़ लेता है, मन पर नियंत्रण का सूत्र हस्तगत कर लेता है।

**मन की मांग : उपेक्षा**

एकाग्रता और उपेक्षा- दोनों जुड़े हुए हैं । एक आदमी प्रातःकाल उठता है और रात को सोता है। उस अवधि के बीच हाथ में पैंसिल-पन्ना लेकर पूरे दिन की मांगों को लिखता जाए तो मैं सोचता हूं—सैकड़ों मांगें प्रस्तुत हो जाएंगी। क्या हम सब मांगों को पूरा कर पाएंगे ? सुखी वही होता है, जो मांग की उपेक्षा कर देता है । मन की ऐसी कम मांगें हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कुछ आवश्यक मांगें हैं । उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । उनको पूरा करना होता है । यदि लेखा-जोखा करें तो निकम्मी मांगें ९५% हैं, जरूरत और काम की मांगें शायद ५%होती हैं । यदि ९५% मांगों के झंझट में उलझ जाएं तो मानसिक तनाव, खिंचाव और अशांति पैदा होगी । इसलिए जो भी मांग आए, उसकी उपेक्षा कर दें । उपेक्षा से मानसिक अनुशासन सध सकता है।

**मन और भाषा**

कुछेक दार्शनिकों ने प्रस्थापना की—संसार शब्द से उत्पन्न हुआ है । प्रारम्भ में शब्द पैदा हुआ और शब्द से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ। मुझे लगता है कि यह कथन वास्तविकता पर आधारित है।

सृष्टि का विस्तार वाक् से होता है, वाणी से होता है । यदि वाणी नहीं होती तो एक आदमी किसी दूसरे आदमी के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता । ज्ञान के तीन पहलू हैं— स्मृति, कल्पना और चिन्तन । ये तीनों वाणी के आश्रित हैं। प्रश्न है--मन और वाणी या भाषा को अलग करने की सीमा कहां है ? मुझे लगता है कि यह बात हमें सीमा का बोध करायेगी कि भाषा को मूक मन कहा जा सकता है और मन को मुखर भाषा कहा जा सकता है। जब मन मुखर होता है, बोलने लगता है तब मन का नाम भाषा हो जाता है और भाषा जब मूक बनती है तब उसका नाम मन हो जाता है । कितना ही बड़ा ज्ञानी हो, अतीन्द्रियद्रष्टा हो, यदि उसके पास भाषा नहीं है तो वह दुनिया के काम का नहीं होता । केवलज्ञानी और अवधिज्ञानी भी भाषा के अभाव में अनुपयोगी बन जाते हैं। मुनि के लिए एक विशेषण है—'तिन्नाणं तारयाणं'—मुनि स्वयं तरता है और दूसरों को तारता है । वह स्वयं अपनी समस्याओं का पार पाता है और दूसरों को भी समस्याओं से पार पहुंचाता है । यह सब भाषा के माध्यम से ही संभव हो सकता है। भाषा के अभाव में वह स्वयं तैर सकता है, दूसरों को नहीं तैरा सकता ।

**भाषा पर अनुशासन क्यों ?**

मन की एक सीमा है । वाणी और शरीर की एक सीमा है । हमारे सारे आचरण और व्यवहार—इन सीमाओं में चलते हैं। इसीलिए सबसे पहला स्थान मन

को दिया गया । कोई बात मन में आए, संयम करो। मन में कोई बुरी बात न आए, यह अच्छी बात है । पर मन में आ जाए तो उसे मन तक रखो । बाहर मत आने दो। यदि यह सीख लिया जाता है तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। जब तक मन की बात मन में रहती है तब तक वह व्यक्तिगत बात बनी रहती है। पर जब मन की बात भाषा में उतर आती है तब वह सामाजिक बन जाती है। व्यक्ति और समाज की यही सीमा है । जब आचरण मन की सीमा तक होता है, वह वैयक्तिक होता है । मन से बाहर जब आचरण और व्यवहार होता है तब व्यक्ति की सीमा समाप्त हो जाती है। वही समाज का आदि-बिन्दु बन जाता है।

समाज का आरम्भ वचन से होता है। वचन की बात शरीर पर चली जाती है तो इसका और अधिक विस्तार हो जाता है । वाणी एक ऐसी शक्ति है, जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर शरीर को उछालती है । आदमी किसी से लड़ता है तो वाणी के द्वारा लड़ता है । किसी से प्रेम करता है तो वाणी के द्वारा करता है। आदमी किसी को अपना बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है। आदमी किसी को विरोधी बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है । वाणी की बहुत बड़ी शक्ति है । मुंह से एक बात निकलती है और सामने वाले व्यक्ति को जो चाहे सो बना देती है ।

## मन और वाणी

मन की सरलता होती है तब वाणी शुद्ध रहती है । मन की कुटिलता होने पर वह अशुद्ध हो जाती है । जिसका मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है, वही हो जाता है। वाणी में यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ॐ, अर्हं, सोहम् आदि मंत्राक्षरों का दीर्घ उच्चारण करने से मन वाणी के साथ जुड़ जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है । वह वायुमण्डल में तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते हैं और इष्ट परमाणुओं का परिपार्श्व बन जाता है।

## भावना और भाषा

जितने मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हैं, सब भावनात्मक वाणी के द्वारा होते हैं। भावना शब्दों के माध्यम से आती है । भावना शब्दातीत नहीं होती । मन में उसका एक आकार बनता है । वह शब्द का ही आकार होता है।

भावना की शक्ति प्रसरणशील होती है । भावना हमारी सूक्ष्म भाषा है, सूक्ष्म वाणी है । एक व्यक्ति के मन में जो भाव या भाषा बनती है, सामने वाले व्यक्ति के मन में उसकी प्रतिक्रिया भाषा में बन जाती है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो अन्यथा

नहीं हो सकता । एक व्यक्ति किसी के बारे में अच्छे विचार करता है, अच्छी भावना करता है, सामने वाले के मन में अपने आप अच्छे विचार आ जाते हैं, अच्छी भावना आ जाती है । बुरा विचार करता है तो सामने वाले के मन में उसके प्रति अप्रियता की भावना जाने-अनजाने पैदा हो जाती है।

## मनोनुशासन

मन के अनुशासन की एक प्रक्रिया है । उसे समझे बिना मन पर अनुशासन करना संभव नहीं बन पाता । आचार्य श्री तुलसी ने एक ग्रन्थ लिखा--'मनोनुशासनम्।' इसका अर्थ है–मन का अनुशासन। एक भाई ने कहा– मैंने वह ग्रंथ पढ़ा । उसमें अनुशासनों का जाल बिछा हुआ है-- आहार का अनुशासन, शरीर का अनुशासन, इन्द्रिय का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, भाषा का अनुशासन और मन पर अनुशासन । मन पर अनुशासन करने के लिए पांच और अनुशासन सीखने आवश्यक होते हैं। एक मन देवता को सिद्ध करने के लिए पांच अन्य देवताओं को साधना बहुत लंबी प्रक्रिया है । ऐसी सीधी प्रक्रिया चाहिए, जिससे मन पर अनुशासन हो जाए। फिर न आहार पर अनुशासन करने की आवश्यकता है, न भाषा और इन्द्रियों पर अनुशासन करने की जरूरत है।

लोग चाहते हैं कि आहार जैसा चल रहा है, वैसा ही चले । उस पर अनुशासन की जरूरत क्या है ? स्थिर करना है मन को। मन को साधने के लिए क्यों आहार का अनुशासन करें ? भोजन का संबंध है पेट से, लीवर से, आमाशय और पक्वाशय से, आंतों और जीभ से तथा मुंह की लार से । मन के साथ उसका क्या संबंध है?

## अनुशासन की प्रक्रिया

मनोनुशासन में अनुशासन की सुव्यवस्थित प्रक्रिया है । प्राचीन ग्रन्थों में वैसी प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है। अनुशासन की प्रक्रिया के छह अंग हैं। पर प्रश्न वही आता है कि शरीर पर अनुशासन क्यों करें ? शरीर और मन का संबंध ही क्या है? किसलिए इन्द्रियों पर अनुशासन करें ? बेचारा श्वास अपनी गति से आता है, जाता है । जागते हैं तो भी वह आता है और सोते हैं तो भी वह आता है । बैठते हैं तो भी वह आता है और चलते हैं तो भी आता है । अपने आप चलता है। उस पर नियंत्रण या अनुशासन क्यों किया जाए ? मन में उभरने वाले ये सहज प्रश्न हैं। लोग सीधा मन को ही पकड़ना चाहते हैं? मन के अनुशासन का मार्ग ऐसा है, जिसमें रज्जु का सहारा चाहिए । आकाश निरालंब है। उसमें यदि चलना है तो आलंबन लेना होगा। एक पहाड़ से दूसरे पर जाना है, बीच में कोरा आकाश है । कैसे जाए? मनुष्य ने उपाय ढूंढा। रज्जु-मार्ग का विकास हुआ । रज्जु-मार्ग से यात्रा करें। एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर पहुंचा जा सकेगा । पहाड़ से नीचे उतरने की जरूरत नहीं है।

**जरूरी है आलंबन**

अध्यात्म की यात्रा करने वालों ने, मन पर अनुशासन करने वालों ने, आलंबनों को खोजा है । उन्होंने छोटे-बड़े सभी आलंबनों की एक श्रृंखला बनाई । जयाचार्य ने आलंबनों की एक पूरा सूची प्रस्तुत की है । निरालंब तक पहुंचने में जिन आलंबनों की अपेक्षा है, उनमें संयम, तप, जप, शील, स्वाध्याय, अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण अनुप्रेक्षा, अनन्त अनुप्रेक्षा और निर्मल ध्यान--ये मुख्य हैं। इन आलंबनों का उपयोग किए बिना कोई भी साधक निरालंब तक नहीं पहुंच सकता । अशुद्ध आलंबनों को छोड़कर शुद्ध आलंबनों को स्वीकार करना--यह प्रथम नियम है। वासना अशुद्ध आलंबन है । चेतना शुद्ध आलंबन है।

**शरीर के दो छोर**

शरीर के दो छोर हैं--एक है कामना का और दूसरा है चेतना का। योगशास्त्र में शरीर को चेतना की दृष्टि से दो भागों में बांटा गया--

१. नीचे का भाग, जिसे मूलाधार या शक्तिकेन्द्र कहा जाता है, कामना या वासना का केन्द्र है।

२. ऊपर का भाग, सिर का भाग । ज्ञानकेन्द्र, यह चेतना का केन्द्र है।

अशुद्ध आलंबनों को छोड़ना और शुद्ध आलंबनों का सहारा लेना--यह ध्यान की प्रक्रिया का मूल तत्त्व है । उसका तात्पर्य है--कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होने वाली चेतना को ऊपर उठाकर ज्ञानकेन्द्र में ले जाना । नीचे के प्रवाह को ऊपर की ओर मोड़ देना । यह शुद्ध आलंबन की स्वीकृति है। यह प्रयत्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है । इस प्रयत्न से सारी वृत्तियों का परिष्कार होता है, मन का अनुशासन सधता है।

**इन्द्रिय संयम का महत्त्व**

चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया है--ध्यान । इस प्रक्रिया में पहला आलंबन है संयम । संयम के बिना ऊपर नहीं जाया जा सकता। हम नाभि पर ध्यान करते हैं, यह हमारा संयम है । हम आनन्दकेन्द्र पर ध्यान करते हैं, यह हमारा संयम है । सब वृत्तियों से चित्त को हटाकर किसी एक पुद्गल या परमाणु पर उसे केन्द्रित कर देना संयम है । ध्यान में इन्द्रिय-संयम परम आवश्यक तत्त्व है । व्यक्ति ध्यान करने बैठे और चारों ओर निहारता रहे तो ध्यान कैसे होगा ? व्यक्ति ध्यान-काल में बाहरी आवाजों को सुनने के लिए उत्सुक रहे तो कभी ध्यान नहीं हो सकता । चित्त को केन्द्रित करने के लिए इन्द्रिय-संयम बहुत आवश्यक है। इन्द्रिय-संयम के अभाव में मन के अनुशासन को साधा नहीं जा सकता।

## मनोनिरोध के साधन

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा--मन एक चपल घोड़ा है। यह चलते-चलते उन्मार्ग की ओर भी चला जाता है । आप उसका निग्रह कैसे करते हैं ?

गौतम ने कहा--मैंने उस घोड़े को खुला नहीं छोड़ रखा है। उसकी लगाम मेरे हाथ में है ।

'वह लगाम क्या है ?'

'ज्ञान, बुद्धि या विवेक लगाम है । वह जिसके हाथ में होती है, वह उस घोड़े पर नियंत्रण पा लेता है ।'

इस संवाद में मन को स्थिर करने का जो उपाय बताया गया है, वह ज्ञानयोग है। यह मन के अनुशासन का प्रथम हेतु है।

## लगाम है श्रुतज्ञान

लगाम से चलने वाले और बेलगाम से चलने वाले घोड़े में बहुत बड़ा अन्तर होता है । बेलगाम का घोड़ा भटका देता है, लगाम का घोड़ा राजमार्ग पर चलता है, सवार की इच्छानुसार चलता है । गौतम ने कहा--मेरे हाथ में लगाम है इसलिए मेरा घोड़ा कभी उन्मार्ग में नहीं जाता, कभी नहीं भटकता । मैं उस पर सवार हूं, जैसा चाहता हूं वैसे चला रहा हूं, इसलिए मन की, उस घोड़े की चंचलता से मुझे कोई कठिनाई नहीं होती । मन उपयोगी तत्त्व है । मन नहीं होता है तो जीव असंज्ञी होता है, विकास की अन्तिम भूमिका में नहीं रहता है। मन हमारी चेतना का विशिष्ट विकास है । चींटी, कीड़े-मकोड़े--इनमें मन का विकास नहीं होता अतः ये असंज्ञी कहलाते हैं। मनुष्य में मन का विकास होता है और अन्यान्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत विकास होता है । मन विकास की भूमिका का प्रतीक है । वह शत्रु नहीं है। एक कीमती घोड़ा है। इसकी लगाम है श्रतुज्ञान । आदमी में ज्ञान नहीं होता है तो मन उसे सताने लग जाता है । जब आदमी में ज्ञान होता है तब मन उसके लिए साधक बन जाता है, उपयोगी बन जाता है। मन भटकता रहता है, एक विषय पर नहीं टिकता । मन को एक स्थान पर टिकाने का साधन है--श्रुतज्ञान। यह एक ऐसी लगाम है, जिसके सहारे मन को जहां चाहें वहां टिका दें। चाहें तो उसको ज्योतिकेन्द्र पर टिका दें और चाहें तो उसे तैजस केन्द्र पर टिका दें। यह शक्ति आती है अभ्यास के द्वारा। इसके लिए श्रुतज्ञान बहुत आवश्यक है, बड़ा आलंबन है।

## मनोनिरोध : वैराग्य

ज्ञान का अर्थ सब कुछ जानना नहीं है किन्तु अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति है । वैराग्य उसका परिणाम है । अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग होने का नाम ही विराग है। जब तक अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक बाह्य

वस्तुओं के प्रति मन में तृष्णा रहती है । उसके द्वारा उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। आत्मानुभूति होने पर यह स्थिति उलट जाती है। अनुराग वस्तुओं से हटकर अपने प्रति हो जाता है । इसका अर्थ है कि पदार्थ के प्रति विराग हो जाता है।

संकल्प, विकल्प और इच्छा--ये सब मन के कार्य हैं। बाह्य वस्तुओं के प्रति जितनी कल्पना और इच्छा होती है, मन उतना ही चंचल रहता है। मन की गति को आत्मा की ओर मोड़ देने पर उसकी कल्पना और इच्छाशक्ति क्षीण हो जाती है । इसी को हम कहते हैं वैराग्य के द्वारा मन का निरोध।

**आत्मज्ञान और वैराग्य**

वैराग्य ज्ञानयोग का ही प्रकार है। आत्मज्ञान की निर्मलता वैराग्य का रूप ले लेती है । कोई भी आदमी ऐसा नहीं हो सकता, जो आत्मज्ञानी नहीं है और विरक्त है। ऐसा भी कोई आदमी नहीं हो सकता है, जो विरक्त नहीं है और आत्मज्ञानी है। जो आत्मज्ञानी होगा, वह विरक्त होगा और जो विरक्त होगा, वह आत्मज्ञानी होगा, यह निश्चित व्याप्ति है।

आत्मज्ञान के दो हेतु हैं--निसर्ग और अधिगम । कुछ लोग निसर्ग से ही आत्मज्ञानी होते हैं। अधिगम का अर्थ है गुरु का उपदेश । गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले नैसर्गिक आत्मज्ञानी की अपेक्षा अधिक होते हैं। नैसर्गिक आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करते हैं किंतु गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान की दिशा में चलने वाले श्रद्धा के प्रकर्ष से मानसिक एकाग्रता साध लेते हैं । श्रद्धा के प्रकर्ष में विश्वास केन्द्रित हो जाता है और मन की तरलता सघनता में बदल जाती है।

**शरीर की शिथिलता : संकल्प और संयम**

ज्ञान और वैराग्य चैतन्य की स्वाभाविक क्रियाएं हैं । श्रद्धा का प्रकर्ष प्रेरणा से प्राप्त क्रिया है । मन की एकाग्रता केवल इन्हीं से नहीं होती है । वह शरीरसंयम से भी हो सकती है । शरीर की चंचलता मन की चंचलता है, शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता है। शरीर की स्थिरता शिथिलीकरण के द्वारा प्राप्त होती है।

शरीर की शिथिलता संकल्प और श्वास-संयम पर निर्भर है । कहा गया-- पद्मासन या सुखासन में बैठकर शरीर को ढीला छोड़ दीजिए और शरीर की शिथिलता का संकल्प कीजिए । शरीर शिथिल हो रहा है, ऐसा अनुभव कीजिए । अनुभव जितना तीव्र होगा, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

संकल्प की साधना के पश्चात् श्वास-संयम का अभ्यास कीजिए। श्वास-संयम से अभिप्राय प्राण को सूक्ष्म करने से है । हम जो श्वास लेते हैं, वह स्थूल प्राण है। श्वास लेने की जो शक्ति (श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति) है, वह सूक्ष्म प्राण है। नाभि और

नासाग्र पर दो-चार क्षण के लिए मन को एकाग्र कीजिए। सहज ही श्वास-संयम हो जाएगा । श्वास की मन्दता या सूक्ष्मता से शरीर की क्रियाएं सूक्ष्म हो जाती हैं और शिथिलीकरण सध जाता है। शरीर की स्थिरता और श्वास की स्थिरता होने पर मन का निरोध सहज सरल हो जाता है।

श्वास की मन्दता का सम्बन्ध कायोत्सर्ग और मानसिक एकाग्रता–इन दोनों से है । कायिक स्थिरता का सम्बन्ध श्वास की मन्दता और मानसिक एकाग्रता–इन दोनों से है । मानसिक एकाग्रता का सम्बन्ध काया की स्थिरता और श्वास की मन्दता–इन दोनों से है। इसलिए शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों की व्याख्या इनमें से किसी एक के माध्यम से नहीं की जा सकती।

## संभव है संकल्प-निरोध

मन की प्रवृति संकल्प और विकल्प के द्वारा बढ़ती है। उसका निरोध होने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है । संकल्प-निरोध और ध्यान में भिन्नता नहीं है । संकल्प का निरोध किए बिना ध्यान नहीं होता। जब ध्यान होता है तब संकल्प का निरोध होता ही है। फिर भी संकल्प-निरोध को मानसिक स्थिरता का ध्यान से भिन्न साधन माना गया है । इसका एक विशेष हेतु है । इसके द्वारा एक विशेष प्रक्रिया का सूचन किया गया है। संकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। लम्बे समय तक उसे रोकने में कठिनाई होती है इसलिए प्रारम्भ में उस प्रवाह की निरन्तरता में विच्छेद डालने का अभ्यास करना चाहिए। उस प्रक्रिया को आकस्मिक कुम्भक के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। पूरक और रेचक न करें । एक क्षण के लिए कुम्भक करें, वह भी आकस्मिक ढंग से । जैसे कोई बाधा आने पर चलता पैर अकस्मात् रुक जाता है वैसे ही श्वास को हठात् बन्द कर लीजिए । क्षण-भर के लिए कुम्भक की मुद्रा में रहिए। जिस क्षण कुम्भक होगा, उस क्षण में संकल्प भी उसी प्रकार आकस्मिक ढंग से बन्द हो जाएगा । इस क्रिया को पांच-दस मिनट के बाद फिर दोहराएं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से संकल्प का प्रवाह स्खलित हो जाता है । लम्बे समय की एकाग्रता के लिए यह क्रिया पृष्ठ-भूमि का काम करती है।

## ध्यान

मानसिक निरोध का प्रबलतम हेतु ध्यान है। जब हम किसी एक विषय पर स्थिर रहने का अभ्यास करते हैं तब मन की चंचलता को एक स्थान में रोकने का प्रयत्न करते हैं । उच्छृंखलता से विचरने वाली मन की चंचलता का क्षेत्र सीमित हो जाता है, हजारों-हजारों विषयों से हटकर एक विषय में सिमट जाता है, यह मन की चंचलता का गतिभंग है। इसकी बार-बार पुनरावृत्ति होने पर यह गतिभंग गतिनिरोध के रूप में बदल जाता है।

**मानसिक ध्यान : निष्पत्ति**

- मानसिक ध्यान की प्रथम अवस्था में स्नायविक तनाव कम होते हैं।
- प्रसन्नता बढती है।
- इससे शारीरिक और तनावजन्य रोग शांत होते हैं।
- मानसिक कार्यक्षमता और सहिष्णुता का विकास होता है।
- मनोवृत्तियों और मानसिक व्यवहारों में परिवर्तन होता है।
- आदतें बदलती हैं।

वैज्ञानिक शोध से प्राप्त निष्कर्ष भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। स्टैनफर्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट के डॉ० लियोन ओटिस ने सन् १६७२ में एक कंट्रोल-युक्त शोध कार्यक्रम में ५७० ध्यानियों की जांच की । इनमें ४५ अफीमची थे, उनमें से ३५ ने छह महीने के ध्यान का अभ्यास करने के बाद अफीम छोड़ दी ।

**अग्रिम अवस्थाएं : निष्पत्ति**

मानसिक ध्यान की दूसरी अवस्था में ईर्ष्या, विषाद, शोक, दुश्चिन्ता आदि-आदि राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःख क्षीण हो जाते हैं। मैत्री, समभाव आदि गुण विकसित हो जाते हैं।

इसकी तीसरी अवस्था में सर्दी-गर्मी आदि का संवेदन और मानसिक संस्कारों के मूल क्षीण होने लग जाते हैं ।

इसकी चतुर्थ अवस्था में कष्टों से विचलन और भय सर्वथा नहीं होता । सूक्ष्म तत्त्वों (Invisible Substance) का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । मोह या भ्रम की स्थिति समाप्त हो जाती है । शरीर और आत्मा का भेदज्ञान स्पष्ट हो जाता है । जितने संयोग हैं, वे सब पृथक्-पृथक् दीखने लग जाते हैं । सब प्रकार के विजातीय तत्त्वों का विसर्जन करने की क्षमता तीव्र हो जाती है । कहीं भी असक्ति का भाव नहीं रहता ।

**साधना का सूत्र**

गौतम ने पूछा--' भन्ते ! एक आलम्बन पर मन का सन्निवेश करने से क्या लाभ होता है ?'

भगवान् महावीर ने कहा--' गौतम ! उससे चित्त का निरोध हो जाता है। '

चित्त-निरोध की प्रक्रिया गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है और प्रयत्न की बहुलता से उसकी सिद्धि होती है । मन की स्थिरता जान लेने मात्र से सिद्ध नहीं होती । इसके लिए अनेक प्रयत्न करने होते हैं, लम्बे समय तक निरन्तर और श्रद्धा के साथ। कोई व्यक्ति मानसिक स्थिरता का अभ्यास करता है, उसमें पूरा समय नहीं लगाता अर्थात् तीन घंटे का समय नहीं लगाता, उसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। थोड़ा

समय लगाने से कुछ लाभ अवश्य होता है किंतु आदमी शिखर तक नहीं पहुंचता।

जिसका चित्त अनवस्थित होता है—कभी स्थिरता का अभ्यास करता है, कभी नहीं करता, इस प्रकार कभी-कभी अभ्यास करने वाला भी सफलता से वंचित रहता है। लम्बे समय तक निरन्तर अभ्यास करने वाला भी श्रद्धा के बिना सफल नहीं हो सकता । श्रद्धा का अर्थ है— तन्मय हो जाना, ध्येय के प्रति समर्पित हो जाना या उसमें विलीन हो जाना ।

गुरु का उपदेश, ध्यान प्रक्रिया शिक्षा, श्रद्धा, दीर्घकालीन और निरन्तर अभ्यास-- इस पूर्ण सामग्री के प्राप्त होने पर मानसिक एकाग्रता या निरोध की साधना सरल हो जाती है, मन के अनुशासन का प्रश्न समाहित हो जाता है।

# कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान

ज्ञान और अध्यात्म दो हैं। दोनों जरूरी हैं । ज्ञान के बिना अध्यात्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अध्यात्म में उतरे बिना ज्ञान की शुद्धता नहीं हो सकती, ज्ञान का प्रस्फुटन नहीं हो सकता । ज्ञान अध्यात्म को बढ़ाता है और अध्यात्म ज्ञान को नये-नये उन्मेष देता है । पश्चिम के दार्शनिकों ने मन का काफी गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है । उन्होंने मन के विषय में अनेक खोजें की हैं, मन का पूरा विश्लेषण किया है । मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गयी। प्रश्न होता है कि भारत के सत्यवेत्ताओं ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम दो शाखाओं–योगशास्त्र और कर्मशास्त्र पर ध्यान दें।

**अध्यात्म का सही रूप**

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है । इसके अन्तर्गत मन का पूरा विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उसके व्यवहार का बोध आता है।

कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते तथा मानसशास्त्र में जो आज अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं, उन्हें समाहित नहीं कर सकते और न अध्ययन की गहराइयों में जा सकते हैं। कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन का मतलब है–अध्यात्म की गहराइयों में जाने का प्रयत्न । जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते हैं किंतु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नहीं चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयों को ही समझ सकते हैं और न वहां तक पहुंच ही सकते हैं। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र–तीनों का समन्वित अध्ययन होने पर ही हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बन्धन से लेकर मुक्ति तक– सभी विषयों पर गहन चिन्तन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्र

के बड़े-बड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारों वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वयं समस्या है । जब तक सूत्रात्मक परिभाषा में गुंथे हुए विशाल चिन्तन को पकड़ा नहीं जाता, उसे परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान चिन्तन के साथ पढ़ा नहीं जाता और वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया जाता तब तक एक महान् सिद्धांत भी अर्थशून्य ही रहता है।

**कर्मशास्त्र : मनोविज्ञान**

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञान को पढ़ने पर मुझे लगा कि जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया था, उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं । यदि मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं । कर्मशास्त्र के संदर्भ में यदि मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं।

**वैयक्तिक भिन्नता**

हमारे जगत् में करोड़ों-करोडों मनुष्य हैं । वे सब एक ही मनुष्य जाति से संबद्ध हैं। उनमें जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है । कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टि से सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता । कुछ मनुष्य लम्बे होते हैं, कुछ बौने होते हैं। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते हैं। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृति वाले होते हैं । कुछ मनुष्यों में बौद्धिक मंदता होती है, कुछ में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है । स्मृति और अधिगम क्षमता (learning capacity) सबमें समान नहीं होती । स्वभाव भी सबका एक जैसा नहीं होता । कुछ शान्त होते हैं, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृति के होते हैं, कुछ उदास रहने वाले होते हैं। कुछ निःस्वार्थ वृत्ति के लोग होते हैं, कुछ स्वार्थपरायण होते हैं। वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। कर्मशास्त्र में वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है । मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप में चित्रण किया है । उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के संबंध में उठता है। मूल प्रेरणाएं (प्राइमरी मोटिव्स) सबमें होती हैं किंतु उनकी मात्रा सबमें एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है और किसी में कम। वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त मनोविज्ञान के प्रत्येक नियम के साथ जुड़ा हुआ है।

## अज्ञात की ओर प्रस्थान

इस अज्ञात और सूक्ष्म व्यक्तित्व के साथ हमारा संपर्क स्थापित हो, जीवन की सफलता के लिए यह अत्यंत अपेक्षित है । वह व्यक्ति सफलता का जीवन नहीं जी सकता, जो केवल स्थूल शरीर के आधार पर सारे निर्णय लेता है । हमारे सामने परिस्थितियां हैं, आनुवंशिकता का प्रश्न है और वैयक्तिक प्रेरणएं भी हैं । मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के तीन आयाम हैं-- आनुवंशिकता, पर्यावरण और व्यक्तिगत संस्कार। इसके साथ चौथा आयाम (डायमेन्शन) और जोड़ देना चाहिए । वह है कर्म । केवल इन तीन आयामों से व्यक्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं हो सकती । कर्म को जोड़ने पर ही समग्र व्याख्या की जा सकती है। आनुवंशिकता (हेरेडिटी) हमारे आचरण और व्यवहार को प्रभावित करती है, व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इसी प्रकार पर्यावरण भी प्रभावित करता है पर सारी बातें उसकी परिधि में नहीं आतीं । प्राणी के अपने जीन्स हैं । उनमें जो निर्देश लिखित हैं, वे केवल आनुवंशिकता के आधार पर ही नहीं होते । उससे भी बड़ी बात एक और है । वह है कर्म । आज के जीन के सिद्धान्त की तुलना यदि कर्म सिद्धान्त से की जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। कर्म के सिद्धान्त को चौथा आयाम या पहला आयाम माना जा सकता है। कर्म है तो आनुवंशिकता है, फिर पर्यावरण और फिर वैयक्तिक प्रेरणाएं। इन चारों के आधार पर यदि जीवन को समझने का प्रयास किया जाए तो आदमी सफल हो सकता है और अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

## जीन का सिद्धांत

विज्ञान के क्षेत्र में सोचा जा रहा है कि 'जीन' को बदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो पूरे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत पहले सोचा गया था कि कर्म को बदलने का सूत्र हाथ लग जाए तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। मैं समझता हूं, भाव इतना शक्तिशाली साधन है कि उससे कर्म को बदला जा सकता है, जीन को बदला जा सकता है। जो व्यक्ति अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना जानता है, जिसने भाव-परिवर्तन का प्रयोग किया है, वह अपने 'जीन्स' को भी बदल सकता है और कर्म को भी बदल सकता है। यह बदलने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समूची चेतना का रूपान्तरण किया जा सकता है और चेतना को नए रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है।

## जीवन और जीव

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीवन का प्रारम्भ माता-पिता के डिम्ब और शुक्राणु के संयोग से होता है किन्तु जीव का प्रारम्भ उनसे नहीं होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है। इसलिए सारे प्रश्नों के उत्तर जीवन

के सन्दर्भ में ही खोजे जा सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अध्ययन में जीव और जीवन का भेद स्पष्ट है इसलिए मानवीय विलक्षणता के कुछ प्रश्नों के उत्तर जीवन में खोजे जाते हैं और कुछ प्रश्नों का उत्तर जीव में खोजा जाता है। आनुवंशिकता का सम्बन्ध जीवन से है, वैसे ही कर्म का सम्बन्ध जीव से है । उसमें अनेक जन्म के कर्म या प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता का आधार केवल जीवन के आदि-बिन्दु में ही नहीं खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवहमान कर्म-संचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है।

**मूल प्रवृत्तियां : संवेग**

कर्म का मूल मोहनीय कर्म है। मोह के परमाणु जीव में मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं । दृष्टिकोण मूर्च्छित होता है और चरित्र भी मूर्च्छित हो जाता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण, चरित्र और व्यवहार की व्याख्या इस मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर ही की जा सकती है। मेक्डूगल के अनुसार व्यक्ति में चौदह मूल प्रवृत्तियां और उतने ही मूल संवेग होते हैं--

| मूल प्रवृत्तियां | मूल संवेग |
|---|---|
| १. पलायनवृत्ति | भय |
| २. संघर्षवृत्ति | क्रोध |
| ३. जिज्ञासावृत्ति | कुतूहल भाव |
| ४. आहारान्वेषणवृत्ति | भूख |
| ५. पित्रीयवृत्ति | वात्सल्य, सुकुमार भावना |
| ६. यूथवृत्ति | एकाकीपन तथा सामूहिकता का भाव |
| ७. विकर्षणवृत्ति | जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव |
| ८. कामवृत्ति | कामुकता |
| ९. स्वाग्रहवृत्ति | स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना |
| १०. आत्मलघुतावृत्ति | हीनता भाव |
| ११. उपार्जनवृत्ति | स्वामित्व भावना, अधिकार भावना |
| १२. रचनावृत्ति | सृजन भावना |
| १३. याचनावृत्ति | दु:ख भाव |
| १४. हास्यवृत्ति | उल्लसित भाव |

**कर्म विपाक : मूल संवेग**

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं और उसके अट्ठाईस ही विपाक हैं । मूल प्रवृत्तियों और मूल संवेगों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

| मोहनीय कर्म के विपाक | मूल संवेग |
|---|---|
| १. भय | भय |
| २. क्रोध | क्रोध |
| ३. जुगुप्सा | जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव |
| ४. स्त्री वेद | |
| ५. पुरुष वेद | कामुकता |
| ६. नपुंसक वेद | |
| ७. अभिमान | स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना |
| ८. लोभ | स्वामित्व भावना, अधिकार भावना |
| ९. रति | उल्लसित भाव |
| १०. अरति | दुःख भाव |

मनोविज्ञान का सिद्धांत है कि संवेग के उद्दीपन से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार बदलता रहता है।

## जटिल है मनुष्य की व्याख्या

प्राणी जगत् की व्याख्या करना सबसे जटिल है । अविकसित प्राणियों की व्याख्या करने में कुछ सरलता हो सकती है । मनुष्य की व्याख्या सबसे जटिल है। वह सबसे विकसित प्राणी है। उसका नाड़ी–संस्थान सबसे अधिक विकसित है। उसमें क्षमताओं के अवतरण की सबसे अधिक संभावनाए हैं इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है । कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलॉजी), शरीरशास्त्र (एनाटोमी) और शरीरक्रियाशास्त्र (फिजियोलॉजी) के तुलनात्मक अध्ययन से ही उसको कुछ सरल बनाया जा सकता है।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेश के कारण ही नहीं होते । उनमें नाड़ी-संस्थान, जैविक विद्युत्, जैविक रसायन और अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव का भी योग होता है । ये सब हमारे स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनके पीछे सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उनमें निरन्तर होने वाले कर्म के स्पंदन परिणमन या परिवर्तन की प्रक्रिया को चालू रखते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कर्म के स्पन्दन, मन की चंचलता, शरीर के संस्थान--ये सभी सहभागी होते हैं।

## संज्ञा

हमारे जितने आचरण हैं, उनके पीछे हमारी दस प्रकार की चेतना काम करती है, दस प्रकार की चित्तवृत्तियां काम करती हैं। संज्ञा का अर्थ है--एक प्रकार की चित्तवृत्ति । जिसमें चेतन और अचेतन– दोनों मनों का योग होता है, कॉंशियस माइंड

और सब-कॉंशियस माइंड–दोनों का योग होता है, उसे संज्ञा या संज्ञान कहते हैं।

ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है । संज्ञाएं दस हैं। वे कर्मों के सन्निपात–सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति--संवलित हैं इसलिए शुद्ध ज्ञान-रूप नहीं हैं।

## संज्ञा के प्रकार

संज्ञा के दस प्रकार ये हैं--

| | |
|---|---|
| १. आहार | ६. मान |
| २. भय | ७. माया |
| ३. मैथुन | ८. लोभ |
| ४. परिग्रह | ६. ओघ |
| ५. क्रोध | १०. लोक |

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है । इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं।

१. हेतुवादोपदेशिकी २. दीर्घकालिकी ३. सम्यग्-दृष्टि

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं।

## कर्म को समझें

संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा । संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं । वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं । उन सबमें 'मोह' प्रधान है । उसके दो कार्य हैं– तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि-मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र मोह' कहलाते हैं । चारित्र-मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं, जैसे-- भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति, यौन-संबंध आदि-आदि । आज का मनोविज्ञान इन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है।

## विकृत करता है मोह

मनुष्य में तीन एषणाएं हैं–

१. मैं जीवित रहूं २. धन बढ़े ३. परिवार बढ़े।

और तीन प्रधान मनोवृत्तियां हैं–

१. सुख की इच्छा।

२. किसी वस्तु को पसन्द करना या उससे घृणा करना।

३. विजयाकांक्षा अथवा नया काम करने की भावना।

ये सभी चारित्र-मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्तःक्षोभ पैदा करता है, जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि । मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत करते हैं, विकृत नहीं।

**आहार-संज्ञा**— खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है । उसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं—

१. रिक्त-कोष्ठता।
२. आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३. आहार-संबंधी चिंतन।

**भय-संज्ञा**—भय की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. हीन-सत्वता।
२. भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३. भय-सम्बन्धी चिन्तन।

**मैथुन-संज्ञा**—मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. मांस और रक्त का उपचय।
२. मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३. मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन।

**परिग्रह-संज्ञा**—परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. अविमुक्तता।
२. परिग्रह-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३. परिग्रह-सम्बन्धी चिन्तन।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ— ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग आत्मा में ये वृत्तियां नहीं होतीं । ये आत्मा के सहज-गुण नहीं किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

**ओघ-संज्ञा**—अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताएं

वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है।

**लोक-संज्ञा**—लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग।

आचारांग निर्युक्ति में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है--

| | | |
|---|---|---|
| १. आहार संज्ञा | ६. मोह संज्ञा | ११. लोभ संज्ञा |
| २. भय संज्ञा | ७. विचिकित्सा संज्ञा | १२. शोक संज्ञा |
| ३. परिग्रह संज्ञा | ८. क्रोध संज्ञा | १३. लोक संज्ञा |
| ४. मैथुन संज्ञा | ६. मान संज्ञा | १४. धर्म संज्ञा |
| ५. सुख-दुःख संज्ञा | १०. माया संज्ञा | |

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं ।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय संवेदन और आवेग। इन्द्रिय-संवेदन दो प्रकार का होता है--

१. सात-संवेदन—सुखानुभूति

२. असात-संवेदन—दुःखानुभूति।

आवेग दो प्रकार का होता है--कषाय और नो-कषाय।

**चित्तवृत्तियों का वर्गीकरण**

दस प्रकार की संज्ञाओं (चित्तवृत्तियों) को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

पहला वर्ग—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।

दूसरा वर्ग—क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ-संज्ञा ।

तीसरा वर्ग—लोक संज्ञा, ओघ संज्ञा।

पहले वर्ग की मनोवृत्ति प्राणीमात्र में प्राप्त होती है । मानसशास्त्री जिसे भूख की मनोवृत्ति कहते हैं, उसे जैन आचार्य आहार संज्ञा कहते हैं। सबमें आहार संज्ञा होती है । उस संज्ञा के कारण प्रत्येक प्राणी आचरण करता है । हमारे आचरण का बहुत बड़ा भाग आहार संज्ञा से प्रेरित है।

**भय की वृत्ति**—हमारे बहुत सारे व्यवहार भय के कारण होते हैं। गाय कभी-कभी मनुष्य को देखते ही रौद्र रूप धारण कर लेती है। आदमी ने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा, गाय का काम भी किसी को चोट पहुंचाना या मारना नहीं है, फिर रौद्र रूप क्यों? इसका कारण है कि उसमें अनायास ही भय जाग गया। भय है आत्मरक्षा का। आत्मरक्षा में सबसे पहला आवेश भय जागृत होता है। डर लगता है कि मुझ पर कोई प्रहार न कर दे। भय जागते ही सारे शरीर में कंपन पैदा हो जाता है, तनाव

पैदा हो जाता है। उसके पीछे भय की वृत्ति काम कर रही है।

**मैथुन संज्ञा**--मनोविज्ञान की भाषा में यह सेक्स की वृत्ति है। यह वृचि प्रत्येक प्राणी में होती हैं।

**मैथुन संज्ञा**--यह संग्रह करने की मनोवृत्ति है। यह न मानें कि केवल मनुष्य ही संग्रह करता है। पशु भी संग्रह करते हैं। पक्षी भी संग्रह करते हैं। मधु-मक्खियां संग्रह करती ही हैं। छोटे-मोटे सभी प्राणी संग्रह करते हैं। जैन तत्त्वविदों ने यहां तक खोज की कि वनस्पति भी संग्रह करती है। यह परिग्रह की मनोवृत्ति, छिपाने की मनोवृत्ति, संग्रह की मनोवृत्ति--प्रत्येक प्राणी में होती है।

यह एक वर्ग है चार संज्ञाओं का।

**दूसरा वर्ग**

जो दूसरा वर्ग है चार संज्ञाओं का, चार चित्तवृत्तियों का, वह भी प्रत्येक प्राणी में प्राप्त है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें यह प्राप्त न हो। किन्तु थोड़ा-सा अन्तर है। मनुष्य में ये वृत्तियां जितनी विकसित होती हैं उतनी वनस्पति या छोटे प्राणियों में विकसित नहीं होतीं। किन्तु इनका अस्तित्व अवश्य है। वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, मान की संज्ञा होती है, माया की संज्ञा होती है और लोभ की संज्ञा होती है। वनस्पति में चारों संज्ञाए होती हैं। किन्तु वे मनुष्य में जितनी स्पष्ट होती हैं, वनस्पति में उतनी स्पष्ट नहीं होतीं।

प्रथम वर्ग की चार वृत्तियों के कारण दूसरे वर्ग की ये चार वृत्तियां विकसित होती हैं, उभरती हैं। क्रोध पैदा होता है रोटी के कारण। रोटी और पैसे के सवाल पर लड़ाइयां होती हैं, झगड़े होते हैं। आहार क्रोध का कारण बन जाता है। कुत्ते को रोटी डाली। दूसरे कुत्ते आ गये। आपस में झगड़ने लगे। रोटी गुस्से का, झगड़े का कारण बन गयी।

एक आदमी को अच्छी आजीविका प्राप्त है। वह अच्छे स्थान पर है। दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है, पहले वाले की नौकरी छुड़वाने का प्रयास करता है! क्रोध प्रारम्भ होता है। मनमुटाव होता है। कलह होने लगती है। यह आजीविका या आहार के कारण होता है।

एक व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छे ढंग से पूरी होती है। दूसरा उसे देखता है। उसकी आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। पहले व्यक्ति के मन में अहंभाव आ जाता है। अहंकार सदा दूसरे को देखकर ही आता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर दूसरे को अहंकार करने का अवसर मिलता है। यदि सामने हीनता न हो तो अहंकार कों प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। कर्म के उदय से भी अहंकार का भाव अचानक जाग जाता है। यह आकस्मिक होता है। उन परमाणुओं का वेदन करना

होता है। परन्तु सामान्यतः अहंकार जागता है हीनता को सामने देखकर। दूसरे की हीनता पर अहंकार जागता है।

रोटी और आजीविका के लिए, न जाने कितने लोग, किस प्रकार की माया का आचरण कर लेते हैं। माया जागती है। लोभ भी जागता है। धनार्जन के लिए कितने लोग किस प्रकार के लोभ का आचरण करते हैं। आहार की वृत्ति के कारण क्रोध आदि चार वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

भय के कारण भी चारों वृत्तियां पनपती हैं। इसी प्रकार मैथुन और परिग्रह की वृत्ति के कारण भी ये चारों वृत्तियां पनपती हैं, व्यक्त होती हैं।

परिग्रह से क्रोध की वृत्ति जागती है, अहंकार तो उसके साथ है ही। जिसके पास अधिक संग्रह है, परिग्रह है, वह निश्चित ही अहंकारी बना रहेगा। माया की वृत्ति परिग्रह के कारण जागती है। लोभ परिग्रह से जुड़ा हुआ है।

प्रथम वर्ग की चित्तवृत्तियों में दूसरे वर्ग की चित्तवृत्तियों को जगाने की क्षमता है, उन्हें उभारने की क्षमता है।

### समूह चेतना

तीसरा वर्ग है—ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा। ओघ संज्ञा का अर्थ है सामुदायिकता की संज्ञा। मनुष्य में समूह की संज्ञा होती है, समूह की चेतना होती है, समूह में रहने की मनोवृत्ति होती है। मानसशास्त्री मेक्समूलर ने मनुष्य की एक वृत्ति का उल्लेख किया है। वह है यूथचारिता। इसका अर्थ है-- समूह में रहने की मनोवृत्ति। इससे ओघ संज्ञा की तुलना की जा सकती है। पशुओं में भी यह चेतना है, मनुष्य में भी यह चेतना है। इसीलिए गांव बसा, नगर बसा, समाज बना। समाज में रहने की मनोवृत्ति और समाज का अनुकरण करने की मनोवृत्ति को सामुदायिक चेतना कहते हैं। हम कई बार लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि 'जो सबको होगा वह हमें भी हो जाएगा। क्या अन्तर पड़ेगा? जब सब ऐसा काम करते हैं तो मैं क्यों नहीं करूं? जो परिणाम सबको होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं?' यह सामुदायिक चेतना की बात है। यह ओघ संज्ञा है। इसे यूथचारिता कहा जा सकता है।

### वैयक्तिक चेतना

लोकसंज्ञा वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी में कुछ विशिष्टताएं होती हैं। इन विशिष्टताओं के कारण कुछ आचरण होते हैं। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते किन्तु अपनी विशिष्टताओं के कारण होते हैं, वे वैयक्तिक चेतना के कार्य हैं। व्यापारी का लड़का व्यापारी, सुनार का लड़का सुनार, खाती का लड़का खाती और किसान का लड़का किसान होता है। प्रायः यह स्थिति बनती है कि पिता

का व्यवसाय पुत्र संभाल लेता है। इसके पीछे एक वैयक्तिक विशिष्टता काम करती है। यह समूचे समाज में, समुदाय में नहीं मिलती।

## प्रश्न है मूल स्रोत का

ये दस प्रकार की संज्ञाएं व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती हैं। इन्हें आचरणों का स्रोत कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है--क्या ये मूल स्रोत हैं? प्रश्न और आगे बढ़ गया। उत्तर होगा--ये स्रोत हैं किन्तु मूल स्रोत नहीं हैं। गंगा बह रही है। प्रवाह को रोक कर बांध बना दिया गया। बांध के फाटक खोल दिये गये। वहां से पानी का प्रवाह आगे चलता है। वह बांध इस प्रवाह का स्रोत बन जाता है किन्तु वह मूल स्रोत नहीं है। मूल स्रोत को खोजने के लिए गंगोत्री तक पहुंचना होगा।

ये दस वृत्तियां बीच के बने हुए बांध हैं। इनके फाटक खुले हैं। इनमें से छनकर निकलने वाली चेतना आगे प्रवाहित होती है और हमारे आचरणों को प्रभावित करती है। किन्तु ये मूल स्रोत नहीं हैं। मूल स्रोत की खोज में बहुत आगे जाने की जरूरत है। आज के शरीरशास्त्रियों ने बहुत सूक्ष्म खोजें की हैं। पहले पांच मूल तत्त्व या पांच भौतिक तत्त्व ही मूल कारण माने जाते थे। आज के वैज्ञानिक वैसा नहीं मानते। आज इतने सूक्ष्म तत्त्व खोज लिए गए हैं कि ये पांच तत्त्व--पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश तो उनके ही संरक्षक बन जाते हैं। ये मूल कारण नहीं हैं। मूल कारण कुछ और हैं।

## वर्तमान विज्ञान का मत

आज का विज्ञान कहता है कि आचरण और व्यवहार के पीछे रसायन काम करता है। एक आदमी आक्रमण करता है। रसायन उसका मूल कारण है। एक घटना घटती है और आदमी चिन्ता में निमग्न हो जाता है। घटना के साथ चिन्ता का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। चिन्ता का सीधा सम्बन्ध है रसायन के साथ। एक रसायन पैदा होता है और आदमी चिन्ता में डूब जाता है। एक रसायन पैदा होता है और आदमी डर से कांपने लग जाता है। प्रत्येक आचरण और व्यवहार का अपना रसायन होता है, केमिकल होता है। वह आदमी को उस प्रकार के आचरण और व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। तरंगशास्त्रीय संदर्भ में जब इस विषय पर सोचता हूं तो लगता है कि संभवतः वैज्ञानिकों ने अभी पूरे रसायनों की खोज नहीं की है, नहीं कर पाए हैं। किन्तु कर्मशास्त्रीय खोजों के अनुसार हमारे शरीर में उतने रसायनों के प्रकार हैं, जितने कर्म के प्रकार हैं। प्रत्येक घटना रसायन के साथ जुड़ी हुई है और प्रत्येक रसायन कर्म के साथ जुड़ा हुआ है। एक श्रृंखला है--कर्म, भाव और रसायन। 'कर्मतो जायते भावः, भावात् कर्मापि सर्वदा'--कर्म से भाव पैदा होते हैं और भाव से कर्म पैदा

होते हैं। कर्म का यहां अर्थ कार्य या क्रिया नहीं है। यह पौद्‌गलिक अनुबंध है, जो क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे साथ जुड़ता है। क्रिया का प्रतिबिंबन या अंकन होता है और वह हमारे मस्तिष्क से जुड़ता है। यह स्थूल मस्तिष्क का अंकन बहुत स्थूल होता है किन्तु सूक्ष्म चेतना के साथ अनुबंधित हो जाता है।

## शक्ति परिवर्तन का सिद्धान्त

कर्मवाद के अनेक नियम हैं, अनेक रहस्य हैं। हम इन रहस्यों और नियमों को पूरा नहीं जानते इसीलिए अनेक भ्रांतियां उत्पन्न होती हैं। कर्मवाद का नियम है—शक्ति का अल्पीकरण और शक्ति का संवर्धन। कर्म की जो फलादान की शक्ति है, उसको कम भी किया जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है। फलादान की काल-अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है और कम भी किया जा सकता है। यह है शक्ति-परिवर्तन का सिद्धांत।

## जाति परिर्वतन का सिद्धान्त

कर्मवाद का एक नियम है--जाति परिवर्तन। कर्म की जाति को बदला जा सकता है। बंध काल में कर्म के एक प्रकार के परमाणु बंधते हैं। पश्चात् उन परमाणुओं की जाति को बदला जा सकता है। यह आज का नस्ल-परिवर्तन का सिद्धान्त है। उसी का एक उदाहरण दिया गया है। उसकी चतुर्भंगी इस प्रकार बनती है--

१. पुण्य और उसका फल पुण्य। ३. पुण्य और उसका फल पाप।
२. पाप और उसका फल पाप। ४. पाप और उसका फल पुण्य।

प्रथम दो विकल्प निर्विवाद हैं। पुण्य का फल पुण्य और पाप का फल पाप--इसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु शेष दो विकल्प जटिल हैं। है पुण्य और फल होगा पाप। है पाप और फल होगा पुण्य। प्रश्न होता है कि यह संभव कैसे हो सकता है? इसका समाधान है कि जाति-परिवर्तन के द्वारा ऐसा हो सकता है। यह बहुत बड़ा रहस्य है कर्मवाद का। इसके आधार पर अनेक बातें बदल जाती हैं, बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। पुण्य का बंध हुआ। इस बंध में सारा कर्म-परमाणु-संग्रह पुण्य से जुड़ा हुआ है। किन्तु बाद में ऐसा कोई पुरुषार्थ हुआ कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो परमाणु पुण्य के थे, वे पाप के परमाणु बन गए। जो सुख देने वाले परमाणु थे, वे दुःख देने वाले परमाणु बन गए।

इसी प्रकार पाप का बंध हुआ। इस बंध में कर्म का सारा परमाणु-संग्रह पाप से जुड़ा हुआ है किन्तु बाद में ऐसा पुरुषार्थ हुआ, इतनी घोर तपस्या की गई, साधना की गई कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो पाप के परमाणु थे, वे पुण्य के परमाणु बन गए। जो दुःख देने वाले परमाणु थे, वे सुख देने वाले परमाणु बन गए।

ये दो विकल्प बन गए। परमाणुओं का संग्रह हुआ पुण्य रूप में और उसका

परिणाम घटित हुआ पाप के रूप में। यह जात्यंतर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

## परिवर्तन की प्रक्रिया

कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है--जाति-परिवर्तन। इस जाति-परिवर्तन या शक्ति-परिवर्तन की प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। कोई भी आदमी पाप का फल पाना नहीं चाहता। सभी पुण्य का फल पाना चाहते हैं इसलिए उस प्रक्रिया की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

उसकी प्रक्रिया के तीन घटक हैं--मन, मस्तिष्क और चित्त। इन तीनों को प्रशिक्षित करना होता है। मन और मस्तिष्क दो हैं। यह आज की वैज्ञानिक धारणा से बहुत स्पष्ट हो गया। विज्ञान की भाषा में ब्रेन अलग है और माइंड अलग है। दोनों स्वतंत्र हैं किन्तु दर्शन की भाषा में चित्त तत्त्व को भी जोड़ना होगा। मन, मस्तिष्क और चित्त--ये तीनों स्वतंत्र हैं। जिस व्यक्ति ने चित्त को अनुशासित कर डाला, उसका मस्तिष्क अनुशासित होगा, मन अनुशासित होगा, वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ या समाधिस्थ कहलाएगा। यदि मस्तिष्क मन और चित्त पर हावी हो जाता है तो व्यक्ति शैतान बन जाता है। देव और दानव में इतना ही अन्तर है। प्रत्येक व्यक्ति देव बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति दानव बन सकता है। जिस व्यक्ति ने मस्तिष्क, मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित कर डाला, वह देव बन जाता है और जिस व्यक्ति के मस्तिष्क का मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित हो जाता है, वह दानव बन जाता है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। मस्तिष्क, मन और चित्त पर स्वामित्व स्थापित किया जाता है।

जब मस्तिष्क स्वामी बनता है तब व्यक्ति को अनेक कठिनाइयों का बोझ ढोना पड़ता है। जब चित्त मस्तिष्क और मन पर अपना अधिकार जमाता है तब स्थिति बदल जाती है। व्यक्ति-व्यक्ति में रूप, रंग, आकार-प्रकार का अन्तर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषता इस बात पर निर्भर करती है कि कौन व्यक्ति मन के सहारे चलता है, मन का अनुशासन मानता है, मस्तिष्क के अधीन रहता है और कौन व्यक्ति मन और मस्तिष्क को अपने अधीन रखकर चलता है, उन पर अनुशासन करता है।

मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक श्रेणी उन मनुष्यों की है, जो मन के अनुशासन में चलते हैं। दूसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है, जो मन और मस्तिष्क को अपने अनुशासन में चलाते हैं।

## रेटीकुलर फॉरमेशन

मस्तिष्क-विज्ञान की खोजों से कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। उनके अनुसार मस्तिष्क का जो रेटीकुलर फॉरमेशन--तान्त्रिक जाल है, वह उन न्यूरोन्स से

बना है, जहां भय, क्रोध, लालसा आदि भाव जन्म लेते हैं और वह रेटीकुलर फॉरमेशन उन भावों का नियंत्रण भी करता है। वे पैदा भी होते हैं और नियंत्रित भी होते हैं। दोनों कार्य साथ-साथ चलते हैं। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि भाव उत्पन्न हों और साथ में नियंत्रण की क्षमता न हो तो मनुष्य इतने आवेग में आ जाए कि शरीर की व्यवस्था ही लड़खड़ा जाए।

इस रेटीकुलर फॉरमेशन की क्रिया को कर्मवाद की भाषा में औदयिक व्यक्तित्व और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है। ये दोनों व्यक्तित्व साथ-साथ चलते हैं। औदयिक व्यक्तित्व है इसलिए क्रोध, भय आदि भाव उत्पन्न होते हैं और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व (चेतना की निर्मलता) है, इसलिए उन पर नियंत्रण होता है। उत्पन्न होना और नियंत्रित होना—दोनों अवस्थाएं साथ में चलती हैं।

## कर्म : वर्तुल

मैं मानता हूं कि कर्मवाद की जो आन्तरिक धाराएं हैं, उनके अनुसार ही स्थूल शरीर के सभी अवयवों का निर्माण होता है। यह स्थूल शरीर कर्म शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) का संवादी शरीर है। जितनी प्रवृत्तियां, जितने प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होते हैं, उतने ही अंग, प्रत्यंग, अवयव इस स्थूल शरीर में बन जाते हैं। यह बिलकुल संवादी है। जो भाव जन्म लेते हैं, वे सारे कर्म के द्वारा संचालित हैं और वे नये कर्म का पुनः निर्माण करते हैं। यह एक वर्तुल है। कर्म के द्वारा निषेधक भावों का उत्पन्न होना और इन निषेधक भावों के द्वारा फिर कर्म का आगमन होना--यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। जब तक यह चक्र नहीं तोड़ा जाता, इस चक्रव्यूह को नहीं भेदा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समस्या को समाहित करने के लिए इस चक्र का भेदन अत्यावश्यक है और इस भेदन में ध्यान का बहुत महत्त्व है। यह एक उपाय है, जिसके द्वारा परिवर्तन घटित हो सकता है। ध्यान का अर्थ ही है—भावों का परिवर्तन। भावों का परिवर्तन होता है तो चक्रव्यूह अपने आप टूट जाता है।

## भाव से ही भाव-परिवर्तन

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है—भावात्मक परिवर्तन। भाव का सम्बन्ध कर्मों के साथ है। हमारी आन्तरिक चेतना के साथ वे सब जुड़े हुए हैं। वे भाव विकृतियां और बीमारियां पैदा करते हैं। भावों में परिवर्तन आने पर विकृतियां और बीमारियां मिट जाती हैं। भाव को भाव के द्वारा ही बदला जा सकता है। हीरे को हीरा ही काट सकता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा ही भावात्मक परिवर्तन घटित हो सकता है। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा, ये दोनों भाव हैं। हम इनके प्रयोग से विधायक भावों का प्रयोग कर निषेधात्मक भावों को समाप्त कर सकते हैं। इससे कर्म का वलय टूटता है, छिन्न-भिन्न

होता है।

शरीर के साथ काम करने वाली चेतना स्थूल होती है। इस चेतना को पार कर जब हम भीतर जाते हैं तब विद्युत् शरीर के साथ संपर्क होता है। यह सूक्ष्म शरीर है। इसके द्वारा हमारा स्थूल शरीर संचालित होता है। उसको पार कर जब हम और गहरे में जाते हैं, तब हमारा संपर्क होता है सूक्ष्मतर शरीर से। वह है कर्म शरीर। यह चेतना हमारे आचार, व्यवहार और विचार का संचालन करती है। ध्यान का प्रयोजन है कर्मशरीर के साथ काम करने वाली चेतना तक पहुंच जाना और उन कर्म परमाणुओं को समझ लेना, जो सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। उनको समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनका क्षय करना भी जरूरी है। इस बिंदु तक पहुंच कर ही हम कर्मवाद को समझ सकते हैं, मनोविज्ञान को समझ सकते हैं।

# आत्मविज्ञान : मनोविज्ञान

**जैन मनोविज्ञान : आधार**

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा, क्योंकि जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतंत्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतंत्र नहीं, वह कर्म और नो-कर्म की स्थिति-सापेक्ष है इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

**आत्मा–** चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं। उनकी सत्ता स्वतंत्र है। वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है--अनन्त प्रमेयों को जानने में क्षम होती है। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं किन्तु चेतना का विकास सबमें समान नहीं होता। चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है।

**कर्म–** आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एकरसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं। कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं। भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है इसलिए उनकी शक्ति स्वल्प होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है इसलिए उसका सामर्थ्य अधिक होता है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीरशास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्म-शास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर। पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनों के

विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति—आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो-कर्म सापेक्ष होता है।

**नो-कर्म**— कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो-कर्म कहा जाता है। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं।

### मानसशास्त्र : आवेग

मानसशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं--भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति बनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तंत्र पर पड़ता है, पेशियों पर होता है, एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है और पेशियां उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। हमारे स्नायु-तंत्र पर, पेशियों पर, रक्त पर, रक्त के प्रवाह पर, फेफड़ों पर, हृदय की गति पर, श्वास पर और ग्रंथियों पर आवेग का प्रभाव होता है।

### आवेग : परिणाम

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरंग उठती है। यह मस्तिष्क तक उस संदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा हो जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मांसपेशियों तक पहुंचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रिनल ग्रंथि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति में कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत हो जाती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति में आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं, जिनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। इन सारी बातों के साथ एक बात और जोड़ दें कर्म-शास्त्र की। आवेगों के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले जोड़ दें और एक बात पीछे जोड़ दें। भय-वेदनीय-मोह के कारण भय उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति में ऐसे परमाणु संचित हैं, जो किसी निमित्त का सहारा पाकर उत्पन्न हो जाते हैं। यह पहले जोड़ने

वाली बात है। एक बात बाद में जोड़ें। जो डरता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नहीं करता किंतु दूसरे परमाणुओं का संग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु संगृहीत कर लेता है, जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

## कर्मशास्त्र : आवेग

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने गए हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद--ये सात उप-आवेग हैं। वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक-वेद में हम विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते हैं। इन्हें 'नो-कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नो-कषाय' हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, आदर देना आदि-आदि आवेग हैं या नहीं--यह प्रश्न होता है। कर्मशास्त्र में ये आवेग के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। मानस-शास्त्र में भी ये आवेग नहीं माने गये हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं, मिश्रित आवेग हैं। इनमें अनेक आवेगों का एक साथ मिश्रण हो जाता है। कर्म-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित हैं, मूल नहीं हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

## आचार और दृष्टिकोण

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नहीं है। इनमें भी बहुत तारतम्य है। यह मोह-परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, चारित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। आचार और दृष्टिकोण का गहरा संबंध है। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार सम्यक् होता है। उसके सम्यक् होने की अधिक संभावना होती है। ऐसा तो नहीं है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ ही साथ सारा-का सारा आचार सम्यक् हो जाए। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होगा फिर आचार सम्यक् होगा।

## मूल है राग और द्वेष

मोह का मूल है--राग और द्वेष। राग-और द्वेष हैं इसीलिए क्रोध, मान, माया और लोभ--ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष हैं इसीलिए हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), काम-वासना--ये सारे उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। आवेगों की पृष्ठभूमि में ये दो अनुभूतियां काम करती हैं। जब तक ये अनुभूतियां

हैं तब तक आवेग और उप-आवेग की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता। यह चक्र घूमता रहता है। कभी कोई आवेग उत्पन्न हो जाता है तो कभी कोई आवेग। यह सच है कि परिस्थितियां भी इनकी उत्पत्ति में निमित्त बनती हैं, वातावरण भी निमित्त बनता है।

## आवेग की तरतमता

आवेगों की तरतमता आध्यात्मिक चेतना के विकास का बोधचक्र है। कषाय-चतुष्टयी--क्रोध, मान, माया और लोभ के तारतम्य का पहला प्रकार है--अनन्तानुबंधी। अनन्तानुबंधी अनन्त अनुबंध करता है। इतनी संतति पैदा करता है कि जिसका अंत नहीं होता। संतति के बाद संतति। यह क्रम टूटता ही नहीं या मुश्किल से टूटता है। जिस आवेग में संतति की निरंतरता होती है या जिसमें संतति को पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनंतानुबंधी होता है। कभी कभी ऐसा होता है कि एक घटना घटती है। उसका असर होता है और बात समाप्त हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि घटना घटित हुई, मन में विचार आया और उस विचार का सिलसिला इतना लम्बा हो गया कि उस मूल विचार से अनेक-अनेक छोटे-बड़े विचार उत्पन्न होते चले गये। एक के बाद एक विचार आते रहे। उनकी श्रृंखला नहीं टूटी। वह पहला विचार इतनी बड़ी संतति पैदा करता है कि उसका चक्र कभी समाप्त ही नहीं होता। यह अनन्तानुबंधी है।

बहुत सारे कीटाणु ऐसे होते हैं, जिनकी संतति इतनी बढ़ जाती है कि जाल फैल जाता है। वह जाल बहुत बड़ा होता है। वे कीटाणु संतति पैदा करते ही चले जाते हैं। कहीं रुकते ही नहीं।

इसी प्रकार जिस आवेग की संतति आगे से आगे बढ़ती चली जाती है, वह तीव्रतम आवेग हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। जब तक वह आवेग होता है तब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। क्योंकि मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि एक मूर्च्छा दूसरी मूर्च्छा को, दूसरी मूर्च्छा तीसरी मूर्च्छा को और तीसरी मूर्च्छा चौथी मूर्च्छा को उत्पन्न करती चली जाती है। इसका कहीं अंत नहीं आता। सम्यक् देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। एक के बाद दूसरी गलती, गलतियों को दोहराते चले जाते हैं और दृष्टि का भ्रम सघन बना रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विकृत करता है।

## मनोविज्ञान की भाषा

यह ग्रंथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है--जब आवेग प्रबल होता है तब ग्रंथिपात होता है। यह आवेग आने के बाद जाता नहीं। जब क्रोध अनन्तानुबंधी की कोटि का होता है तब वह सहजता से नहीं जाता। वह चट्टान की

दरार जैसा होता है। चट्टान में दरार पड़ गयी, वह फिर मिटती नहीं। अमिट बन जाती है। एक रेखा बालू पर खींची जाती है और एक रेखा पानी पर खींची जाती है। पानी की रेखा तत्काल मिट जाती है, मिट्टी की रेखा कठिनाई से मिटती है फिर भी वह चट्टान की दरार की भांति कठिन नहीं होती। आवेग की भी ये चार स्थितियां, अवस्थाएं होती हैं--तीव्रतम, तीव्रतर, मंद और मंदतर।

### कर्मशास्त्र की भाषा

कर्मशास्त्र की भाषा में इनके चार नाम हैं--

| | |
|---|---|
| १. तीव्रतम--अनन्तानुबंधी | ३. मंद--प्रत्याख्यानी। |
| २. तीव्रतर--अप्रत्याख्यानी | ४. मंदतर--संज्वलन। |

प्रथम कोटि का आवेग दृढ़तम होता है। उस स्थिति में राग-द्वेष की गांठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करने की तैयारी नहीं होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय, इतना प्रगाढ़ निद्रामय हो जाता है कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता, जागृति के बिन्दु पर पहुंचने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता। जीवन में केवल मूर्च्छा ही मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नहीं लगता। निंदियाई आंखों से आदमी ठीक देख नहीं पाता, नशे में आदमी देख नहीं पाता, उसे यथार्थ का बोध नहीं होता क्योंकि वह मत्त होता है, सुप्त होता है। जब तक आवेग की यह अवस्था बनी रहती है, राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि होती है तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सम्यक् दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। वह मिथ्या-दृष्टि होता है। उसका दर्शन मिथ्या होता है। तत्त्व का विपर्यय होता है। जीवन में सारा विपर्यय होता है। इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि वह व्यक्ति के चिंतन-मनन को विकृत कर देती है, चिंतन-मनन विपर्यस्त हो जाता है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, उसका तनुभाव होता है, वह क्षीण होता है तब दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यान) प्राप्त होती है।

### सत्य की भूमिका

अनन्तानुबंधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। यह आध्यात्मिक चेतना के विकास की भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा में इस भूमिका का नाम है--सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान। यह सत्य को जानने की भूमिका है। इसमें अतत्त्व की बुद्धि नहीं रहती। असत्य में सत्य का भाव नहीं रहता। व्यक्ति जो जैसा है, वैसा जानने लग जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है, सत्य उपलब्ध हो जाता है।

जब पहला आवेग टूटता है तब भेदज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं शरीर से भिन्न हूं, मैं शरीर नहीं हूं--यह बोध स्पष्ट हो जाता है। मैं शरीर हूं--यह अस्मिता

है। अस्मिता एक क्लेश है। भेदज्ञान होते ही अस्मिता मिट जाती है, क्लेश मिट जाता है। इसके मिटते ही दूसरा संस्कार निर्मित हो जाता है। 'मैं शरीर नहीं हूं, मैं शरीर से भिन्न हूं'--यह भी एक संस्कार है। यह प्रतिप्रसव है अर्थात् उस संस्कार को मिटाने वाला संस्कार है। शरीर के साथ अभेदानुभूति, 'अहमेव देहोस्मि' का जो भाव है, मैं शरीर हूं, मैं देह हूं--यह जो भाव है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। यह समाप्त हो जाता है। इसे समाप्त करने लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है। 'मैं शरीर नहीं हूं'--यह प्रतिप्रसव है, प्रतिपक्ष का संस्कार है।

## आध्यात्मिक विकास : पांचवीं भूमिका

जैसे ही आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) उपशांत या क्षीण होती है तब त्याग के रास्ते पर चलने की भावना निर्मित हो जाती है। मन में भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, प्यास बुझाने वाला है, इस पर अवश्य चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में देश विरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पांचवीं भूमिका है।

आध्यात्मिक विकास के क्रम में जब हम आगे बढ़ते हैं, अभ्यास करते-करते जैसे मोह का वलय टूटता जाता है, उसका प्रभाव मंद हो जाता है तब तीसरी ग्रन्थि खुलती है। इस ग्रन्थि का नाम है प्रत्याख्यानावरण। यह आवेग की तीसरी अवस्था है। इसके टूटने से विरति के प्रति व्यक्ति पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में व्यक्ति साधु बन जाता है, संन्यासी बन जाता है। पांचवीं भूमिका गृहस्थ साधकों की है और छठी भूमिका मुनि-साधकों की है। दोनों साधना के इच्छुक हैं, दोनों साधना-पथ के पथिक हैं। दोनों ने चलना शुरू किया है। वे उस यात्रा के लिए समर्पित हो चुके हैं।

## मोह विलय का सिद्धांत

एक व्यक्ति गृहस्थ जीवन में साधना करता है और एक व्यक्ति मुनि जीवन में साधना करता है। गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, एक छलांग नहीं है। कहीं-कहीं, कभी-कभी आकस्मिक घटना भी घटित होती है, छलांग भी लगती है। हमारे विकास के क्रम में भी छलांगें होती हैं। विकास के एक क्रम में चलते-चलते ऐसी छलांग आती है कि व्यक्ति को नयी उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, नया प्रजनन हो जाता है, नया घटित हो जाता है। यह छलांग है। किन्तु गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई छलांग नहीं है। इसमें निश्चित क्रम की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ होकर साधना का प्रारम्भ करता है और कोई मुनि बनकर साधना की यात्रा पर चलता है। इसके पीछे भी मोह के आवेगों का सिद्धान्त काम करता है। जिस व्यक्ति के मोह का कुछ विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में एक

निश्चित मात्रा में साधना का भाव जागृत होता है। जिस व्यक्ति के मोह का अधिक विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में साधना के प्रति समर्पित हो जाने की बात प्राप्त होती है।

**व्यावहारिक कल्पना : नैश्चयिक भाषा**

अनेकांत दर्शन के दो पक्ष हैं—व्यवहार और निश्चय। अनेकांत का पंछी निश्चय और व्यवहार—इन दोनों पंखों को फड़फड़ाकर उड़ता है। एक पंख से वह उड़ नहीं पाता। उसका एक पंख काटा नहीं जा सकता, न व्यवहार को काटा जा सकता है और न निश्चय को काटा जा सकता है।

जब हम व्यवहार की भाषा में चलते हैं तब जीव आदि नौ पदार्थों को जानना सम्यक् दर्शन माना जाता है। श्रावक के व्रतों को स्वीकार कर लिया, यह हो गया पांचवां गुणस्थान अर्थात् श्रावकत्व, देशविरति की प्राप्ति। पांच महाव्रतों को स्वीकार कर लिया, छठा गुणस्थान आ गया, सर्वविरति की अवस्था प्राप्त हो गयी। यह है व्यवहार की भाषा का स्वीकार। किंतु जब हम कर्मशास्त्रीय भाषा में सोचते हैं, निश्चय की भाषा में सोचते हैं तब हमें कहना होगा कि आवेग चतुष्टय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की तीव्रतम अवस्था (अनन्तानुबंधी) का विलय होने पर सम्यक्दर्शन उपलब्ध होता है। जिस व्यक्ति में आवेग की यह तीव्रतम अवस्था क्षीण या उपशांत नहीं होती, उसे सम्यक्दर्शन उपलब्ध नहीं होता, फिर चाहे वह कितनी ही बार नौ पदार्थों को रट जाये और उनको कंठस्थ कर उच्चारण करता रहे। जिस व्यक्ति में आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नहीं होता तब तक यथार्थ में व्यक्ति देश-विरति श्रावक नहीं बन सकता, चाहे फिर वह कितनी ही बार त्याग को दोहराता रहे। जिस व्यक्ति में आवेग की तीसरी अवस्था (प्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नहीं होता तब तक वह मुनि साधक नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही बार दीक्षित क्यों न हो जाए। जब तक आवेग की चौथी अवस्था (संज्वलन) का क्षय नहीं होता, तब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि—यथाख्यात को नहीं पा सकता।

**कषाय विलय का महत्त्व**

हम अन्तरंग और बहिरंग—दोनों पर ध्यान दें। केवल बहिरंग साधना पर्याप्त नहीं है। जब तक कषाय का विलय नहीं होगा, अन्तरंग का स्पर्श नहीं होगा तब तक आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध नहीं होगी। बहिरंग साधना से व्यवहार की पूर्ति तो हो सकेगी किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पायेगा।

कर्मशास्त्र के रहस्यों को समझे बिना हम आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यों को समझ नहीं सकते। उन सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के

अन्तरंग पथ को नहीं पकड़ सकते इसलिए हमें कर्मशास्त्र की गहराइयों में उतरकर उसके रहस्यों को पकड़ना होगा।

## छद्मरहित अवस्था

जब ये चारों आवेग–क्रोध, मान, माया, लोभ नष्ट हो जाते हैं, इनकी चारों अवस्थाएं क्षीण हो जाती हैं तब वीतरागता की स्थिति आती है, चारित्र यथाख्यात बन जाता है। इस अवस्था में किसी भी परिस्थिति में लक्ष्य के प्रति शैथिल्य नहीं आता, कथनी और करनी में तनिक भी अन्तर नहीं रह जाता। कोई भी शक्ति उसमें अन्तर नहीं ला सकती। चाहे मनुष्य कृत कष्ट प्राप्त हों, तिर्यंचकृत कष्ट प्राप्त हों, दैवी उपसर्ग प्राप्त हों, मरने या जीने का प्रसंग आए, आकर्षक पदार्थों का अम्बार लगा हो या नीरस पदार्थ पड़े हों, व्यक्ति की चेतना में कोई अन्तर नहीं आता। वह आत्मा के साथ एकात्मक हो जाता है, एकरूप हो जाता है। यथाख्यात चारित्र इतना अप्रकम्प होता है कि वहां छिपाव की बात सर्वथा समाप्त हो जाती है। वह छद्मरहित अवस्था होती है। भीतर से एक प्रकार की नग्नता जैसी अवस्था हो जाती है। कोई छिपाव या आवरण नहीं होता।

## आधार है मोह विलय

यह हमारी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम है। यह सारा का सारा मोह विलय के आधार पर होता है। मोह जितना प्रबल होता है, हमारी मूर्च्छा उतनी ही प्रबल हो जाती है। हमारी मूर्च्छा जितनी प्रबल होती है, आचार उतना ही विकृत होता चला जाता है और हमारा दृष्टिकोण भी मिथ्या होता चला जाता है। एक मार्ग है मोह की प्रबलता का और दूसरा मार्ग है मोह की दुर्बलता या मोह के विलय का। पहले मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित होती चली जाती है और दूसरे मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना विकसित होती चली जाती है। हम किस प्रकार मोह को क्षीण करें। यह साधना का केन्द्र-बिन्दु है। मोह को शांत करें, राग-द्वेष को कम करें, और इस प्रकार जीवन जीएं कि कषाय कम होता जाए, राग-द्वेष कम होता रहे। यह जैसे कर्मशास्त्रीय भाषा है, वैसे ही अध्यात्म-शास्त्रीय मीमांसा है। जैसे अध्यात्म-शास्त्रीय मीमांसा है, वैसे ही स्वास्थ्य-शास्त्रीय मीमांसा है, मानसशास्त्रीय मीमांसा है। इन आवेगों का केवल हमारी आध्यात्मिक चेतना पर ही प्रभाव नहीं होता किन्तु हमारे मन पर, मन की शांति और स्वास्थ्य पर भी प्रभाव होता है।

## मानस चिकित्सा शास्त्र

आज की मनोवैज्ञानिक खोजों ने इस विषय को बहुत उजागर कर दिया कि आवेगों का व्यक्ति के मन पर कितना असर होता है और आवेगों के कारण कितने

प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यह विषय पहले भी अज्ञात नहीं था। प्राचीन आचार्यों ने यह स्पष्टता से प्रतिपादित किया है कि आवेगों से रोग उत्पन्न होते हैं। आवेगों के द्वारा वात, पित्त और कफ विकृत होते हैं और रोग सरलता से आक्रमण कर देते हैं। प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में इन विषयों की विशद जानकारी प्राप्त होती है किन्तु वर्तमान में जो मानस-शास्त्रीय खोजें हुई हैं, उनसे इस विषय पर चामत्कारिक प्रकाश पड़ता है।

## आवेग नियंत्रण की पद्धति

मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ अद्भुत बातें प्रस्तुत करता है। हम मानते हैं कि बीमारियां शरीर में पैदा होती हैं। डॉक्टर कहते हैं कि कीटाणुओं के द्वारा बीमारियां उत्पन्न होती हैं किन्तु मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ और ही कहता है। उसका कहना है कि सत्तर-अस्सी प्रतिशत बीमारियां मानसिक आवेगों के कारण होती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, भय, लालच–ये बीमारी के उत्पादक हैं। बहुत सारी बीमारियां ग्रन्थियों के स्राव के कारण बढ़ती हैं, अवांछनीय रासायनिक प्रक्रिया से पैदा होती हैं। इस दृष्टि से भी ये आवेग घातक हैं। ये आवेग कर्म की परम्परा को तो आगे बढ़ाते ही हैं, किन्तु शरीर के लिए भी लाभदायक नहीं हैं।

हमें कर्मशास्त्र को केवल जानना ही नहीं है, उसके रहस्यों को जानकर उनसे लाभ उठाना है। वह है आवेग का नियंत्रण। आवेगों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग-नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं--उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण।

**उपशमन–** मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन की पद्धति कहा गया है। एक व्यक्ति आवेगों का दमन करता चला जाता है। मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, जो भी आवेग आया, उसे रोक लिया, शांत कर दिया, दबा दिया। वह दबाता चला जाता है और दमन करते-करते अध्यात्म-विकास की ग्यारहवीं भूमिका तक चला जा सकता है। यह भी ऊंची भूमिका है। इसका नाम है--उपशांत मोह। इसे ग्यारहवां गुणस्थान कहा जाता है। इस भूमिका में मोह उपशांत हो जाता है। इतना उपशांत कि व्यक्ति वीतराग हो जाता है। यह दमन का रास्ता है, विलय का नहीं। इसलिए कुछ ही समय पश्चात् ऐसी स्थिति बनती है कि दबा हुआ कषाय उभरता है और उससे ऐसा झटका लगता है कि ग्यारहवीं भूमिका में गया हुआ साधक नीचे लुढ़क जाता है फिर वह उन्हीं आवेगों से आक्रांत हो जाता है।

दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु यह व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।

**क्षयोपशमन–** मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। इसे मार्गान्तरीकरण भी कहा जाता है। इसका अर्थ है–रास्ता बदल देना, उदात्त कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना।

क्षयोपशमन का अर्थ है–कुछ दोषों का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए। इसमें उपशमन और क्षय, साथ-साथ चलते हैं।

**क्षयीकरण–** यह तीसरी पद्धति है। इसका अर्थ है–पूर्ण क्षीण कर देना, समाप्त कर देना, विलय कर देना। इसमें उपशमन नहीं होता। जो भी आया, उसे नष्ट कर दिया। यह नष्ट करते हुए चलने की पद्धति है। यह है सर्वथा आगे बढ़ जाने की पद्धति। ऐसा करने वाला व्यक्ति पूर्णतः आगे ही बढ़ता चला जाता है। उसकी आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है।

आवेगों का उपशमन होता है, आवेगों का क्षयोपशमन होता है और आवेगों का क्षयीकरण होता है।

### अध्यात्मशास्त्र : कर्मशास्त्र

मानसविज्ञान की दृष्टि से भी यह सम्मत तथ्य है कि आवेगों पर नियंत्रण होना चाहिए। अनियंत्रित आवेग व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी हानि पहुंचाते हैं। क्रोध उत्पन्न होता है। उसे रोकना जरूरी है। किंतु अंतर इतना ही आता है कि उसे कैसे रोकें ? यहां कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रीय पक्ष आ जाता है। इस बिंदु पर कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र मिल जाते हैं।

### आवश्यक है नई दुनिया की खोज

अध्यात्म का मुख्य नियम है–भीतर की ओर जाना, भीतर में झांकना, भीतर में रस पैदा करना। जब तक यह रस पैदा नहीं होता तब तक अध्यात्म को नहीं समझा जा सकता। प्रश्न होता है, अध्यात्म को समझना आवश्यक क्यों है? यह इसलिए आवश्यक है कि हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, हमें उस दुनिया से संतोष नहीं है। कहीं भी देखो, असंतोष ही असंतोष, शिकायत ही शिकायत। हर व्यक्ति के मन में शिकायत है। पुत्र के मन में पिता के प्रति शिकायत है और पिता के मन में पुत्र के प्रति शिकायत है। पति के मन में पत्नी के पति और पत्नी के मन में पति के प्रति शिकायत है। सर्वत्र शिकायत ही शिकायत, असंतोष ही असंतोष। इस स्थिति में एक नई दुनिया की खोज आवश्यक लगती है। ऐसी दुनिया, जहां शिकायत न हो, असंतोष न हो, प्रतिक्रिया न हो, समस्याएं न हों, दुःख न हो। उस खोज का फल है–अध्यात्म चेतना का जागरण।

### आत्मा का सुख

विज्ञान ने अचेतन मन की खोज कर एक नए संसार का स्वप्न संसार के

समक्ष रखा है। अध्यात्म की खोज उससे भी आगे है। उस खोज में अचेतन मन नीचे रह जाता है। आत्मा के नियम जानने वाला व्यक्ति सुखद संसार में चला जाता है, जहां हजार कठिनाइयां आने पर भी वह उनसे अछूता रह जाता है, उनका संवेदन नहीं करता, उनका भोग नहीं करता, हजार दुःख आने पर भी वह क्षण भर के लिए दुःखी नहीं होता। वास्तव में उसके लिए कोई दुःख होता ही नहीं। उसका सुख इतना निर्बाध बन जाता है कि कोई भी व्यक्ति उसमें बाधा उपस्थित नहीं कर सकता।

आत्मा के सुख को अव्याबाध कहा जाता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कोई भी बाधा नहीं आ सकती।

## विवेक की शक्ति जागे

ध्यान की प्रक्रिया खोज की प्रक्रिया है । व्यक्ति अपने आपको खोजता है, अपने भीतर में जाता है, गहराइयों में जाता है, परीक्षण करता है, निरीक्षण करता है, इस प्रक्रिया से वह सचाई तक पहुंच जाता है और तब विवेक जागृत हो जाता है।

प्रेक्षा का प्रयोजन है—विवेक । संश्लेष नहीं, विश्लेषण। एकत्व नहीं, विवेचन ।

जब तक विवेचन की शक्ति नहीं जागती , तब तक विकास नहीं होता । नमक भी सफेद होता है और कपूर भी सफेद होता है, पर दोनों का उपयोग भिन्न-भिन्न होता है। आचार्य भिक्षु ने कहा--कुछ लोग, जो सफेद और तरल होता है, उसे दूध समझ लेते हैं। गाय का दूध, भैंस का दूध, आक का दूध और थूहर का दूध--चारों प्रकार के दूध तरल होते हैं और सफेद होते हैं पर आदमी को यह विवेक होना चाहिए कि कौन-सा दूध किस काम में आ सकता है। यह विवेक की शक्ति जागृत होनी चाहिए।

हमें विवेक करना है कि चेतना कहां है और कर्म का प्रभाव कहां है ? हमें चेतना से कर्म का विश्लेषण करना है, विवेक करना है। दोनों का पृथक्करण करना है। विवेक की जागृति के पश्चात् हम जितना चेतना का अनुभव करेंगे, उतने ही वर्तमान में रहेंगे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चेतना का अनुभव करना वर्तमान की पकड़ है।

## बहिरात्मा : अंतरात्मा : परमात्मा

जब हम बाहर ही बाहर देखते हैं तब बाहर के प्रति हमारी आसक्ति इतनी गाढ़ और तीव्र हो जाती है कि हमारी आत्मा 'बहिरात्मा' बन जाती है, अन्तरात्मा नहीं रहती। भीतर से हटकर केवल बाह्य बन जाती है। बाहर का आकार ले लेती है। फिर सारी प्रवृत्ति बाह्य को देखती है। सब कुछ बाहर ही बाहर, भीतर कुछ नहीं। बहिरात्मा का परिणमन होता है। हमारी आत्मा बहिरात्मा बन जाती है।

जब किसी निमित्त से भीतर की यात्रा प्रारम्भ होती है और उस सचाई का

एक कण, एक लव अनुभूति में आ जाता है कि सार सारा भीतर है, सुख भीतर है, आनन्द भीतर है, आनन्द का सागर भीतर लहरा रहा है, चैतन्य का विशाल समुद्र भीतर उछल रहा है, शक्ति का अजस्र स्रोत भी भीतर है, अपार आनन्द, अपार शक्ति, अपार सुख--यह सब भीतर है तब आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है। बाह्य आत्मा का वलय टूट जाता है। बाह्य अनुभूति के स्तर पर आत्मा बहिरात्मा बनती है तो आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बनती है । अध्यात्म की यात्रा के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है। हमारी परिणति आन्तरिक बन जाती है, अन्तरात्मा का उन्मेष जाग जाता है।

जब साधक इससे आगे बढ़ता है तब अनुभूति का स्तर बदल जाता है। श्रेय के साथ हमारा संबंध जुड़ जाता है, शुद्ध चेतना के साथ हम मिल जाते हैं, जिसके साथ संबंध कटा-कटा सा था, उस विशुद्ध चेतना के साथ पुनः संबंध स्थापित हो जाता है। एक छोटा स्रोत अपने मूल स्रोत से मिल जाता है। यह परम आत्मा की स्थिति है। इस स्तर पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।

अनुभूतियों के स्तरों के आधार पर आत्मा के तीन रूप बन जाते हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

हम इसकी तुलना आज के मनोविज्ञान की भाषा से कर सकते हैं। उसके अनुसार मन के तीन प्रकार हैं--कोन्शियस माइंड, सबकोन्शियस माइंड और अनकोन्शियस माइंड--चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन।

प्रेक्षाध्यान स्वतंत्रता का घटक है। इससे चेतना का जागरण होता है और साधक अपने मूल स्रोत--आत्मा तक, प्रभु तक, परमात्मा तक पहुंचने में समर्थ हो जाता है।

### वैराग्य : समता : प्रसन्नता

चैतन्य का जागरण वैराग्य से आरम्भ होता है। हमने यदि वैराग्य का अभ्यास नहीं किया, राग की मात्रा को थोड़ा-बहुत भी कम नहीं किया तो चैतन्य का जागरण संभव नहीं बन पाएगा।

चैतन्य जागरण का पहला बिन्दु है--वैराग्य। जब वैराग्य जीवन में घटित होता है तब समता अपने आप घटित होती है । दूसरा सूत्र है--समता। जिस व्यक्ति ने वैराग्य की साधना नहीं की, वह सामायिक की साधना नहीं कर सकता ।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर मन समाहित हो जाता है। यदि व्यक्ति का मन उलझनों से भरा है, समाहित नहीं है तो समझ लेना चाहिए कि समत्व की प्रज्ञा जागी नहीं है । समत्व की प्रज्ञा जाग जाए और मानसिक उलझनों का भार भी बना रहे, यह संभव नहीं है। जब मन की समस्याएं सुलझने लगती हैं, अपने आप समाधान प्रस्तुत होता है तब मानना चाहिए कि समत्व का भाव अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा

व्यक्ति 'समाहितात्मा' कहलाता है। उसका मन पूर्ण समाहित होता है । समस्याएं आती हैं पर मन को उलझा नहीं पातीं। वे हट जातीं हैं, दूर चली जाती हैं।

अध्यात्म की दृष्टि से मूलभूत तथ्य है–सामायिक–समत्व का जागरण । समत्व के जागने पर लेश्याओं में भी परिवर्तन हो जाता है। लेश्याएं प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती चली जाती हैं। पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द बढ़ने लगता है, मन की निर्मलता, मन की शांति और मानसिक आनन्द प्राप्त होते हैं।

चैतन्य जागरण का तीसरा सूत्र है–प्रसन्नता। चित्त में वैराग्य का अंकुर फूटा, समता का अंकुर फूटा तो चित्त में प्रसन्नता का अंकुर फूट जाएगा। वैराग्य के बिना, समता के बिना प्रसन्नता नहीं हो सकती। हर्ष एक बात है, प्रसन्नता दूसरी बात है। धन मिला, बड़ा हर्ष हो गया। प्रिय वस्तु का योग मिला, बड़ा हर्ष हुआ। हर्ष का दूसरा पहलू है शोक। जहां हर्ष होगा, वहां शोक भी होगा। एक ओर से हर्ष झांक रहा है तो दूसरी ओर से शोक झांक रहा है। हर्ष और शोक–दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक चित्र उभर जाता है तो लगता है–यह हर्ष है। वह जब नीचे जाता है, शोक उभर आता है और हर्ष छिप जाता है। वास्तव में हर्ष और शोक के बीच में कोई दूरी नहीं है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

प्रसन्नता हर्ष भी नहीं है और शोक भी नहीं है। प्रसन्नता है–चित्त की निर्मलता. । जब आकाश में न बादल होते हैं, न धूल होती है तब कहा जाता है–'आकाश बड़ा प्रसन्न है ।' हमारे चित्त पर जब लाभ की घटा उमड़ती है, लाभ के बादल छा जाते हैं, बड़ा हर्ष होता है और जब कोई अलाभ की आंधी उतर आती है, बड़ा दुःख होता है, शोक होता है। जब चित्त के आकाश पर न लाभ की घटा उमड़ती है, न अलाभ की आंधी उतरती है तब चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है। यह निर्मलता की घटना जब घट जाती है, चित्त प्रसन्न बन जाता है तब एकाग्रता सधती है । चित्त पहले एकाग्र नहीं होता । एकाग्र हो सकता है चित्त। एक निशाना साधने में क्या चित्त की एकाग्रता नहीं होती ? एक शिकारी निशाना साधता है, कितना एकाग्र होता है ! जब एक व्यक्ति किसी को डराना चाहता है, कितना एकाग्र होता है! एकाग्र होना ही कोई अच्छी बात नहीं है। किन्तु प्रसन्नता, समता और वैराग्य के कारण जो चैतन्य का अनुभव होता है, इस चैतन्य के अनुभव के प्रति एकाग्र होना अच्छी बात है। वह एकाग्रता होती है तब वास्तव में अपनी भीतरी सम्पदाओं का पता चलता है और आदमी अपने आप को पहचान लेता है, अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

# मन का विलय

जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसका लय या विलय कैसे होगा? भाषा बहुत लचीली होती है। बहुत सारे व्यक्ति अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा का चाहे जैसे प्रयोग कर देते हैं। किसी ने कहा--हमने साधना की और मन का विलय हो गया। ध्यान किया और मन का विलय हो गया। मन शान्त हो गया, किसी रूप में विलीन हो गया। दूसरी भाषा यह है कि मन था ही नहीं। विलय हुआ किसका? जिसका कोई अस्तित्व हो, उसका विलय हो सकता है। पर मन था कहां? मन नहीं था। जैन, बौद्ध आदि जो साधना की धारणाएं हैं, उनकी भाषा है--मन का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मन का कोई आधार ही नहीं है, मन की कोई प्रतिष्ठा ही नहीं है और मन कहीं स्थित नहीं है।

## मन के विलय का अर्थ

हम यह कहें--चिंतन नहीं हो रहा है, विचार नहीं हो रहा है। हम सोच नहीं रहे हैं, कल्पना नहीं कर रहे हैं। यह भी कह सकते हैं कि मन मर गया, मन का अस्तित्व नहीं है। मन विलीन हो गया, मन का अस्तित्व नहीं है--इसमें भाषा का भेद हो सकता है। तात्पर्य में मुझे कोई भेद दिखाई नहीं देता। सचाई यह है--मन को उत्पन्न करने वाला यंत्र जब निष्क्रिय हो जाता है तब मन उत्पन्न ही नहीं होता। जब मन उत्पन्न नहीं होता तब हम कहते हैं कि मन का विलय हो गया। मन की अनुत्पत्ति की दशा, मन के जन्म न लेने की दशा, ठीक इसी भाषा में है मन का विलय हो जाना। मन का विलय हो गया, इसका तात्पर्य यही है कि मन का अस्तित्व नहीं रहा। मन उत्पन्न नहीं हुआ, इसका तात्पर्य भी यही है--मन का अस्तित्व नहीं है। मूल बात तात्पर्य की है। तात्पर्य में हम जिसकी मीमांसा करते हैं, वह यह है कि एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जहां मन नहीं रहता। हम यह मानकर न चलें कि मन रहता ही नहीं। यह स्थिति भी घटित होती है कि मन नहीं ही रहता। हमारे चेतना के स्तर पर दो स्थितियां निर्मित हो गईं--एक मन के होने की स्थिति और दूसरी मन के न

होने की स्थिति। मन के न होने की स्थिति मनोविलय की स्थिति है और मन के होने की स्थिति वह है, जिसका सब लोग अनुभव करते हैं।

### मन और समस्या

मन होता है और बहुत होता है। इसलिए हम मन नहीं होने की बात सोच सकते हैं। अगर मन नहीं होता तो शायद हम मन के होने की बात सोचते। किन्तु मन होता है और बहुत बार होता है इसलिए हम इस खोज में हैं कि मन न हो। यह बात क्यों सोचते हैं? इसका भी एक कारण है। मन का होना कोरा मन का होना ही नहीं है। मन का होना बहुत सारी समस्याओं का होना है। क्योंकि जिस यंत्र के द्वारा मन संचालित होता है और मन में जो प्रवाहित होता है, उस नलिका में बहुत सारी चीजें ऐसी भी आती हैं, जिन्हें हम नहीं चाहते। इसलिए हम बहुत बार सोचते हैं कि मन न हो तो बहुत अच्छी बात है।

### प्राण और वृत्ति

मन उत्पन्न होता है प्राण के द्वारा। यदि प्राण न हो तो मन उत्पन्न नहीं होता। प्राण मन को उत्पन्न करता है, मन जागृत होता है या निर्मित होता है। जैसे ही मन उत्पन्न होता है, अपना काम करने लगता है, वृत्तियां उस पर हावी हो जाती हैं। उस छोटे-से बच्चे पर वृत्तियां इतनी हावी हो जाती हैं कि बेचारा मन कुछ भी नहीं रहता। इतने आवरण ऊपर आ जाते हैं कि उनके इशारों पर उसे चलना पड़ता है। प्राण और वृत्ति—एक उत्पन्न करने वाला और एक हावी होने वाला, ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जो मन जैसे भोले बच्चे को दुःखी बना डालते हैं।

जीवन में बहुत बार आवेग आते हैं। आवेग क्यों आते हैं? क्या मन में आवेग हैं? मन का अपना कोई आवेग नहीं है किन्तु वृत्तियों मे आवेग होते हैं और वे मन पर छा जाते हैं। हमें लगता है—सारी खुराफात मन की है। वस्तुतः मन में कोई खुराफात नहीं है।

### दो मुख्य केन्द्र

योगशास्त्र में अन्नमयकोष, प्राणमयकोष और मनोमयकोष के पश्चात् विज्ञानमयकोष बतलाया है। विज्ञानमयकोष का अर्थ है—विज्ञानशरीर। कोष का अर्थ है शरीर। ज्ञान शरीर, बुद्धि शरीर या मस्तिष्क के पीछे जो सूक्ष्म शरीर है—यह विज्ञानमय कोष है। हमारे शरीर के ऊपर का जो भाग है, वह ज्ञान से सम्बन्धित है। यह ज्ञान क्षेत्र है। पृष्ठरज्जु या कटि का जो क्षेत्र है, वह है काम-क्षेत्र। जब ज्ञानधारा ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तब मन की चंचलता, इन्द्रियों की

चंचलता, वासनाएं और आवेग, क्षोभ और उदासी—ये सारी स्थितियां बनती हैं। जब काम-केन्द्र की ऊर्जा को ऊपर ले जाते हैं, ज्ञान-केन्द्र में ले जाते हैं या ज्ञान-केन्द्र से नीचे नहीं उतरने देते तब स्थितात्मा हो जाते हैं। इस स्थिति में राग-द्वेष नहीं सताते। क्षोभ और मोह नहीं सताते। आवेश और वासनाएं नहीं सतातीं। यही अन्तर्मुखता की स्थिति है। बहिर्मुखता की बात समाप्त होकर अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में इन्द्रियां बदल जाती हैं, मन बदल जाता है। जो इन्द्रियां किसी दूसरी ओर दौड़ रही थीं, वे अपने आप प्रत्याहृत अथवा प्रत्याहार की स्थिति में आ जाती हैं। मन जो बाहर की ओर जा रहा था, वह भी अन्तर्मुख हो जाता है, संयमित हो जाता है, प्रतिसंलीनता फलित हो जाती है।

इसका अर्थ है—अपने आप में लीन होना। जब प्रतिसंलीनता घटित होती है तब इन्द्रियां जो बाहर की ओर दौड़ रही थीं, वे अपने-आप में लीन हो जाती हैं। जो बच्चा घर से बाहर चला गया था, वह पुनः घर में आ जाता है। मन का पंछी, जो बाहर की ओर जाना चाहता था, वह थककर पिंजड़े में आकर बैठ जाता है। बाहर जाने की स्थिति समाप्त। उसका क्रम बदल जाता है। स्थितात्मा की स्थिति प्राप्त होती है। ज्ञान जब ज्ञान-केन्द्र में ही रहता है, ज्ञान की धारा जब ज्ञान-केन्द्र में ही रहती है तब आदमी स्थितात्मा हो जाता है। वह इतना स्थिर बन जाता है कि कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। स्थितात्मा ही दूसरों को स्थित बना सकता है। चल व्यक्ति किसी को स्थित नहीं बना सकता।

### एक तरंग है मन

मन एक तरंग है। ध्यान की स्थिति में मन का सर्वथा विलय हो जाता है। इस स्थिति में मन अ-मन बन जाता है। यह स्थिति एक दिन नहीं, वर्ष भर रह सकती है। व्यक्ति एक वर्ष तक अ-मन की स्थिति में रह सकता है। मन को सर्वथा निष्क्रिय कर देना ही अ-मन की स्थिति है।

तरंगों को रोका जा सकता है, तरंगों को समाप्त किया जा सकता है और इस स्थिति में ही मनुष्य को तरंगातीत बिन्दु का बोध संभव बन सकता है। पर्याय से परे जो मूल तत्त्व है उसका ज्ञान हो सकता है। जिस किसी व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को समझकर तरंग के निरोध का अभ्यास किया, उसने विचारों का निरोध, संवेदनों का निरोध, चंचलता का निरोध करने का प्रयत्न किया। इस निरोध की स्थिति में उसे इस सचाई का बोध हुआ कि इस संसार में एक ऐसा भी तत्त्व है, जो तरंगातीत है, तरंगों से परे है।

### र्शनिक दृष्टि

दार्शनिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि संसार में तरंगातीत कुछ भी नहीं है। जिस आत्मा को हम तरंगातीत स्वीकार करते हैं, वह भी तरंगातीत नहीं है। इसे हम थोड़ा समझें। तरंगें दो प्रकार की होती हैं, पर्याय दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक पर्याय और वैभाविक पर्याय। एक वे पर्याय हैं, जो स्वभावतः प्रकट होते हैं। वे अनादि-अनन्त द्रव्य में प्रतिपल उत्पन्न होते रहते हैं और मिटते रहते हैं। स्वाभाविक तरंगें कभी समाप्त नहीं होतीं, उत्पन्न होती हैं और मिटती हैं। पर्याय हमारे लिए बाधक नहीं होते। हमें जिन पर्यायों और तरंगों से बाधित होना पड़ता है, जो हमारी मति में भ्रम पैदा करते हैं, वे हैं वैभाविक पर्याय। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि निमित्तों से उत्पन्न होने वाले पर्याय। इन वैभाविक पर्यायों को मिटाया जा सकता है। इनकी समाप्ति ही तरंगातीत अवस्था है।

### ध्यान की निष्पत्ति

यह नहीं मान लेना चाहिए कि ध्यान करने के लिए बैठते ही सारे पर्याय समाप्त हो जाते हैं, तरंगें समाप्त हो जाती हैं। ध्यान की स्थिति में अनेक पर्याय चलते हैं, तरंगें चलती हैं। ध्यान पर किए गए वैज्ञानिक प्रयोगों से यह पता लगा कि विश्राम की स्थिति में जो लक्षण पैदा होते हैं, वे ही लक्षण ध्यान की स्थिति में प्रकट होते हैं। हमारे शरीर में 'लेक्टिक' एसिड है। विश्राम काल में उसकी स्थिति कम होती है किन्तु ध्यान काल में नहीं होती। आठ घंटे के नींद के समय में जितनी मात्रा कम होती है, उतनी मात्रा ध्यान के बीस मिनट में हो जाती है। यह एसिड शरीर के लिए हानिकारक होता है। ध्यान में और भी अनेक परिवर्तन होते हैं किन्तु वह तरंगातीत स्थिति है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। तरंगातीत अवस्था एक वीतराग की भी नहीं होती, केवली की भी नहीं होती।

### गौतम का प्रश्न

गौतम ने भगवान् से पूछा—भंते! केवली ने जहां हाथ रखा, क्या वह वहां पुनः हाथ रख सकता है?

महावीर ने कहा—नहीं रख सकता।

असीम ज्ञानी भी जब वैसा करने में असमर्थ है तो भला साधारण आदमी यह दावा कैसे कर सकता है कि वह वही कर रहा है, जो उसने पहले किया था।

गौतम ने फिर पूछा—क्या केवली भी दूसरी बार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नहीं रख सकता?

महावीर ने उत्तर दिया—गौतम! शरीर चंचल है। केवली हो जाने पर भी शरीर की चंचलता नहीं मिटती है। शारीरिक चंचलता के कारण वह केवली दूसरी बार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नहीं रख सकता। कुछ-न-कुछ अन्तर आ जाएगा, आकाश-प्रदेश बदल जाएंगे।

केवली भी तरंगातीत स्थिति में नहीं है। हम यह कल्पना न करें कि दो-चार घंटे की ध्यान की स्थिति से तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। जब व्यक्ति शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है, अयोगी बन जाता है तब उसे तरंगातीत अवस्था प्राप्त होती है। यह मोक्ष की निकटस्थ अवस्था है। आत्मा वैभाविक पर्यायों से सर्वथा मुक्त होकर अप्रकम्प हो जाता है। अप्रकम्प दशा की यात्रा हमारा लक्ष्य है। यह लंबी यात्रा है। इस दशा तक हमें पहुंचना है। ध्यान उसका माध्यम है। हम तरंगों में जी रहे हैं। ध्यानकाल में भी तरंगें आती हैं, विकल्प उठते हैं। इससे निराश या खिन्न नहीं होना है। यदि दो-चार क्षणों तक भी तरंग न आए, विकल्प न उठे तो यह तरंगातीत अवस्था की क्षणिक प्राप्ति है। यह भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस जगत् में जीने वाले गुरुत्वाकर्षण के घेरे में बंधे होते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी अभ्यास के द्वारा गुरुत्वाकर्षण से हटकर हल्केपन का अनुभव करता है तो मानना चाहिए कि वह एक नयी यात्रा पर चल रहा है। हम तरंगों के घेरे में बैठे हैं, तरंगों में जी रहे हैं, तरंगों में श्वास ले रहे हैं। इस तरंगित जगत् में यदि दो-चार मिनट भी निस्तरंगता का अनुभव करते हैं तो वह नई दिशा की ओर प्रस्थान है।

### प्रश्न मन को रोकने का

एक प्रश्न होता है—मन को कैसे रोकें? मन अशान्त है, उसे शान्त कैसे करें? हमें एक सचाई को समझना है। मन और उसको रोकना—ये दो बातें कैसे संभव हो सकती हैं? हवा चल रही है। मकान पर झंडा फहरा रहा है। वह हवा के सहारे हिल रहा है। हवा चलती रहे और झंडा न हिले—यह कैसे संभव हो सकता है? बर्फ गिर रही है। उसके योग से हवा ठंडी चल रही है। हम चाहें कि बर्फ गिरती रहे पर हवा ठंडी न रहे, गरम हो जाए, यह कैसे संभव हो सकता है? बर्फ गिरेगी तब हवा ठंडी हो जाएगी। गर्मी का प्रकोप होगा, हवा गरम हो जाएगी। हम हवा को गरम या ठंडी होने से नहीं रोक सकेंगे।

### मन की तीन अवस्थाएं

मन की तीन अवस्थाएं हैं—

१. समनस्कता २. अमनस्कता

३. 'नो समनस्कता'—'नो अमनस्कता'—मानसिक तटस्थता या अमन।

समनस्कता का अर्थ है—हमारा मन उसी प्रवृत्ति में संलग्न रहे, जिसे हम कर रहे हैं।

अमनस्कता का अर्थ है--हम किसी एक काम में लगे हुए हैं किन्तु मन किसी दूसरी प्रवृत्ति में लगा हुआ है। यह अमनस्कता है।

समनस्कता या अमनस्कता में अमन की स्थिति पैदा नहीं होती। मन रहेगा, चाहे वह इस प्रवृत्ति में लगा रहे या उस प्रवृत्ति में लगा रहे। मन किसी में लगा अवश्य रहेगा। वहां अमन की स्थिति प्राप्त नहीं होती। व्यक्ति भोजन करने बैठा है और मन दुकान में दौड़ रहा है। इसका अर्थ है--मन है किन्तु वह भोजन में नहीं, दुकान में है।

अमन की स्थिति तब प्राप्त होती है जब मन कहीं भी लगा हुआ न हो। नो समनस्कता और नो अमनस्कता--यह स्थिति है अमन की।

### समन : अमन

समन का मतलब है मन का होना और अमन का मतलब है मन का न होना, मिट जाना। मन को उत्पन्न ही नहीं करना। मन भी खो सकता है और शरीर भी खो सकता है।

एक साधिका ने बताया--जब शरीर-प्रेक्षा कर रही थी, श्वास-प्रेक्षा कर रही थी तब वह इतनी निमग्न हो गयी कि उसे लगा—श्वास आ-जा रहा है, किन्तु शरीर खो गया है।

साधना में यह लाघव प्राप्त होता है। एक साधक ध्यान कर रहा था। उसका ध्यान पुष्ट था। एक दिन वह बहुत गहराई में चला गया। शरीर हलका हो गया। अचानक वह उठा और चिल्लाया--'अरे, देखो, मेरा शरीर कहां है, वह खो गया है। उसे ढूंढो। उसे खोजो।' कोई अनजान व्यक्ति इसे पागल का प्रलाप-मात्र मान सकता है, किन्तु यह सत्य घटना है। ऐसा होता है। भार की अनुभूति मिट जाती है। शरीर की अनुभूति समाप्त हो जाती है, ऐसा लगने लगता है कि परमाणुओं का पुंज इधर से उधर और उधर से इधर आ रहा है और कुछ नहीं है। यह अमन की स्थिति है। तब शरीर भी खो जाता है, वाणी भी खो जाती है और मन भी खो जाता है।

### मन की दो भूमिकाएं

हम अमन की भूमिका और समन की भूमिका को साथ-साथ समझें। जब तक

मन की भूमिका है तब तक इस बात को न सोचें कि मन को मिटा दें किन्तु इस बात को सोचें कि मन को कोई अच्छा आलंबन मिले। मन को शुद्ध या पवित्र आलंबन मिले । जो मन नाना प्रकार के आलंबनों में भटकता है, उस भटकाव को भुला दे और एक ही आलंबन में लंबे समय तक रह सके–ऐसा प्रयत्न करें। हमारे दो ही प्रयत्न हों--मन की भूमिका में पवित्र आलंबन और एक दिशा-गामिता, एक दिशागामी प्रवाह। मन की धारा एक दिशा में बहे। विभिन्न दिशाओं में बहने वाली मन की यह धारा समाप्त हो जाए और एक विशाल धारा के रूप में वह प्रवाहित हो और सबको अपने आपमें समेट ले।

दूसरी भूमिका है अमन की। मन आलंबन के साथ चलता है। चलते-चलते जब वह आलंबन की एकाग्रता और स्थिरता के बिन्दु पर पहुंच जाता है तब मन की गति लड़खड़ाने लग जाती है, टूटने लग जाती है, मन वहां समाप्त हो जाता है, अमन की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

जब लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं और जैसे ही ज्योति प्रकट होती है तब कुछ चमकीला पदार्थ दिखने लगता है। जब भीतर के स्पंदन जागते हैं, लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तब ये तरंगें हमारे सामने आती हैं। एक ऐसा प्रसाद बरसने लगता है कि मन खो जाता है, कहीं नहीं रहता। व्यक्ति दूसरी स्थिति में चला जाता है।

जब मन उपस्थित रहता है तब काल का बोध हुए बिना नहीं रहता। काल का अबोध अमन की स्थिति में ही हो सकता है। व्यक्ति एक घंटा तक ध्यान में बैठता है किन्तु उसे लगता है कि पांच-दस मिनट ही हुए हैं। यह अनुभूति अमन की स्थिति में ही हो सकती है, मन की स्थिति में नहीं। अमन की स्थिति कालातीत स्थिति है। अमन की स्थिति देशातीत स्थिति है। मन का काम है काल को जागरूकता से देखना, जानना। वह कालातीत या देशातीत नहीं हो सकता।

### महावीर की सहिष्णुता : कारण

मैं कई बार सोचता हूं कि महावीर को इतने कष्ट झेलने पड़े, क्या कोई शरीरधारी व्यक्ति ऐसे कठोर कष्टों को झेल सकता है? क्या ऐसी स्थिति में कोई समभाव में रह सकता है? एक आदमी ने उनके कानों में कीलें ठोकीं, गालियां दी, फिर भी वे प्रसन्न रहे, हंसते रहे। जरा भी उनमें आवेश नहीं आया। यह कैसे संभव हो सका? मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा–सविकल्प मन में यह संभव नहीं है। मन की सविकल्प अवस्था में लाभ में सुख होगा, हर्ष होगा और अलाभ में विषाद होगा। विषण्णता होगी। सुख होने पर प्रह्लाद की अनुभूति होगी और दुःख होने पर कष्ट की अनुभूति होगी। विकल्पयुक्त मन में यही होगा, और कुछ हो नहीं सकता। किन्तु

जैसे ही हमने मन को विकल्प से खाली कर दिया, फिर लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, कुछ भी अन्तर नहीं आएगा। जिसके कारण अन्तर आ रहा था, महावीर ने उसको ही समाप्त कर डाला। महावीर ने विकल्प-चेतना को समाप्त कर दिया। कहा जा सकता है–निर्विकल्प अवस्था में रहकर महावीर ने कष्ट सहा था इसलिए अन्तर नहीं आया। अगर महावीर सविकल्प अवस्था में रहते तो अन्तर अवश्य आता। सम वह रह सकता है, जिसका मन निर्विकल्प होता है।

### विकल्प और अशान्ति

समता और निर्विकल्प अवस्था--दोनों में तालमेल है। हम सामायिक का अनुष्ठान करते हैं। यदि सामायिक में मन को निर्विकल्प नहीं कर पाते तो सामायिक का वह परिणाम, लाभ-अलाभ में सम, सुख-दुःख में सम, निन्दा-प्रशंसा में सम, जीवन-मरण में सम, मान-अपमान में सम रहना नहीं होगा। यह स्थिति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि हमने मन को खाली नहीं किया, मन के विकल्पों को नहीं छोड़ा। जब तक विकल्प रहेगा, वह उसे पकड़ेगा। सामायिक समाधि तब प्राप्त होती है जब हम मन को निर्विकल्प कर देते हैं।

अशान्ति और विकल्प साथ-साथ जन्म लेते हैं। अशान्ति कोई अलग वस्तु नहीं है। व्यक्ति अशान्ति को मिटाना चाहता है पर अशान्ति तब तक नहीं मिटती जब तक विकल्प नहीं मिटता। अशान्ति और विकल्प एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों साथ-साथ चलते हैं। विकल्प को मिटाए बिना अशांति को नहीं मिटाया जा सकता।

### सुख दुःख : वस्तु और प्रकंपन का योग

साधना में एक बात मुख्य है, वह बात है मन को खाली करने की। सुख-दुःख है क्या? हमें इस पर सोचना है। हम वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखें या दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखें, हमें यह ज्ञात होगा कि हमारा सारा जीवन प्रकम्पनों का जीवन है। बाह्य जगत् में प्रकम्पन हैं, वाइब्रेशन्स हैं और भीतरी जगत् में भी प्रकम्पन हैं। प्रकम्पन ही वास्तव में सुख-दुःख पैदा करते हैं। केवल वस्तु से सुख या दुःख नहीं होता। वस्तु और प्रकम्पन–दोनों का योग होने पर उनकी अनुभूति होती है।

### सामायिक : संवर की प्रक्रिया

सामायिक संवर की प्रक्रिया है। इसमें प्रकंपन निरुद्ध हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं। जैसे ही मन समभाव की स्थिति में जाता है, प्रकम्पन बंद हो जाते हैं। जब प्रकम्पन बंद हो जाते हैं तब लाभ या अलाभ, सुख या दुःख, निंदा या प्रशंसा, हमारे लिए कुछ भी नहीं है। क्योंकि उन प्रकम्पनों को ग्रहण करने वाले द्वार को तो हमने

बन्द कर दिया। खिड़की बन्द कर दी, अब आंधी चले या तूफान, भीतर कुछ भी नहीं आयेगा। सामायिक-समाधि प्रकम्पनों को बन्द कर देने की प्रक्रिया है। उस समय में ऐसी समाधि घटित होती है कि जिस पर कोई आंच नहीं आती। कोई भी बाहर की स्थिति उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर सकती। सामायिक के लिए तीन बातें जरूरी हैं--

१. मन की शिथिलता–मन को विकल्पों से खाली कर देना।

२. शरीर की शिथिलता–शरीर को तनावों से मुक्त कर देना।

३. प्रकंपनों का अग्रहण।

शरीर की चंचलता ही सारे प्रकम्पनों का मूल कारण है। तत्त्व की दृष्टि से विचार करें तो प्रवृत्ति वास्तव में एक ही है और वह है शरीर की। हम कहते हैं-- प्रवृत्तियां तीन हैं--मन की प्रवृत्ति, वचन की प्रवृत्ति और शरीर की प्रवृत्ति। श्वास की प्रवृत्ति को हमने प्रवृत्ति माना ही नहीं। यथार्थ में प्रवृत्तियां तीन नहीं हैं, एक ही है। वह है शरीर की प्रवृत्ति। मन और वचन की जो प्रवृत्ति है, उसका काम है–शरीर के द्वारा प्राप्त सामग्री को छोड़ देना। बाहर से कुछ भी लेना, यह सारा का सारा काम शरीर का है। इसलिए वास्तव में प्रवृत्ति एक शरीर की ही है। ये दो योग--मन का योग और वचन का योग--गौण हैं।

प्रवृत्ति मात्र के तीन अंग हैं–लेना, परिणमन करना और छोड़ना। ग्रहण, परिणमन और विसर्जन--ये तीनों काम एक शरीर के ही होते हैं। मनोयोग और वचनयोग का काम केवल विसर्जन है, ग्रहण या परिणमन नहीं है। ग्रहण करने का कार्य काययोग का है, शरीर की प्रवृत्ति का है। मनोवर्गणा के पुद्‌गल और वचन वर्गणा के पुद्‌गल--इनका ग्रहण भी काययोग के द्वारा ही होता है।

शरीर को शिथिल करना, मन को खाली करना और प्रकम्पनों को ग्रहण न करना, उत्पन्न न होने देना–यह है सामायिक की पद्धति।

## सिद्धि के तीन उपाय

केवल जान लेने, उच्चारण कर देने या उपदेश दे देने से समता संपन्न नहीं होती। हम जो चाहते हैं, वह निष्पन्न नहीं होता। वह होता है क्रिया के द्वारा। सिद्धि के लिए हमारे आचार्यों ने तीन उपाय बतलाएं हैं--

१. क्रिया २. मन्त्र ३. औषध

क्रिया का अर्थ है–एकाग्रता, स्थिरता। तीन घंटे तक एक विषय पर एकाग्रता करें तो एकाग्रता की सिद्धि मानी जाती है। इसका नाम है क्रिया की सिद्धि। यह प्रथम बार में ही नहीं हो जाती। अभ्यास इस दिशा में हो कि हमें उस सिद्धि की स्थिति तक पहुंचना है। जब व्यक्ति एक घंटे की एकाग्रता साध लेता है तब उसे अपना मार्ग

स्वयं दिखने लग जाता है।

एक विषय पर एक घंटा एकाग्र होना भी मामूली बात नहीं है। यह कठिन साधना से ही फलित होने वाली सिद्धि है। जो इस स्थिति का स्पर्श कर लेता है, उसके लिए कोई उपदेश आवश्यक नहीं होता। 'उद्देसो पासगस्स णत्थि'--द्रष्टा के लिए उपदेश आवश्यक नहीं होता। जो इस स्थिति में चला जाता है, उसे कोई भी उपाय विचलित नहीं कर सकता। पूर्ण सिद्धि तीन घंटे से प्राप्त होती है। तीन घंटे तक इस प्रकार की सामायिक करें और समभाव में एकाग्र हो जाएं तो समता की सिद्धि होगी। यह बहुत कठिन प्रक्रिया है। यदि बड़े लक्ष्य को प्राप्त करना है तो उसकी प्राप्ति का साधन छोटा नहीं हो सकता।

दूसरी बात है--मंत्र के द्वारा सिद्धि। मंत्र की सिद्धि के लिए भी यही बात है। मन्त्र का जप भी तीन घण्टे तक पहुंच जाए तो सिद्धि हो सकती है।

तीसरी बात है--औषधि के द्वारा सिद्धि। यह सरल है। वनस्पति जगत् का भी बड़ा चमत्कार है। इसके द्वारा भी सिद्धि होती है।

ये तीन साधन हैं। वनस्पति के विषय में हमारी जानकारी अल्प है इसलिए इसे छोड़ दें तो दो ही साधन रह जाते हैं--एक क्रिया का और दूसरा मंत्र का। इन दोनों साधनों के द्वारा समभाव का अभ्यास किया जा सकता है।

## कुंभक की स्थिति

यह नहीं कहा जा सकता--हम एक साथ तीन घंटे का अभ्यास या एक घंटे का अभ्यास कर लें। प्रारम्भ में हम मन को निर्विकल्प करने के संकल्प से बैठें। आधा या एक मिनट तक मन में कोई विकल्प न आए--ऐसा अभ्यास प्रारम्भ करें। उस अभ्यास-दशा में भी हम स्वयं अनुभव करेंगे--हमारे मन में सुख-दुःख का कोई भाव नहीं है, बाहर की घटना का कोई प्रभाव नहीं है। यदि पांच मिनट तक मन खाली रहे, कोई विकल्प न आए तो बाहर में कुछ भी घटित क्यों न हो, उसका असर नहीं होगा। यह निरोध की स्थिति है। इधर से किवाड़ बन्द कर दिया, उधर क्या हो रहा है, कुछ भी पता नहीं चलेगा।

कुंभक में यह स्थिति घटित होती है। हम कुंभक के द्वारा या बिना कुंभक किए ही अभ्यास के द्वारा मन को खाली कर दें। हम चलते हुए भी ऐसा कर सकते हैं। हम मन को खाली कर कहीं भी जाएं, वहां क्या हो रहा है, उसका भान नहीं होगा।

## नागरिकता बदले

सामायिक की साधना शांति और मानसिक संतुलन की साधना है, कषाय-मुक्ति

की साधना है। सामायिक की सिद्धि का उपाय है—मन को खाली करना। हम शरीर का शिथिलीकरण करें, श्वास को रोककर मन को खाली करें। यह बार-बार करें। दिन में कई बार करें। ऐसा करने पर समता या निर्विकल्प अवस्था का अनुभव हो सकता है। इस सचाई का अनुभव करें--हमें मनोराज्य का नागरिक नहीं रहना है। हमें नागरिकता को बदलना है, अमन राज्य की नागरिकता स्वीकार करनी है। जहां मन नहीं होता, कोरी चेतना रहती है। इस स्थिति में गए बिना दुःख कम नहीं हो सकता। अमन की स्थिति ही दुःख को कम करने की स्थिति है। हम दिन-रात मन के साम्राज्य में रहते हैं। सोते हुए भी हम मन का खेल खेलते हैं और जागते हुए भी मन का खेल खेलते हैं। चौबीस घण्टों में हम कम से कम बीस मिनट, आधा घण्टा तो ऐसा अभ्यास करें कि मन की स्थिति न रहे, अमन की स्थिति उत्पन्न हो जाए। ऐसा करने पर नया अनुभव होगा, नया जीवन प्रारम्भ होगा। पुराना जीवन यानी मानसिक क्रीड़ाओं का जीवन। नया जीवन यानी मनोतीत जीवन, अमन का जीवन, केवल चेतना की भूमिका पर बिताया जाने वाला जीवन। हम इसका अभ्यास करें और चित्त के साथ जीना सीखें, चेतना के साथ जीना सीखें तो जीवन में अबाध सुख का स्रोत फूट सकता है।

# चित्त

# चित्त

## संचालक है चित्त

स्मृति, कल्पना, मनन, ईहा, अपोह, मार्गणा, चिन्ता और विमर्श--ये सब मन के कार्य हैं । ये सारे मानसिक कार्य चित्त के सहयोग से ही सम्पन्न होते हैं। उसके सहयोग के बिना मन कुछ भी नहीं कर सकता। हाथ की अंगुलियां चलती हैं और अनके कार्य संपन्न हो जाते हैं किन्तु वे कार्य मस्तिष्क द्वारा चित्त का सहयोग प्राप्त होने पर ही संपादित होते हैं। क्रिया करना शरीर का काम है, संचालन करना चित्त का काम है। ठीक इसी प्रकार मानसिक क्रिया के साथ चित्त का योग बना रहता है। इस संबंध की दृष्टि से बहुत बार चित्त और मन को एक ही मान लिया जाता है । व्यवहार में उन्हें एक मानने में कोई कठिनाई नहीं आती किन्तु ध्यान-साधना के क्षणों में यह कठिनाई उभर कर सामने आ जाती है । यदि ध्यान मन का ही एक खेल है तो फिर बंदर की स्थिरता को भी उसकी चंचलता का ही एक प्रदर्शन माना जाएगा ।

ध्यान के विकास का पहला चरण है--विकल्प ध्यान और दूसरा चरण है–निर्विकल्प ध्यान । यह समाधि की अवस्था है और ध्यान का वास्तविक स्वरूप यही है । यह स्थिति मन की सारी प्रवृत्तियों के समाप्त होने पर ही उपलब्ध होती है। इस अवस्था में मन विलीन हो जाता है, चित्त की वृत्तियां विलीन हो जाती हैं किन्तु चित्त विलीन नहीं होता । इसी बिन्दु पर चित्त और मन की पृथक्ता का अनुभव किया जा सकता है ।

## एक नहीं हैं चित्त और मन

साधारणतया चित्त और मन को एकार्थक माना जाता है। वस्तुतः ये एकार्थक नहीं हैं। मनोविज्ञान में चित्त के अर्थ में मुख्यतया मन का ही प्रयोग किया गया है। चित्त और मन की एकता मानने पर समस्या का समाधान नहीं होता। समस्या यह है, क्या मन स्वयं संचालित है या वह किसी दूसरे के द्वारा संचालित है ? यदि वह स्वयं संचालित है तो फिर उसे वश में करने की बात निरर्थक बन जाती है, उसके व्यग्र और एकाग्र होने की बात भी अर्थहीन हो जाती है। उसका नियामक चित्त है। उसकी व्यग्रता और एकाग्रता चित्त पर निर्भर है इसलिए चित्त और मन--दोनों की भेद-सीमा पर ध्यान का केन्द्रित होना जरूरी है।

## स्थूल व्यक्तित्व

जब तक चित्त और मन की अवधारणा स्पष्ट नहीं हो जाती तव तक बहुत भ्रान्तियां पलती हैं। हमारे स्थूल व्यक्तित्व के तीन घटक हैं–शरीर, मन और वाणी। यह व्यक्तित्व प्रवृत्त्यात्मक है, चंचल है । इसमें शरीर प्रधान है। यह दृश्य है। यह प्रवृत्तियों का सबसे बडा स्रोत है। सारी प्रवृत्तियां इसी के माध्यम से होती हैं। शरीर प्रवृत्ति का पहला स्रोत है।

प्रवृत्ति का दूसरा स्रोत है मन । उसके द्वारा चिन्तन, स्मृति और कल्पना होती है। शरीर और मन–दोनों की प्रवृत्तियां निरंतर चालू रहती हैं। मन की प्रवृत्ति कभी-कभी रुकती है पर उसको भी हम निरंतर प्रवृत्त ही कह सकते हैं।

प्रवृत्ति का तीसरा स्रोत है--वाणी। वाणी की प्रवृत्ति निरंतर नहीं होती। बोलते हैं तब वाणी की प्रवृत्ति होती है, चिन्तन करते हैं तब भी वह होती है और स्वप्न लेते हैं। तब भी वह होती है। इन तीन अवस्थाओं में स्वरयंत्र चालू रहता है। बोलते हैं तब स्वरयंत्र सक्रिय होता ही है पर चिंतन करते समय या स्वप्न देखते समय भी वह सक्रिय रहता है इसलिए वाणी की प्रवृत्ति निरंतर न होते हुए भी लम्बे समय तक रहती है। वह कभी अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त।

यह हमारा प्रवृत्त्यात्मक या स्थूल व्यक्तित्व है।

## आंतरिक व्यक्तित्व

हमारा दूसरा व्यक्तित्व है आन्तरिक। वह उससे भिन्न है। उसमें प्रवृत्ति स्थूल नहीं, सूक्ष्म होती है।

इन दोनों व्यक्तित्वों– स्थूल और सूक्ष्म का संचालन चैतन्य–चित्त के द्वारा होता है। जो आन्तरिक व्यक्तित्व का संचालक है, उसे अध्यवसाय कहा जाता है। आन्तरिक व्यक्तित्व और बाहरी व्यक्तित्व–इन दोनों के बीच एक सेतु है, दोनों को जोड़ने वाला है, वह है लेश्याचित्त या भावचित्त। यह दोनों प्रकार के व्यक्तित्व का संपर्क-सूत्र है। आन्तरिक व्यक्तित्व में जो भी प्रकंपन घटित होते हैं, जिस प्रकार के संस्कारों के प्रकंपन होते हैं, उन सभी प्रकंपनों को स्थूल शरीर तक पहुंचाने का कार्य है लेश्या-चित्त का, भावचित्त का । इस प्रकार एक ही चित्त क्षेत्रभेद और कार्यभेद के कारण तीन भागों में विभक्त हो जाता है–अध्यवसाय, भाव और स्थूल चेतना या बुद्धि । ये सब एक ही चेतना के विभाग हैं, इनमें चेतना अलग-अलग नहीं है।

## संदर्भ : प्रेक्षाध्यान

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में चित्त और मन का बहुत प्रयोग होता है। चित्त का अर्थ है–स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना और मन का अर्थ है–उस चित्त के

द्वारा काम कराने के लिए प्रयुक्त तंत्र। मन क्रियातंत्र है और चित्त है चैतन्य-तंत्र। यह क्रियातंत्र का संचालक है। मन पौद्गलिक है। चित्त आत्मिक है। पौद्गलिक होने के कारण मन अचेतन है और आत्मिक होने के कारण चित्त चेतन है। दोनों में स्वरूप-भेद है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में इस विषय में बहुत जागरूक रहना होता है कि ध्यानकाल में हम कहां मन का प्रयोग करें और कहां चित्त का प्रयोग करें। सुझाव देते समय भी यह अवधारणा स्पष्ट होनी चाहिए। जब हम प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में 'अन्तर्यात्रा' का प्रयोग करते हैं तब चित्त को शक्ति-केन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक तथा ज्ञानकेन्द्र से शक्तिकेन्द्र तक लाना होता है । इस प्रयोग में चित्त का प्रयोग उपयुक्त लगता है, मन का प्रयोग उचित नहीं होता । इसका भी कारण है। अन्तर्यात्रा के समय केवल चैतन्य का अनुभव करना होता है । नाड़ीतंत्र में सर्वत्र व्याप्त जो चित्त है या चित्त की रश्मियां हैं, उसके कारण नाड़ी-संस्थान के तंतु, ज्ञानतंतु बने हुए हैं, उन ज्ञानतंतुओं का अनुभव करना होता है, उन पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। यह सारा कार्य चित्त का हो सकता है, मन का नहीं । कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक चेतना को ले जाया जाता है, चित्त को ले जाया जाता है, मन को नहीं। हम सुझाव देते हैं--'चित्त शांत रहे।' वृत्तियां चित्त में उभरती हैं, मन में नहीं। जो चंचलता है, वह चित्त की है। चित्त में ही चंचलता पैदा होती है। चित्त में वृत्तियों के उभरने के केन्द्र हैं और उसी चित्त को शांत करना होता है ।

## चित्त की दो अवस्थाएं

चित्त के द्वारा मन प्रवर्तित होता है । उसकी दो अवस्थाएं हैं--विक्षिप्तावस्था और एकाग्रावस्था । विक्षिप्तावस्था में मन एक बिन्दु पर नही टिकता । एकाग्रावस्था में वह एक बिन्दु पर एकाग्र हो जाता है । दोनों चंचलता के ही रूप हैं । दोनों में अन्तर इतना-सा है कि जो मन अनेक विषयों में जा रहा था, उस मन को एक विषय में एकाग्र कर दिया, अनेक स्मृतियों या कल्पनाओं में उलझने वाले मन को एक स्मृति या कल्पना पर टिका दिया--यह है एकाग्रावस्था। पर इस अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन स्थिर हो गया। मन को स्थिर करने की बात ही गलत है। स्थिर होना उसका स्वभाव ही नहीं है। उसकी प्रकृति है चंचलता । वह स्थिर कैसे हो सकता है? चित्त स्थिर हो सकता है। चित्त की गत्यात्मकता और मन की गत्यात्मकता में यही अन्तर है कि चित्त स्थिर हो सकता है, मन स्थिर नहीं हो सकता । दूसरा अन्तर है कि चित्त स्थायी तत्त्व है। ऐसा नहीं होता कि चित्त अभी पैदा हुआ और अभी समाप्त हो गया। चित्त हमारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है, स्थायी तत्त्व है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। मन उत्पन्न होता है, विलीन हो जाता है। हम जब चाहते हैं

तब मन को उत्पन्न कर लेते हैं और जब चाहते हैं तब उसको विलीन कर देते हैं, अमन हो जाते हैं।

## स्थिर होता है चित्त

चित्त का विक्षेप मन का विक्षेप है, चित्त की चंचलता मन की चंचलता है । आदमी चाहता है, चित्त शान्त रहे। आदमी चाहता है, गहरी नींद आए । बिछौने पर जाते ही स्मृति, कल्पना और विचार सताने लग जाते हैं। नींद उचट जाती है। आदमी बेचैन हो जाता है। वह चाहता है--उस समय न स्मृति आए, न कल्पना और विचार आए पर इनसे छूट पाना सहज नहीं होता ।

मन का स्वभाव है चंचलता । उसका अस्तित्व चंचलता में ही है। हम चित्त को स्थिर कर सकते हैं। जब चित्त स्थिर होता है तब मन अमन बन जाता है, मन होता ही नहीं । जैसे-जैसे चित्त की अवस्था स्थिर होती है, वैसे-वैसे मन अमन की स्थिति में चला जाता है । दो अवस्थाएं हैं--या तो मन होगा या मन नहीं होगा । मन होगा तो चंचलता अवश्य होगी । मन को स्थिर नहीं किया जा सकता । चित्त को स्थिर किया जा सकता है ।

## सीमित है मन : व्यापक है चित्त

जहां अमनस्कता आती है, मन समाप्त हो जाता है वहां केवल चित्त काम करता है। मन और चित्त दो हैं, एक नहीं हैं। फ्रायड ने माइंड के आधार पर चिंतन दिया । उसी को मूल्य दिया। यूंग ने दो शब्द दिए--माइंड और साइक । एक है मन और दूसरा है चित्त। मन के द्वारा जीवन और कार्यकलापों की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती । मन एक सीमित तत्त्व है । चित्त व्यापक है । मन और चित्त के आधार पर समूचे आचार और व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है। मन समाप्त हो जाता है पर चित्त–चेतना समाप्त नहीं होती । जब मन काम करता है तब चित्त कुछ दब जाता है। जब मन शांत होता है तब चित्त अधिक सक्रिय बन जाता है। अमनस्क अवस्था में मन शांत होता है किन्तु चित्त अधिक प्रज्वलनशील और सक्रिय बन जाता है।

## अमन की स्थिति

हम ऐसा अभ्यास करें, जिससे मन की भूमिका से हटकर चित्त की भूमिका पर चले जाएं । हम मन को उत्पन्न न करें और अधिक से अधिक अमन की स्थिति में रहना सीखें । साधना का यही प्रयोजन है कि हम मन को पैदा न करें, मन को चंचल बनाने वाली चित्त की चेतना को स्थिर करें और अमन की स्थिति में रहें।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव का जितना अधिक विकास होगा, समता का जितना अधिक विकास होगा, राग-द्वेष से परे रहने का जितना अधिक विकास होगा, उतना ही विकास अमन की स्थिति का होगा। जब व्यक्ति अमन की स्थिति में जाता है तब दृष्टि में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। हम एक आंख से प्रियता का दर्शन करते हैं और दूसरी आंख से अप्रियता का दर्शन करते हैं। हमारा समूचा जीवन प्रियता और अप्रियता को देखने में बीत जाता है। इसके अतिरिक्त आंख के सामने कोई दर्शन नहीं है। प्रियता और अप्रियता से परे का कोई दर्शन प्राप्त नहीं है। उसे देखने के लिए हमें तीसरी आंख चाहिए। उस तृतीय नेत्र के द्वारा हम प्रियता और अप्रियता से हटकर पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से और यथार्थ को केवल यथार्थ की दृष्टि से देख सकें, सत्य को केवल सत्य की दृष्टि से देख सकें, यह अपेक्षित है।

### जिनभद्र की परिभाषा

जिनभद्र के अनुसार स्थिर चेतना ध्यान है और चल चेतना चित्त--

*जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चलं तं चित्तं।*

पारा उछलता रहता है, चोट खाता रहता है, कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे आता है, ठीक यही दशा चित्त की भी होती है। किन्तु जैसे पारा बंध जाता है वैसे ही चित्त भी बंध जाता है । उस स्थिति में चित्त की शक्तियां क्षीण कम होती हैं, संचित ज्यादा होती हैं । जब चित्त शक्तिशाली बनता है, सम्यक् साधनों और सम्यक् उपायों के द्वारा तब वह स्थिर हो जाता है और स्थिर बना हुआ चित्त फुटबाल की तरह इधर-उधर नहीं उछलता, पारे की तरह कांपता नहीं, किन्तु जमकर रह जाता है। वह घटना को देखता है पर घटना के स्पर्श से आगे नहीं उछलता, पीछे भी नहीं सरकता, एक स्थान पर खड़ा रहता है। यह है चैतन्य प्रतिष्ठा । जब तक हमारा चैतन्य प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक समाधि की घटना घटित नहीं होती और जब चैतन्य अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब सहज समाधि का अनुभव होने लग जाता है।

### आगम के आलोक में चित्त और मन

एक जैन आगम है-- सूत्रकृतांग । बारह अंग-आगमों में यह दूसरा अंग-आगम है । उसमें चित्त और मन को गहराई से समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है । सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया--'एक व्यक्ति न सोच रहा है, न बोल रहा है, न प्रवृत्ति कर रहा है, और न स्वप्न देख रहा है। उस स्थिति में भी उसके कर्मबन्ध हो रहा है, नए संस्कारों का निर्माण हो रहा है।' यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके आधार पर मन और चित्त को पृथक्-पृथक् समझने में सुविधा हो सकती

है । सामान्यतः यह माना जाता है कि मन की चंचलता से कर्म-बंध होता है। प्रवृत्ति और स्वप्नदर्शन भी कर्मबन्ध के घटक हैं किन्तु जहां प्रवृत्ति नहीं है, स्वप्न-दर्शन नहीं है, मन और वचन का कार्य नहीं है, वहां कर्मबंध कैसे हो सकता है ? सूत्रकृतांग के अनुसार इस अवस्था में भी कर्मबन्ध होता है। सामान्य उक्ति भी उसी का समर्थन करती है–'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' यह भी स्थूल बात है । उसको समझने के लिए हमें स्थूल जगत् को पार कर, स्थूलचित्त को पार कर, सूक्ष्म जगत् या सूक्ष्म चित्त की यात्रा करनी होगी।

### सूक्ष्म चित्त : चार प्रकार

हमारे अन्तर-जगत् में जो संस्कार है, कर्मचित्त या अध्यवसाय है, वह निरंतर सक्रिय रहता है। मन के होने या न होने पर भी वह सक्रिय बना रहता है। उस सूक्ष्मतम चित्त या अध्यवसाय को चार भागों में विभक्त किया गया है–

१. मिथ्यात्व अध्यवसाय
२. अविरति अध्यवसाय
३. प्रमाद अध्यवसाय
४. कषाय अध्यवसाय

इनका हमारे स्थूल चित्त के साथ कोई संबंध नहीं होता । संबंध बाद में बनता है पर उनके संचालन में स्थूल चित्त का कोई हाथ नहीं है । जब स्थूल चित्त का कोई दायित्व नहीं है तब फिर मन का प्रश्न ही नहीं उठता । यह आन्तरिक चेतना की होने वाली प्रवृत्ति है । मनोविज्ञान में परिकल्पित अचेतन मन से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है ।

### आंतरिक प्रवृत्तियां

ये चार प्रकार के चित्त सतत सक्रिय रहते हैं, निरंतर गतिशील रहते हैं। मिथ्यात्व अध्यवसाय से जो प्रकंपन होते हैं, वे दृष्टिकोण को भ्रांत बनाते हैं। यह चित्त का पहला प्रकार है। चित्त का दूसरा प्रकार है–अविरति । इसको तृष्णा कहा जाता है। तृष्णा उत्पन्न होती है, निरंतर चालू रहती है । यही तृष्णा स्थूल चित्त में प्रगट होकर लोभ या लोभ-जनित प्रवृत्तियां उत्पन्न करती हैं। तीसरा है प्रमादचित्त । यह मूर्च्छा उत्पन्न करता है । चौथा है कषायचित्त। यह क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता–इन सबको उत्पन्न करता है।

ये सब आंतरिक प्रवृत्तियां हैं। इन प्रवृत्तियों का हमारे स्थूल शरीर, चित्त या मन के साथ कोई संबंध नहीं है। ये नितान्त इस शरीर और शरीर की चेतना से परे हैं। इनका सारा संबंध आन्तरिक व्यक्तित्व या चेतना से है। अन्तर-चित्त में ये सब घटित होते हैं।

## चित्त और मन से परे

जो व्यक्तित्व चित्त और मन का है, दृश्यमान है, वह बुद्धिगम्य होता है। आन्तरिक व्यक्तित्व चित्त और मन से सर्वथा परे है। वह नितान्त आन्तरिक है। वहीं पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, कर्मबंध, संस्कार आदि घटनाएं समझ में आ सकती हैं। यदि इस स्थूल शरीर, स्थूल चित्त या स्थूल मन के आधार पर पूर्वजन्म, पुनर्जन्म अ..दि की व्याख्या करें तो हम सफल नहीं हो सकते। यदि हम सूक्ष्म चित्त की भूमिका पर खड़े होकर उन सारी बातों को व्याख्यायित करते हैं तो आदमी की प्रवृत्तियों के कारण भी खोजे जा सकते हैं। आदमी जानता है कि लोभ बुरा है, फिर लोभ की वृत्ति उसमें क्यों जागती है ? आदमी जानता है कि काम-वासना बुरी है, फिर यह वृत्ति क्यों उभरती है ? बुद्धि कहती है--घृणा करना बुरा है, क्रोध करना बुरा है, फिर आदमी वैसा क्यों करता है? यदि इस स्थूल शरीर और स्थूल चेतना में इनका समाधान खोजना चाहें तो समाधान प्राप्त नहीं होता । वहां इतना ही कहना पड़ता है कि ऐसी परिस्थिति थी, ऐसा वातावरण था, इसलिए ऐसा घटित हो गया। वास्तविक समाधान नहीं मिलता। यह एक द्वन्द्व है कि आदमी नहीं चाहता कि वह बुरा काम करे, अनैतिक आचरण या अपराध करे, नशा या व्यसन में फंसे, फिर भी वह यह सब कुछ करता है। यह ज्ञान और आचरण का द्वन्द्व, कथनी और करनी का द्वन्द्व--इसकी व्याख्या स्थूल चित्त या बुद्धि के आधार पर नहीं की जा सकती । ये बुद्धि और स्थूल चेतना की सीमा से परे की बातें हैं। इनकी व्याख्या आन्तरिक व्यक्तित्व या अध्यवसाय की भूमिका पर ही की जा सकती है।

## मन मूल स्रोत नहीं है

मनोविज्ञान में भी अनेक प्रवृत्तियों की व्याख्या अचेतन मन के आधार पर की गई है। वह भी एक मार्ग है । उससे बाहरी व्यक्तित्व को लांघकर भीतर में प्रवेश हुआ है । किन्तु जैन दर्शन की पहुंच प्रारंभ से ही बहुत आगे और आज उसका बहुत विकास हुआ है। अब हम जानते हैं कि हमारे संस्कार आन्तरिक व्यक्तित्व में हैं। वह संस्कारचित्त स्थूलचित्त-वृत्ति का निर्माण करता है । आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ--ये सारी वृत्तियां और संज्ञाएं संस्कार-चित्त या अध्यवसाय से आती हैं और इस स्थूल चित्त में आकर प्रगट होती हैं । फिर स्थूल चित्त की क्रिया का संचालन या संवहन मन करता है। मन मूल स्रोत नहीं है। यह क्रिया-तंत्र है इसलिए जो रूपान्तरण होता है, वह मानसिक स्तर पर कभी नहीं होता, वह होता है चित्त के स्तर पर, सूक्ष्म चित्त के स्तर पर।

## चित्त की निर्मलता

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में भावशुद्धि की बात कही जाती है। भावशुद्धि का अर्थ है चित्त की निर्मलता, राग-द्वेषमुक्त चित्त की स्थिति । जिसने भावशुद्धि की बात को नहीं समझा, वह चाहे चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोग करे, चाहे लेश्याध्यान या श्वासप्रेक्षा का प्रयोग करे, बहुत सफल नहीं हो सकता। ये सारे भावशुद्धि के माध्यम हैं। भावशुद्धि जितनी प्रबल होगी, सारे माध्यम शक्तिशाली बन जाएंगे। यदि भावशुद्धि पर ध्यान नहीं है, लक्ष्य का दृढ़ निर्धारण नहीं है तो जो लाभ होना चाहिए, वह लाभ नहीं हो पाएगा। भावशुद्धि के लक्ष्य का निर्धारण करने को हम इष्ट का संकल्प कहें, चाहे परमात्मा का सान्निध्य कहें, चाहे आत्मा का सान्निध्य कहें, कुछ भी कहें, यह परम रहस्य है ध्यान का । जो इस रहस्य को नहीं समझता, उसमें रूपान्तरण नहीं हो सकता । व्यक्ति ने एक बार ध्यान किया, शान्ति मिली, ध्यान संपन्न किया और वे ही वृत्तियां उसे सताने लग जाती हैं, वृत्तियों का चक्र चालू हो जाता है, क्योंकि उसने वृत्तियों का उपशमन किया, पर उन्हें क्षीण नहीं किया । जब तक वृत्तियां क्षीण नहीं होतीं, उपशांत मात्र होती हैं तब फिर उभर जाती हैं। पानी के मैल को जब तक साफ कर बाहर नहीं फेंक दिया जाता, तब तक मैल नीचे दब जाता है और लगता है कि पानी साफ हो गया । परन्तु जब पानी हिलता है तब पुनः मटमैला हो जाता है । मैल का शोधन आवश्यक होता है । इसी प्रकार भाव की निर्मलता बहुत आवश्यक है। जब निर्मल चैतन्य और आत्मा का आलम्बन लिया जाता है, तब लक्ष्य-सिद्धि होती है।

## निर्माण चित्त

भावशुद्धि का प्रयोग प्रेक्षा-ध्यान की प्राण-प्रतिष्ठा का प्रयोग है। जब भावशुद्धि घटित होती है तब भीतर से जो संस्कार उभर कर आते हैं, वृत्तियां उभरती हैं, उन सबका उपशमन होता है, वे धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं।

अन्तश्चित्त हमारी सारी वृत्तियों का मूल स्रोत है । यह चित्त निर्मल होता है तो इसका प्रभाव भीतर तक पहुंचता है । यह एक प्रकार से 'फीडबेक' पद्धति है । भाव शुद्ध होता है तो वह भीतर तक प्रभाव डालता है और अन्तर में भी शोधन शुरू हो जाता है। जो संस्कार चित्त है, जो चित्तों का निर्माण कर रहा है, वह निर्माण-चित्त भी इस भावशुद्धि के द्वारा ही पवित्र होता है । हमारा मूल लक्ष्य है--निर्माण-चित्त को शुद्ध बनाना । यह ध्यान के विभिन्न प्रयोगों से हो सकता है। ध्यान के प्रयोग इसीलिए होते हैं कि चित्त पर मैल न जमे, चित्त शुद्ध रहे। जब यह शुद्ध रहता है तब भीतर तक पवित्रता का क्रम चलता है । एक पूरा वलय बनता है। यह कार्य-कारण की

श्रृंखला है । जो भीतर से आ रहा है, उसे हम बाहर से फीड कर रहे हैं ।

**राग : विराग**

चित्त को अशुद्ध बनाता है राग । जितना राग होता है, उतना ही चित्त अशुद्ध रहता है। इसलिए चित्त की शुद्धि करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले विराग का अभ्यास करना होता है । वैराग्य-भावना चित्त शुद्धि का प्रमुख साधन है। भगवान् महावीर ने कहा--**खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा** । जितनी कामनाएं, लालसाएं और आकांक्षाएं चित्त में जागती हैं, ये क्षण भर के लिए सुख देती हैं। ये प्रवत्तिकाल में सुख देती हैं किन्तु परिणाम-काल में दुःख देती हैं। प्रवृत्ति का क्षण छोटा होता है किन्तु परिणाम का क्षण बहुत बड़ा होता है। जैसे एक छोटी-सी भूल का बहुत बड़ा परिणाम होता है वैसे ही कामना की भूल का छोटा-सा क्षण बहुत बड़ा बन जाता है परिणाम-काल में। सुख का अनुभव थोड़ा होता है और दुःख का अनुभव बहुत ज्यादा होता है। इस प्रकार का अनुचिंतन, इस प्रकार की भावना, बार-बार यह अभ्यास करते-करते पदार्थ के प्रति राग कम होने लगता है और मन में वैराग्य का अंकुर फूटने लगता है।

**विक्षिप्त चित्त : समाहित चित्त**

प्रश्न होता है--दुःख क्यों है ? कब तक है ? योग के आचार्यों ने दो शब्द दिये--समाहित चित्त और विक्षिप्त चित्त। दुःख की अवस्था पैदा होती है विक्षिप्त चित्त में और जब चित्त समाहित होता है तब दुःख समाप्त हो जाता है । अभाव हो सकता है पर दुःख नहीं हो सकता । समस्या हो सकती है पर दुःख नहीं हो सकता। अभाव होना एक बात है और उसका संवेदन होना बिलकुल दूसरी बात है। समस्या होना एक बात है पर दुःख का सवेदन होना बिलकुल दूसरी बात है। ऐसा आदमी, जो हिमालय पर एक झोंपड़ी में बैठा है, पास में कोरा कंबल है और ताप के लिए धूनी है, बड़ा सुख का अनुभव करता है। एक आदमी जिसके पास बड़ा प्रासाद है और सारे सुख के साधन हैं, बाहर से सर्दी-गर्मी नहीं आ रही है पर भीतर में इतनी सर्दी और गर्मी है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं आता। प्रश्न है--दुःख कहां से आता है? दुःख है चंचलता में। जिसने अपनी चंचलता को कम कर दिया उसके लिए दुःख कम हो गए । जिसने चंचलता को कम नहीं किया, उसके लिए दुःख ही दुःख है । जब दुःख होता है और चित्त असमाहित होता है, विक्षिप्त होता है तब आदमी अनैतिक बन जाता है। दुःख कैसे मिटाएं? जिसको दुःख मान रखा है, उसे कैसे मिटाएं ? मनुष्य को बहुत धन चाहिए । चित्त में एक चंचलता पैदा हो गई कि धन कमाना है, समृद्ध बनना है पर प्रश्न है--कैसे बने ? पुरुषार्थ से तो जितना आता है उतना ही

आता है। तब जैसे-तैसे धनी बनने की एक भावना पैदा होती है विक्षिप्त चित्त के द्वारा । यह बिन्दु है, जहां से साधन-शुद्धि का विचार समाप्त हो जाता है। कोई साधन-शुद्धि नहीं रहती।

**लौकिक चित्त : लोकोत्तर चित्त**

हमारा चित्त दो प्रकार का है--लौकिक चित्त और लोकोत्तर चित्त। जो चित्त संज्ञा में फंसा हुआ होता है, संवेदन में उलझा हुआ होता है, वह है लौकिक चित्त। जो चित्त संज्ञाओं से दूर है, उनकी पकड़ से मुक्त है, वह है लोकोत्तर चित्त। जिसे लोकोत्तर चित्त का लाभ होता है, वह नोसंज्ञोपयुक्त बन जाता है । एक ही शक्ति दोनों में काम करती है। वही ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लौकिक चित्त के काम आती है और वही ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लोकोत्तर चित्त के काम आती है।

हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है । जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी । जहां मन जाएगा वहां प्राण जाएगा । यदि हमारा मन, हमारा चिन्तन कामकेन्द्र की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता रहे, वह पुष्ट होता है, फलता-फूलता है। जिसे सिंचन नहीं मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। यदि कामकेन्द्र की ओर हमारी ऊर्जा का प्रवाह मुड़ जाता है, हमारी सारी प्राणशक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है तब कामकेन्द्र बलवान् होता जाता है और ज्ञानकेन्द्र कमजोर होता जाता है। यह है लौकिक चित्त की प्रक्रिया।

लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है, कामकेन्द्र को सिंचन देता है, बलवान् बनाता है। मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है उतना तनाव किसी का भी नहीं होता । यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरन्तर रहने वाला तनाव है। क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है किन्तु काम की चेतना निरन्तर रहती है । जब हमारी चेतना कामकेन्द्र की ओर अधिक बहने जगती है तब सहज ही ज्ञानकेन्द्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं । साधना से इसे उलटना होता है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान का विकास चाहता है, अपनी शक्तियों का विकास चाहता है, निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा, चित्त को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

'ऊपर की ओर देखो ।' इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मोक्ष की ओर देखो । मोक्ष बहुत दूर है । इतने दूर क्यों जाएं ? निकट में देखें और मन की गति को मस्तिष्क की ओर कर दें । प्राण की धारा के प्रवाह को मोड़ दें । उसकी गति

को बदल दें । उसे ऊपर की ओर करें । ज्ञानकेन्द्र की ओर मोड़ें। इससे ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा । जब ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा तब ज्ञान पुष्ट होगा । साधना सहज रूप में सफल होती जाएगी । ज्ञानकेन्द्र पुष्ट तब होता है जब हमारी ऊर्जा ज्ञानकेन्द्र में प्रवाहित होती है । यह ऊर्जा जो ऊपर की ओर जाती है उसे, कुंडलिनी का जागरण कहें या विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि कहें, कुछ भी कहा जा सकता है। ज्ञान के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं । शक्ति के सारे स्र ोत मस्तिष्क में हैं । शक्ति स्रोतों के जागने का अर्थ है--लोकोत्तर चित्त का जागरण।

## सत्य की खोज : चित्त की स्थिरता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूकभाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता बढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूकभाव बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब वह लम्बे समय तक निरन्तर चले । देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए, चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकंप हो जाए । अनवस्थित, अव्यक्त और मृदु चित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नहीं कर सकता । पचास मिनट तक एक आलम्बन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए । यह सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है । लम्बे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप में पकड़कर उसे और प्रलंब बना देता है।

ध्यान सत्य को खोजने की प्रक्रिया है । जितने भी सत्य खोजे गए हैं, वे सब ध्यान के माध्यम से ही खोजे गए हैं । चंचल चित्त वाले व्यक्ति ने कभी किसी नये सत्य की खोज नहीं की । उसने तर्कों और विकल्पों के द्वारा सत्य को तोड़ा-मरोड़ा है । चंचल चित्त वाला व्यक्ति कभी सत्य को नहीं खोज सकता । जिसे सत्य खोजना है, उसे चित्त की स्थिरता और शांतता में प्रवेश करना ही पड़ेगा ।

## चित्त की स्थिरता : निरालंबन ध्यान

निरालंबन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है । एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार-शून्यता है । ध्यान के आरम्भ काल में किसी एक लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता होती है और अन्त में वह लक्ष्य छूट जाता है, केवल चित्त की स्थिरता रह जाती है । अनेक साधकों का यह अनुभव है कि सालम्बन ध्यान में योग्यता प्राप्त कर लेने पर निरालंबन ध्यान की योग्यता स्वयं प्राप्त हो जाती है ।

कुछ साधक भिन्न प्रकार से सोचते हैं । उनका चिन्तन है कि सालंबन ध्यान परावलम्बी ध्यान है। उनकी दृष्टि में उसकी उपयोगिता नहीं है । उनका मानना है-- प्रारम्भ से ही विचार-शून्यता का अभ्यास करना चाहिए।

विचार-शून्यता ध्यान की वास्तविक स्थिति है, इसमें कोई संदेह नहीं। सालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं, जबकि निरालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय के बीच में कोई भेद नहीं होता । सालम्बन ध्यान में चित्त वाह्य विषयों पर स्थित होता है जबकि निरालम्बन ध्यान में वह आत्मगत हो जाता है--जिस चैतन्य केन्द्र से वह प्रवाहित होता है, उसीमें जाकर विलीन हो जाता है । निरालम्बन ध्यान से आत्मा की आवृत और सुषुप्त शक्तियां जितनी जागृत होती हैं उतनी सालम्बन ध्यान से नहीं होतीं। सालम्बन ध्यान का प्रभाव मुख्य रूप से नाड़ी-संस्थान और चित्त पर होता है । निरालम्ब ध्यान का मुख्य प्रभाव चैतन्य केन्द्र पर होता है।

प्रश्न केवल क्षमता का है । यदि किसी व्यक्ति में निरालम्बन ध्यान की क्षमता सहज हो तो उसे सालम्बन ध्यान की अपेक्षा नहीं होगी किन्तु जो प्रारम्भ में निरालम्बन ध्यान न कर सके, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सालम्बन ध्यान द्वारा निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त करे।

**निरालम्बन ध्यान : पांच अंग**

निरालम्बन ध्यान की कुछ पद्धतियां हैं । उन्हें जान लेने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अंग है--प्रयत्न की शिथिलता । सालम्बन ध्यान में जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल किया जाता है, उसी प्रकार निरालम्बन-ध्यान में मन का प्रयत्न भी शिथिल कर दिया जाता है । निरालम्बन ध्यान वस्तुतः अप्रयत्न की स्थिति है ।

दूसरा अंग--निरभ्र आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाएं । थोड़े समय में चित्त विचारशून्य हो जाएगा ।

तीसरा अंग--केवल कुम्भक का अभ्यास करें । मन विचार-शून्य हो जाएगा।

चौथा अंग--मानसिक विचारों को समेटकर हृदय-चक्र की ओर ले जाएं। फिर गहराई में उतरने का अनुभव करें। ऐसा करते ही चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

पांचवां अंग--आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ़ कर उसके सान्निध्य का अनुभव करें। वह सहज शान्त और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतियां हैं, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ बनाया जा सकता है किन्तु उन सबमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है--अप्रयत्न-प्रयत्न का विसर्जन ।

# चेतना के स्तर

जब तक अन्तःकरण नहीं बदलता , आदमी भीतर से नहीं बदलता, तब तक बाहरी परिवर्तन हो जाने पर भी वहुत कुछ परिवर्तन नहीं होता ।

अपेक्षा इस बात की है कि आदमी भीतर से बदले, जो भीतर में है, उसे बदले। उसे यह बात समझ में आ जाए कि बुराई में ले जाने वाला, बुराई का आचरण कराने वाला जो है, वह भीतर रहने वाला काम और क्रोध है।

*इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।*
*एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनाम् ।।*

**बुराई : माध्यम**

आदमी के अन्तःकरण में रहने वाला काम बुराई कराता है पर उसके माध्यम क्या हैं ? गीता में उसके तीन माध्यम बतलाए गए हैं–इन्द्रियां, मन और बुद्धि । काम पैदा होता है इन्द्रियों में, मन और बुद्धि में। आदमी को बुराई में व्यापृत करने वाली ये तीन कामनाएं हैं–इन्द्रिय कामना, मानसिक कामना और बौद्धिक कामना। इन्द्रिय में कामना की एक तरंग उठती है और वह भान भूल जाता है । उसमें विवेक लुप्त हो जाता है । बड़े-बड़े साधक भी खाने की चीज के लिए लड़ पड़ते हैं। इसका कारण है कि उनमें इन्द्रिय की कामना छूटी नहीं है ।

**इन्द्रिय विषय : इन्द्रिय विकार**

दो बातें होती हैं–एक है इन्द्रिय का विषय और दूसरी है इन्द्रिय का विकार। दोनों भिन्न हैं । विषय छूट जाने पर भी विकार नहीं छूटता । रस या स्वाद का अनुभव करना–यह इन्द्रिय का विषय है। वस्तु मीठी है या कड़वी, सरस है या विरस-- यह जानना इन्द्रिय का विषय है । जब इसके साथ विकार जुड़ता है तब वस्तु मीठी या कड़वी, सरस या विरस नहीं रहती, वह अच्छी या बुरी बन जाती है, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट बन जाती है। जब अच्छी-बुरी की भावना अथवा स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट की भावना जागती है तब इन्द्रिय-विकार पैदा होता है। इन्द्रिय-विकार से ग्रस्त आदमी

मनोज्ञ वस्तु की प्रशंसा करते-करते नहीं अघाता और अमनोज्ञ वस्तु की निंदा भी उतनी ही मात्रा में करने लग जाता है।

यह सारा इन्द्रिय की कामना-तंरग के कारण होता है । कामना की तंरग फिर चाहे आंख की हो, जीभ की हो या कान की हो, तरंग उठते ही आदमी बेभान हो जाता है, विवेकशून्य हो जाता है, विवेक की चेतना लुप्त हो जाती है ।

काम इन्द्रियों में पैदा होता है। काम के साथ-साथ क्रोध आता है । यदि काम नहीं होता तो क्रोध भी नहीं होता ।

क्रोध पैदा होने का सबसे बड़ा कारण है काम । काम की पूर्ति में कोई बाधा आती है तो तत्काल गुस्सा आ जाता है । कामना की अपूर्ति की पहली प्रतिक्रिया है क्रोध। काम क्रोध को पैदा करता है ।

## बुद्धि : काम

कामना पहले इन्द्रिय में पैदा होती है । फिर वह मन पर उतर कर मानसिक बन जाती है । इन्द्रियों की कामना सीमित होती है, मानसिक कामनाएं असीम बन जाती हैं। इन्द्रियों का क्षेत्र छोटा है । मन का क्षेत्र बहुत बड़ा है इसलिए मानसिक कामनाओं का कहीं अन्त ही नजर नहीं आता, वह अनन्त बन जाता है । आंख देख सकती है पर एक सीमित क्षेत्र को । मन की कोई सीमा नहीं है । वह एक क्षण में विश्व में घूम कर आ सकता है । उसके लिए कुछ भी अगम्य नहीं है । समुद्र या पर्वत उसके बाधक नहीं बनते। उसके लिए गत्यवरोधक कोई पदार्थ है ही नहीं। वह अबाध संचरण कर सकता है ।

यदि बुद्धि चाहे तो उस पर रोक लगा सकती है। बुद्धि में शक्ति है कि वह चाहे तो मन को गतिमान् करे और न चाहे तो उसे स्थिर कर दे पर जब कामना बुद्धिगत हो जाती है तब वह अधिक जटिल बन जाती है।

## उच्छृंखलता का कारण

इन्द्रिय काम, मानसिक काम और बौद्धिक काम--ये तीनों हमारी वृत्तियों में उच्छृंखलता पैदा करते हैं। काम या कामना अपने आपे सामने नहीं आती । वह इन्द्रिय के माध्यम से, मन और बुद्धि के माध्यम से सामने आती है । उन तीनों को माध्यम बनाकर काम अपनी प्रवृत्ति करता है। जब तक यह काम नहीं बदलता तब तक समता की दृष्टि नहीं जागती।

प्रेक्षा का अर्थ है--अपने भीतर रहे हुए काम और क्रोध को देख लेना, जान लेना और यह अनुभव कर लेना कि जो कुछ भी अनिष्ट हो रहा है, वह सब

काम-वासना के कारण हो रहा है ।

फ्रायड ने कहा–हमारी सारी प्रवृत्तियों का मूल है–सेक्स या काम । सेक्स केवल काम का ही वाचक नहीं है। वह मनुष्य की समस्त वृत्तियों और प्रवृत्तियों का वाचक है । इस आधार पर कहा जा सकता है कि काम ही सब कुछ करा रहा है। यदि यह काम की इच्छा न हो तो आदमी की अन्यान्य इच्छाएं सिमट जाएंगी।

## तीन चेतनाएं

हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं । उनमें सबसे स्थूल स्तर है इन्द्रिय । उससे सूक्ष्म है मन । उससे सूक्ष्म है बुद्धि और उससे सूक्ष्म है अध्यवसाय । इस प्रकार स्तर असंख्य हो सकते हैं । इतने स्तर हैं कि जिनका नामकरण नहीं किया जा सकता। चेतना के इन अनेक स्तरों में से हम गुजरते हैं और अनेक स्तरों में हम जीते हैं।

तीन प्रकार की चेतनाएं हैं- इन्द्रिय-चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक चेतना । आदमी इन तीनों को काम में लेता है और इन तीनों पर पूरा विश्वास करता है । अनुभव की बात यह है कि ये तीनों चेतनाएं मनुष्य को उलझाती हैं, सुलझाती नहीं। इन्द्रिय चेतना का जागरण होने पर आसक्ति का जागरण होता है, वैराग्य का भाव दब जाता है । आदमी इंद्रिय चेतना को काम में ले पर उस पर भरोसा न करे । यही बात मनश्चेतना के विषय में है। मन चंचल है, नटखट है । उस पर पूरा भरोसा करने पर वह धोखा दे जाता है। आदमी बुद्धि की चेतना से काम करता है। वह तर्क का व्यवहार करता है पर तर्क भीतर तक नहीं पहुंचता । वह आदमी को उलझा देता है। यह इस दुनिया का सबसे सक्षम शस्त्र है । इससे बड़े-बड़े शस्त्र काटे जा सकते हैं । तर्क हर बात को काट सकता है फिर वह बात चाहे किसी के द्वारा ही क्यों न कही गई हो । ऐसे बौद्धिक प्रश्न सामने आते हैं जहां हार-जीत का प्रश्न होता है। बुद्धि आखिर बुद्धि है। जो बुद्धि के व्यायाम में निपुण है वह जीत जाता है और जो उस खेल में निपुण नहीं है, वह हार जाता है । आदमी व्यवहार की दुनिया में बुद्धि के सहारे जीत सकता है पर वह सचाई तक नही पहुंच सकता।

## चेतना के अनेक स्तर

सुख-दुःख के प्रति हमारा दृष्टिकोण मिथ्या होता है, हमारा मन इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षित होता है–यह हमारी सुषुप्ति-स्तरीय चेतना है। हमारा मन पदार्थ तथा हाथ की अंगुलियों आंखों और वाणी के साथ बाहर आने वाली विद्युत् से सम्मोहित होता है–यह हमारी भावना-स्तरीय चेतना है।

हमारा मन पदार्थ और व्यक्ति के साथ चिंतनपूर्वक संबंध स्थापित करता है। हेय को छोड़ने और उपादेय को स्वीकार करने की बात हम जानते हैं पर भावना से प्राप्त सम्मोहन से मुक्त हुए बिना क्या यह संभव हो सकता है ? भले न हो, फिर भी हम स्वतन्त्र चिन्तन का उपक्रम करते हैं–यह हमारी विचार-स्तरीय चेतना है ।

हम पदार्थ के बाहरी स्वरूप को देखकर ही संतुष्ट नहीं होते, उसके आंतरिक या सूक्ष्म स्वरूप तक जाने का प्रयत्न करते हैं–यह हमारी दर्शन-स्तरीय चेतना है। प्रेक्षा के द्वारा हम सुषुप्ति को जागरूकता में बदलकर दर्शन शक्ति को अन्तदर्शन की भूमिका पर ले जाते हैं ।

## अनुभव चेतना

अनुभव की चेतना जागती है तब इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा जो प्राप्त होता है उसमें कुछ सार नहीं लगता । जब तक अनुभव की चेतना नहीं जागती तब तक आदमी आंख,कान,जीभ द्वारा प्राप्त संवेदनों को ही सारभूत मानता है । उसकी दृढ़ धारणा बन जाती है कि इन्द्रियों द्वारा जो उपलब्ध होता है, वही सार है । मन के द्वारा जो उपलब्ध होता है, वही सार है। जब आदमी इन सब भूमिकाओं को पार कर जाता है तब उसे लगता है कि जिसे वह सार मान रहा था, वह वास्तव में सारहीन है और जो सार है, वह भीतर में पड़ा है। यह जागरण दो प्रकार से हो सकता है–स्वभाव से या अभ्यास से--निसर्गाद् वा अधिगमाद् वा ।' अचानक भी ऐसी घटना घटित हो सकती है, कोई संवेग-दर्शन हो सकता है कि व्यक्ति में अनुभव की चेतना जागृत हो जाती है। अभ्यास के द्वारा भी इसका जागरण किया जा सकता है। किसी प्रबुद्ध व्यक्ति से सुनकर या स्वयं में विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी यह जागरण हो सकता है । जब यह जागरण होता है तब बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण कर साधक आन्तरिक सीमा में प्रवेश पा जाता है।

## द्वंद्व चेतना : द्वंद्वातीत चेतना

दो प्रकार की चेतनाएं हैं- -द्वंद्व चेतना और द्वन्द्वातीत चेतना। अनेक व्यक्तियों में शक्तियां जागृत हो जाती हैं किन्तु यदि शक्ति के बाद द्वंद्वातीत चेतना नहीं जागती, सारी चेतना द्वन्द्व में बद्ध होती है, तब उस स्थिति में भयंकर समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शक्ति के जागने के बाद उसे झेलने के लिए द्वंद्वों से अतीत चेतना आवश्यक होती है। उसके बिना जागी हुई शक्ति से अनर्थ घटित हो सकता है। भूतों को वश में करने वाले जानते हैं कि जब भूत जागते हैं तब बलि की मांग करते हैं। यदि उस समय भूत-साधक घबड़ा जाता है, वह स्थिति को नहीं संभाल पाता है तो

जागा हुआ भूत उसे ही लील जाता है। यदि वह व्यक्ति भूत की मांग पूरी कर देता है तो वह भूत उसके वश में हो जाता है । यही बात शक्ति-जागरण में घटित होती है। शक्ति-जागरण हो जाने पर व्यक्ति जागृत शक्ति की मांगें पूरी कर देता है तो वह शक्ति उसके लिए बहुत उपयोगी हो जाती है । यदि वह उसकी मांगें पूरी नहीं कर पाता है तो वह जागी हुई शक्ति उसके लिए शाप बन जाती है। यदि शक्ति जागृत करने वाला व्यक्ति द्वंद्व की चेतना में ही है तो वह हर्ष और शोक के झूले में झूलता रहेगा। हर्ष होगा तो भी तीव्र होगा और शोक होगा तो भी तीव्र होगा। शक्ति-जागरण के कारण भिन्नता आएगी किन्तु हर्ष और शोक से परे की स्थिति में वह नहीं जा पाएगा। वह शक्ति द्वन्द्व को ही बढ़ायेगी, घटायेगी नहीं।

द्वंद्व-चेतना आवेगों के लिए उर्वर भूमि है, जहां सारे आवेग अंकुरित होते हैं। जितनी उत्तेजनाएं हैं, वे सारी तनाव की स्थिति में पैदा होती हैं । जब व्यक्ति में तनाव नहीं होता तब आवेग नहीं आ सकता, उत्तेजना नहीं आ सकती, वासना का उभार नहीं हो सकता । ये सब तब आते हैं जब तनाव की स्थिति होती है । तनाव इनका जनक है। प्रत्येक संस्कार पहले तनाव पैदा करता है। तनाव पैदा किए बिना कोई भी संस्कार नहीं उभरता ।

द्वन्द्व-चेतना तनाव उत्पन्न करती है। जब तनाव होता है तब मानसिक रोग और मानसिक विकार उभरते हैं । वे धीरे-धीरे संचित होते जाते हैं और एक बिन्दु ऐसा आता है कि मानसिक विकार मानसिक पागलपन के रूप में बदल जाता है। आज मानसिक विकारों और मानसिक पागलपन को बढ़ाने के लिए बहुत अवकाश है, सुविधाएं हैं । वर्तमान जगत् में मानसिक विकारों और मानसिक उन्मादों की जितनी भयंकर स्थिति है संभवतः अतीत में वैसी नहीं रही होगी। आज उनका समाधान, उनकी चिकित्सा असंभव-सी प्रतीत हो रही है ।

### समस्या मुक्ति का मार्ग

द्वन्द्व-चेतना समस्याओं की जननी है । जब तक द्वंद्व-चेतना है तब तक ज्ञान, दर्शन और शुद्ध शक्ति का उपयोग कार्यकर नहीं होता । मूर्च्छा उत्पादक केन्द्र है । वह आवेग को उत्पन्न करती है, द्वन्द्व को उत्पन्न करती है । इस स्थिति में ज्ञान, दर्शन और शक्ति के होने पर भी दुःख समाप्त नहीं होता । यदि दुःख को समाप्त करना है तो द्वंद्व-चेतना को समाप्त करना होगा ।

कोई भी मनुष्य समस्या नहीं चाहता, दुःख नहीं चाहता । यही एक प्रेरणा है द्वंद्व-चेतना को समाप्त करने की। जब तक द्वन्द्व-चेतना होगी तब तक दुःख निश्चित ही होंगे । समस्याओं और दुःखों से छुट्टी पाने का एक ही उपाय है और वह है

द्वंद्व-चेतना का समापन।

### अभौतिकता की चाह

द्वन्द्व-चेतना के समापन का एक और हेतु है। मनुष्य सोचता है कि द्वंद्व-चेतना के परे भी कोई निर्द्वंद्व चेतना हो, जो मनुष्य को पूर्णता दे सके, अपूर्णता समाप्त कर सके। यह अभौतिकता की चाह जो अन्तर में होती है, उसे समझने का मौका मिल जाता है।

अभौतिक सत्ता की चाह, चेतन तत्त्व की चाह, जिसका हमें जीवन की चका-चौंध में, अन्धेरे में पता ही नहीं लगता था किन्तु जहां भौतिक पदार्थों का सेवन करते-करते जीवन में घोर अन्धेरा छा जाता है तब पता चलता है कि भीतर में एक और भी चाह है, जो उन चाहों से बहुत बड़ी चाह है । वह चाह ही इस सचाई को प्रकट करती है कि द्वंद्व-चेतना से परे भी मनुष्य निर्द्वंद्व-चेतना को चाहता है । इस द्वंद्वातीत चेतना का नाम है–सामायिक । सामायिक के घटित होने पर मन की गति पर एक अंकुश लग जाता है । जब मन की गति पर अंकुश होता है तब समस्याएं समाप्त होने लगती हैं । उस स्थिति में समस्यामुक्त, दुःखमुक्त, जीवन का अभ्यास प्रारंभ हो जाता है।

### ज्ञान और वेदना स्तरीय चेतना

हमारी चेतना के दो स्तर होते हैं। एक होता है ज्ञान का स्तर और एक होता है वेदना (वृत्ति या संज्ञा) का स्तर । अज्ञानी आदमी वेदना के स्तर पर जीता है और ज्ञानी आदमी ज्ञान के स्तर पर जीता है । जानना ज्ञानी आदमी काम है । क्या घटित हो रहा है, उस तत्त्व को जानना ज्ञानी का काम है। ज्ञानी दुनिया में आंख मूंदकर नहीं चलता । वह सब कुछ जानता है और जान कर चलता है किन्तु वेदन नहीं करता–यह है ज्ञान की स्थिति । दूसरी है वेदन की स्थिति । अज्ञानी आदमी जानता कम है या नहीं जानता किन्तु वेदन करता है । वेदना के स्तर पर जीता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने देखा–नाटक हो रहा है पर उनके मन में कोई संवेदना नहीं हुई। नाटक होता रहा और उनका काम चलता रहा । जान लिया पर वेदना के प्रवाह में वे नहीं बहे। प्रवाह-पाती चेतना वेदना का हेतु है । बहुत सारे लोग सोचते हैं कि जो काम सब लोग कर रहे हैं, उसमें फिर मुझे क्या कठिनाई है। काम करने की कोई जरूरत नहीं है पर वह सोचता है कि जब सब कर रहे हैं तब मैं अकेला बचकर क्या करूंगा ? बहुत सारे लोग इसी भाषा में सोचते हैं कि जिसे सब करें, वह काम कर लेना चाहिए। कोई जरूरत नहीं सोचने और विचारने की। यह होती है प्रवाहपाती

चेतना । एक होती है लोकसंज्ञा–लोकानुकरण, जो अनुकरण के आधार पर किया जाता है, लौकिक मान्यताओं के आधार पर किया जाता है । बहुत सारी ऐसी लौकिक मान्यताएं होती हैं, जिनके आधार पर हमारी चेतना का निर्माण होता है और हम काम करते चले जाते हैं।

## कसौटी

'थावच्चापुत्र' के पड़ोस में बच्चे का जन्म हुआ, एक सुनहला अवसर आया, गीत गाये जाने लगे । 'थावच्चापुत्र' प्रफुल्ल हो गया, खिल उठा । कुछ समय बाद उस नवजात शिशु की मृत्यु हो गई, करुण क्रन्दन और चीत्कार होने लगा। थावच्चापुत्र का मन रुआंसा हो गया।

हम बहुत सारे प्रभावों को ग्रहण करते हैं और तभी ग्रहण करते हैं जब हम वृत्ति के स्तर पर, वेदना की चेतना के स्तर पर जीते हैं । हम एक कसौटी अपने हाथ में रखें । मन पर अगर दूसरी स्थितियों का प्रभाव होता है, सामने जैसा घटित होता है, उसका प्रभाव होता है तो मानना चाहिए-- हम वेदना का जीवन जी रहे हैं। यदि सामने घटित होने वाली घटनाएं हमें प्रभावित नहीं करती हैं तो मानना चाहिए--हम ज्ञान का जीवन जी रहे हैं ।

## ध्यान और अलौकिक चेतना

साधना के संदर्भ में दो चेतनाओं का विमर्श आवश्यक होता है । एक है लौकिक चेतना और दूसरी है अलौकिक चेतना। जो व्यक्ति अपने भीतर नहीं झांकता, उसकी चेतना लौकिक होती है । जिस व्यक्ति ने अपने भीतर देखना शुरू कर दिया, उसमें अलौकिक चेतना का जागरण प्रारम्भ हो जाता है । ध्यान के द्वारा अलौकिक चेतना का विकास होता है।

प्रश्न होता है--क्या है लौकिक चेतना और क्या है अलौकिक चेतना? ध्यान के प्रसंग में उसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि जो प्रतिक्रियात्मक चेतना है, वह है लौकिक चेतना और जो प्रतिक्रिया मुक्त या क्रियात्मक चेतना है, वह है अलौकिक चेतना । प्रतिक्रियात्मक चेतना वाला व्यक्ति प्रवाहपाती होता है । वह प्रवाह के पीछे-पीछे चलता है ।

## व्यवहार है प्रतिक्रियात्मक

आदमी में भाव बनते हैं, बदलते हैं, फिर बनते हैं, फिर बदलते हैं । एक स्थिति आती है और आदमी हंसने लग जाता है, दूसरी स्थिति आती है और आदमी रोने लग जाता है । एक स्थिति में आदमी क्रोध से लाल-पीला हो जाता है, दूसरी

स्थिति में वह प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है । यह सारा व्यवहार अहेतुक नहीं होता। इन विभिन्न व्यवहारों के भाव हमारे भीतर बने हुए हैं । एक त्रिपदी है–व्यवहार, व्यवहार की पृष्ठभूमि में भाव और भाव के पीछे लौकिक चेतना । यह एक चक्र है । अमुक प्रकार की वस्तु सामने आए तो अमुक भाव जागेगा और अमुक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक व्यवहार होगा । सारा जीवन इसी व्यवहार से भरा पड़ा है । यह लौकिक चेतना का परिणाम है । इसका तात्पर्य है–सामने जो भी आए, उसी में बह जाना, उसे स्वीकार कर लेना ।

## प्रतिक्रिया मुक्त है अलौकिक चेतना

अलौकिक चेतना का अर्थ है–प्रतिक्रियामुक्त चेतना । यह लोकोत्तर चेतना है। इसका जागरण होने पर प्रतिक्रिया नहीं होती।

जब अलौकिक चेतना जागती है तब सारे मानवीय मूल्य बदल जाते हैं

लौकिक चेतना में राग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । राग का तात्पर्य है पदार्थ में सुख की खोज। अलौकिक चेतना का जागरण होते ही राग का स्थान विराग ले लेता है। विराग का तात्पर्य है–अपने भीतर सुख की खोज ।

लौकिक चेतना में भोग सम्मत है । भोग का अर्थ है–इन्द्रिय के स्तर पर जीना। अलौकिक चेतना को जीने वाला इन्द्रिय संवेदनों से ऊपर उठकर जीता है। उसके लिए त्याग एक जीवन-मूल्य बन जाता है ।

लौकिक चेतना में क्रोध की आवश्यकता को नहीं नकारा गया। प्रशासन के लिए अथवा कर्मचारियों से काम लेने के लिए क्रोध एक आवश्यक तत्त्व है। अलौकिक चेतना में प्रशासन की अवधारणा बदल जाती है । क्रोध के स्थान पर क्षमा आसीन हो जाती है ।

लौकिक चेतना में प्रतिक्रिया भी सम्मत है। प्रतिक्रिया न करने वाला दब्बू या कायर माना जाता है । अलौकिक चेतना में जानने और देखने की क्षमता बढ़ जाती है । जो जानता-देखता है, वह घटना को भोगता नहीं है। उसे न भोगना ही सहिष्णुता है ।

## अलौकिक चेतना : संतुलन का सूत्र

लौकिक चेतना में प्रवृत्ति की बहुलता है । उससे असंतुलन पैदा हो जाता है। प्रवृत्ति और तनाव–इन दोनों में निकट का संबंध है । अलौकिक चेतना जागती है, प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन बन जाता है । प्रवृत्ति के क्षण में अनुकंपी (सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम ) नाड़ी-संस्थान सक्रिय हो जाता है। जप के द्वारा परानुकंपी

(पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम ) नाड़ी-संस्थान को सक्रिय बनाकर दोनों में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

लौकिक चेतना में राग और द्वेष के लिए अवकाश है इसलिए उसे पक्षपात से मुक्त नहीं देखा जा सकता। अलौकिक चेतना में समता का विकास होता है । तटस्थता उसकी सहज निष्पत्ति है।

## जरूरी है दोनों का योग

लौकिक चेतना में मनुष्य बाहर की ओर फैलता जाता है। बाहर की ओर फैलने का अर्थ है--बंधते जाना । जो मनुष्य जितना बाहर की ओर जाता है, उतना ही अपने को समस्या से घिरा हुआ पाता है । अलौकिक चेतना का विकास अपने आपको देखने का विकास है । यह उपाय है समस्या से मुक्त होने का ।

लौकिक चेतना के बिना जीवन यात्रा नहीं चलती इसलिए उसे छोड़ देने की बात नहीं कही जा सकती । अलौकिक चेतना के बिना शान्तिपूर्ण और आनन्दपूर्ण जीवन नहीं जीया जा सकता इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जरूरी है --लौकिक चेतना के साथ अलौकिक चेतना का योग। उसके लिए जरूरी है अपनी प्रेक्षा, अपने आप को देखने का अभ्यास ।

## चैतन्यानुभव : अभ्यास-क्रम

चिन्तन और अन्तर्-दर्शन--मन की ये दोनों क्रियाएं जहां समाप्त हो जाती हैं, मन स्वयं समाप्त हो जाता है, वहां शुद्ध चैतन्य का अनुभव प्रकट होता है। यह वीतराग चेतना का अनुभव है । उसे समाधि भी कहा जा सकता है । उस साधना में अतीत और भविष्य समाप्त हो जाते हैं, केवल वर्तमान क्षण का अनुभव रहता है। वर्तमान का अनुभव दीर्घकाल तक चलता है, वही ध्यान हो जाता है और दीर्घकाल ध्यान ही समाधि हो जाती है । स्थिर और सुख आसन में बैठे, वर्तमान के संवेदनों या प्रकंपनों को पकड़ें, दृढ़तापूर्वक उसे पकड़े रहें। उस अभ्यास से ध्यान की स्थिति बन जायेगी। लम्बे समय तक सधे हुए ध्यान में मन विलीन हो जाता है। मन के विलीन होने पर इन्द्रियां अपने-आप शान्त हो जाती हैं। इन्द्रिय और मन के स्रोत रुक जाने पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव शेष रहता है । यह निरालंबन ध्यान है । एकाग्रता या मानसिक ध्यान में कोई-न-कोई आलंबन बना रहता है, फिर वह स्थूल हो या सूक्ष्म। निरालंबन ध्यान में केवल चैतन्य का अनुभव रहता है इसलिए कोई आलंबन नहीं होता । जैन आचार्यों ने इसे नैश्चयिक (वास्तविक) ध्यान कहा है । सालंबन या एकाग्रता का ध्यान व्यावहारिक ध्यान है। निरालंबन ध्यान की स्थिति प्राप्त होने पर

ध्यान का प्रयत्न नहीं करना होता, वह अप्रयत्न से होता है । एकाग्रता का ध्यान उस तक पहुंचाने के लिए है। इन्द्रिय, मन और कषाय-चेतना के प्रकंपन जैसे-जैसे शान्त या क्षीण होते हैं वैसे-वैसे निरालंबन ध्यान की ओर चरण आगे बढ़ते हैं ।

## निर्विचार ध्यान

निर्विचार ध्यान का अर्थ ही है स्वभाव में ठहर जाना, अपने में स्थिर हो जाना, अपनी प्रकृति में ठहर जाना, अपनी मूल चेतना में ठहर जाना । कोरा ज्ञान होना, और कुछ भी नहीं होना । कोरा ज्ञान होना ही निर्विचार है । वहां विचार नहीं, केवल दर्शन है, केवल बोध है । हम भी केवल ज्ञानी हो सकते हैं । जहां भी मन का विचरण बंद हुआ, मन आत्मा में लीन हुआ, कोरी चेतना का व्यापार शुरू हुआ और हम केवल ज्ञानी हो गए । केवल ज्ञान का मतलब है शुद्ध ज्ञान, कोरा ज्ञान, ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

शुद्ध चेतना या निर्विचार ध्यान की कसौटी है सुख-दुःख में सम हो जाना । आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि शुद्ध चेतना के आने पर साधक सुख और दुःख में समान हो जाता है ।

जहां शुद्धता होती है वहां कोई विकार नहीं होता । जहां शुद्ध चेतना होती है वहां सबके लिए स्थान हो सकता है किन्तु अशुद्ध चेतना में सबके लिए स्थान नहीं हो सकता । भगवान् शुद्ध हैं। शुद्ध के जगत् में सब कुछ समा सकता है । अच्छा हो, बुरा हो, गंदा हो, साफ-सुथरा हो, सुघड़ हो, बेडौल हो, कैसा भी हो, सब कुछ समा सकता है । अशुद्धता में सब नहीं समा सकता । वहां सीमाएं हैं । इतना जानो, इतना देखो, इतना अनुभव करो—ये सीमाएं हैं। शुद्धता में सब सीमाएं समाप्त हो जाती हैं । सब कुछ निस्सीम हो जाता है । जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, उस स्थिति में चाहे दुर्जन हो या सज्जन, बुरा हो या अच्छा, कैसा भी हो, कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती ।

जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना की स्थिति का, शुद्ध उपयोग की स्थिति का इतना दृढ़ अभ्यास कर लिया , वह निश्चित ही उस स्थिति में पहुंच जाएगा, जिस स्थिति में पहुंचने पर मोक्ष है या नहीं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा की स्थिति में सुख है या नहीं—ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाएंगे, समाहित हो जाएंगे।

# चेतना का वर्गीकरण

## चेतना के विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है । उसके प्रकाश–चेतना के दो रूप बनते हैं–आवृत और अनावृत । अनावृत-चेतना अखण्ड, एक, विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है । कर्म से आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं । उसका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है । वह अनन्त प्रकार का होता है इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं--मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव।

मति--इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान--वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत---शास्त्र और परोपदेश–शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानस-ज्ञान।

अवधि--इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान

मनःपर्यव--पर-चित्त ज्ञान ।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष । ज्ञान स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही होता है । बाह्यर्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष–इन दो धाराओं में बंट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष ।

## प्रकाश-स्वभाव है आत्मा

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए किन्तु चेतना का आवरण बलवान् होता है तब वह हुए बिना नहीं रहती। मति-ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है । श्रुत-ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं ।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को

जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भींत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नहीं बनते ।

मनःपर्यव ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है। समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उस चिन्तन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं । इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं जान सकते । इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है । परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देख कर अन्तर्वर्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है । मनःपर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है।

**मनःपर्यवज्ञान**

मनःपर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है । वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है किन्तु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता । इसका कारण यह है--पदार्थ दो प्रकार के होते हैं--मूर्त और अमूर्त। पुद्गल मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त । अनावृत चेतना को ही इन दोनों का साक्षत्कार होता है । आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मनःपर्यव ज्ञान आवृत चेतना का एक विभाग है इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता । वह आत्मिक-मन के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है । मानसिक विचार और उसकी आकृतियों के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है । इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं । फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है । कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनःपर्याय ज्ञान का विषय नहीं है। इसका विषय है मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानना । उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता इसलिए यह आत्मप्रत्यक्ष ही है। मनःपर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों (ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों) को अनुमान से जानता है वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है।

**सोपाधिक चेतना : निरुपाधिक चेतना**

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय (क्षय) होने पर चेतना निरुपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है तब उसमें अनन्त गुण तरतमभाव रहता है । उसके वर्गीकृत भेद चार हैं—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव । उनमें भी अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है । यही स्थिति शेष तीनों की है ।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति--उपयोग सब विषयों पर निरन्तर होता रहता है।

सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति–उपयोग निरन्तर नहीं रहता । जिस विषय पर जब ध्यान होता है–चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है । प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है । निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है इसलिए वह निरंतर प्रवृत्ति होती है उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती । सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिए वह सब विषयों को निरन्तर नहीं जानती, जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसी को जानती है।

## सोपाधिक चेतना के दो रूप

सोपाधिक चेतना के दो रूप–अवधि–मूर्त पदार्थ-ज्ञान और मनःपर्यव–पर-चित्त-ज्ञान विशद और बाह्य सामग्री-निरपेक्ष होते हैं इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय-विपर्यय-दोष से मुक्त होते हैं ।

ऐन्द्रियक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य-सामग्री-सापेक्ष होते हैं इसलिए ये व्यक्त, क्रमिक और संशय-विपर्यय-दोष से युक्त भी होते हैं। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है । ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया रहता है। चेतना का सीमित विकास–जानने की आंशिक योग्यता (क्षायोपशमिक-भाव) होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नहीं होता तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है । पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है, पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है । उदाहरण के लिए समझिए–पानी पर शैवाल बिछा हुआ है । कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रकट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है। ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

## शरीर और चेतना का पारस्परिक प्रभाव

आत्मा अमूर्त है, उसको हम देख नहीं सकते । शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती हैं । उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर वल्ब । ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है । उसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्त) नहीं होता । इसलिए कहा गया है–'द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते'–अर्थात् संसारी-आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से

होता है । हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलों का द्रव्य-मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है । मन-रूप में परिणत हुए अनिष्ट-पुद्गलों से शरीर की हानि होती है और मन-रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ पहुंचता है । इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है । यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्गलों के द्वारा ही होता है तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं । देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आंख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है । रोग की चिकित्सा की और दिखने लग जाता है। यही बात मस्तिष्क और मन के बारे में है।

### बुद्धि और मन

आंख के गोले के बिना कोई देख नहीं सकता, फिर भी उस गोलक की क्रिया को ही देखने की क्रिया नहीं कहा जा सकता । वैसे ही मस्तिष्क के बिना मनन की क्रिया नहीं होती, फिर भी मस्तिष्क ही मन नहीं है । आंख का गोला देखने में सहयोग करता है, वैसे ही मस्तिष्क मनन में सहायक है । चैतन्य का विकास और मस्तिष्क-रचना– दोनों के समुचित योग से ही मानसिक क्रिया निष्पन्न होती है।

मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्दियों के स्पर्श आदि पांच विषय हैं। इन विषयों में सारी वस्तुएं समाविष्ट हैं। इन्द्रियों के द्वारा हम हर वस्तु को और उसके स्थूल रूपों को पकड़ते हैं। शीत और उष्ण के स्पर्श से वस्तु का ज्ञान होता है। आम के रस के स्वाद से हम आम को पहचान लेते हैं। रस ही आम नहीं है। उसमें रूप भी है पर हम इसके द्वारा उसको पहचान लेते हैं। गंध के द्वारा भी बाह्य-जगत् से हमारा सम्पर्क होता है । रूप और संस्थान भी संपर्क के माध्यम हैं। शब्द के माध्यम से भी हमारा बाह्य-जगत् से संबन्ध जुड़ता है। मन का बाह्य जगत् से सीधा सम्पर्क नहीं होता । वह इन्द्रियों के माध्यम से होता है।

बुद्धि और मन में भेद क्या है ? बुद्धि और मन एक ही चेतना के तरतम रूप हैं। सूर्य एक है पर उसका प्रकाश खण्ड-खण्ड होकर खिड़की आदि अनेक द्वारों से आता है। उनसे अनेक द्वारों के अनेक रूप बन जाते हैं। वर्षा का एक ही जल तालाब, गड्डे और समुद्र में जाकर भिन्न-भिन्न रूप ले लेता है। जयाचार्य ने लिखा-- एक चौकी रेत में दब गई । कहीं से खोदा तो उसका एक कोना दिखाई दिया। दूसरी

ओर खोदने से दूसरा कोना दिखाई दिया । तीसरे और चौथे कोने से खोदा, चार वस्तु बन गई। पूरी खुदाई से वह एक अखण्ड चौकी हो गई । वैसे ही हमारी चेतना का जितना आवरण हटता है, वहां उसका रूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। बुद्धि, इन्द्रिय और मन एक ही चेतना के तरतम रूप हैं।

बुद्धि मन से अलग वस्तु है । मन इन्द्रियों की सहायता से अपना कार्य करता है। बुद्धि मन की सहायता से अपना कार्य करती है। हम पुस्तकों को पढ़कर या सुनकर जानते हैं, वह विद्या है, बुद्धि नहीं है । बुद्धि सहजात होती है। मानस-शास्त्रियों ने भी यह स्वीकार किया है कि बुद्धि जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। बाद में उसका विकास नहीं होता । साधारणतया हम कहते हैं कि बुद्धि का विकास हो गया किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से यह बात सही नहीं है। बुद्धि का कभी विकास नहीं होता। जन्म-काल में जितनी बुद्धि होती है उतनी ही रहती है । वह न घटती है और न बढ़ती है। विद्या का विकास होता है । वह बाहर से आती है। बुद्धि बाहर से नहीं आती ।

निर्णय करना, विवेक करना बुद्धि का काम है। एक आदमी बिलकुल ही पढ़ा-लिखा नहीं होता, फिर भी सही निर्णय लेता है और ढ़ंग से काम करता है । वह ऐसा बुद्धि के द्वारा करता है । वह विद्यावान् नहीं है किन्तु बुद्धिमान् है । बुद्धि का चमत्कार विद्या से बहुत अधिक है । बुद्धि के उच्चस्तर को हम प्रातिभ-ज्ञान भी कह सकते हैं । जिसे हमने कभी सुना नहीं, जाना नहीं, ऐसी वस्तु हमारे सामने आ गयी, उसके बारे में बुद्धि निर्णय ले सकती है, उसका विश्लेषण कर सकती है । उसमें ऐसी क्षमता है । मन का काम इन्द्रियों के द्वारा जो प्राप्त होता है, उसका संकलन और विश्लेषण करना मात्र है । किन्तु जो नया ज्ञान उत्पन्न होता है वह सारा का सारा बुद्धि के द्वारा होता है। इन्द्रिय स्तर की चेतना से अधिक समर्थ मानस-स्तर की चेतना है और उससे अधिक समर्थ बौद्धिक-स्तर की चेतना है । यह इन्द्रिय-स्तर और अतीन्द्रिय-स्तर का मध्यवर्ती चेतना का स्तर है।

### इन्द्रिय चेतना

हमारी चेतना सूर्य की भांति अखण्ड है। वह अनावृत होती है तब उसके प्रकाश में कोई अवरोध नहीं होता । उसकी क्षमता का कोई विभाजन नहीं होता । हमारी चेतना अनावृत नहीं है इसलिए वह सर्वात्मना प्रकट नहीं हो रही है । उसकी कुछ रश्मियां प्रकट हो रही हैं और वे भी किसी माध्यम से प्रकट नहीं होतीं अपने आप प्रकट होती हैं । आवृत चेतना के प्रकट होने का एक माध्यम है —इन्द्रिय । आंख, कान, नाक, जिस्वा और त्वचा—इन पांचों इंद्रियों के माध्यम से जो चेतना प्रकट होती

है वह इन्द्रिय-स्तर की चेतना है। यह वास्तव में चेतना का स्तर नहीं है, चेतना के प्रकट होने का स्तर है । व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से उसे इन्द्रियस्तर की चेतना कहा जा सकता है।

**मानस चेतना**

आवृत चेतना के प्रकट होने का दूसरा माध्यम है मन । मस्तिष्क के माध्यम से जो चेतना प्रकट होती है, वह मन के स्तर की चेतना है । मन अपने आपमें अचेतन है । वह मस्तिष्क की क्रिया है किन्तु उसके माध्यम से जो चेतना प्रकट होती है, वह मानसिक चेतना है । इन्द्रिय-स्तर की चेतना में भी मस्तिष्क माध्यम होता है किन्तु इन्द्रियों के पृथक् -पृथक् केन्द्र बने हुए हैं। दूसरे में वह मस्तिष्क का एक छोटा कार्य है। इन्द्रियों के स्तर पर जो चेतना प्रकट होती है वह केवल वर्तमान को पकड़ती है, वर्तमान को जानती है आंख के सामने कोई रूप आया, आंख ने देख लिया । उसका काम समाप्त हो गया । आगे क्या है, पीछे क्या है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । कान में शब्द पड़ा, सुन लिया । उस शब्द का क्या अर्थ है? उस शब्द के बारे में क्या सोचना है ? यह कान का काम नहीं है। इन्द्रियों के माध्यम से प्राथमिक स्तर की चेतना प्रकट-होती है इसलिए उसमें वर्तमान को जानने की ही क्षमता होती है। मन के स्तर पर प्रकट होने वाली चेतना में त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है । वह वर्तमान को जानती है, अतीत का स्मरण करती है और भविष्य की कल्पना करती है । इंद्रिय-ज्ञान की जो क्रिया है, उसकी प्रतिक्रिया मानसिक ज्ञान की चेतना में होती है । मन इंद्रियों के ज्ञान का संश्लेषण और विश्लेषण करता है।

**मस्तिष्क और मन**

मस्तिष्क में स्मृति या संस्कार का बहुत बड़ा संग्रह है । इन्द्रियां जो ग्रहण करती हैं, वह मस्तिष्क में संगृहीत हो जाता है । योग की भाषा में उसे हम वृत्ति या संस्कार और मनोविज्ञान की भाषा में उसे अक्षय संचय कोष कह सकते हैं । जब-जब बाह्य उत्तेजनाएं मिलती हैं तब-तब प्रतिघात होता है । हमने एक व्यक्ति को पहले देखा । वह स्मृति में नहीं रहा । दस वर्ष बाद जैसे ही वह व्यक्ति सामने आया वैसे ही हमारे स्मृति-तंत्र पर प्रतिघात हुआ। स्मृति जागृत हो गयी । हमने उस व्यक्ति को पहचान लिया। यह प्रतिक्रिया प्रतिघात के कारण हुई किन्तु उसका संस्कार मस्तिष्क के संचय-कोष में संचित था। जो संचित था, वह उत्तेजना मिलते ही उत्तेजित हो गया, मन की क्रिया उत्पन्न हो गई।

**संचालक है मस्तिष्क**

मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है इसलिए वह यांत्रिक

क्रिया है । किसी का मस्तिष्क खराब हो जाए तब मन की क्रिया नहीं होती । मस्तिष्क के माध्यम से मानसिक चेतना प्रकट होती है। जब वह माध्यम बिगड़ जाता है तब वह क्रिया नहीं होती । टेपरिकार्डर का फीता घूमा, भाषा उसमें संगृहीत हो गयी किन्तु वह भाषा पुनः तब प्रकट होगी जब यंत्र में कोई गड़बड़ नहीं है । यंत्र में गड़बड़ होने पर भाषा संगृहीत रहेगी किन्तु प्रकट नहीं होगी । मन यांत्रिक क्रिया का प्रतिफल है इसलिए उसे अचेतन कहते हैं। वह चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होता है इसलिए उसे चेतन भी कहा जा सकता है। उसे चेतन या अचेतन कहना हमारी अपेक्षा है । यदि मस्तिष्क की आत्मिक क्रिया को देखते हैं तो कह सकते हैं कि मन चेतन है और यदि मस्तिष्क की यांत्रिक क्रिया को देखते हैं तो कह सकते हैं कि मन अचेतन है। निष्कर्ष की भाषा है--आवृत चेतना शरीर के माध्यम से प्रकट होती है । मुख्य माध्यम दो हैं--इन्द्रिय और मन । माध्यम स्वस्थ होते हैं तब चेतना प्रकट हो जाती है और वे विकृत हो जाते हैं तब चेतना प्रकट नहीं होती। शरीर के माध्यम के बिना कुछ भी प्रकट नहीं होता--न शक्ति, न ज्ञान और न आनन्द ।

## शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनों भिन्न-धर्मक हैं फिर भी इनका अनादि सम्बन्ध है । चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न हैं। चेतन शरीर का निर्माता है, उसका उसमें अधिष्ठान है इसलिए दोनों पर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतना-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञात-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस-ज्ञान के साधन होते हैं । इन ज्ञान-तन्तुओं को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

## शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है और शर।र-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय--द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणितबद्ध होता है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है।

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देहमुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक और बाधक बनता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रों--मस्तिष्क या अन्य की अपेक्षा रहती है।

### सन्दर्भ ज्ञानवृद्धि का

प्रश्न होता है शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे ? यह सहज शंका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है । बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कुछ व्यक्तियों की देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह के अपूर्ण विकास का अर्थ है--एक बालक में देह का पूर्ण विकास नहीं होता फिर भी उसमें बौद्धिक विकास अधिक हो जाता है। देह के अपूर्ण विकास का दूसरा अर्थ है--शारीरिक धातुएं पूर्णतः पुष्ट नहीं होतीं फिर भी कुछ लोगों में बौद्धिक विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, उसका यह कारण है कि वस्तु--विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है । जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता तब तक वह वस्तु--विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता । मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है--सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त-कारण और कार्यभाव सम्बन्ध है । उसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

### शरीर-प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्त्व है । यह आत्मा का केन्द्र है । इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है । चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए उसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है । इसलिए गौतम ने केशी से कहा था--यह शरीर एक नौका है, जीव नाविक है और संसार समुद्र है । इस नौका के द्वारा संसार का पार पाया जा सकता है ।

शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है । शरीर के तीन भाग हैं --

१. अधोभाग--आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुंह के बीच का भाग ।

२. ऊर्ध्वभाग--घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग ।

३. तिर्यग्भाग--समतल भाग।

शरीर के अधोभाग में स्रोत हैं, ऊर्ध्वभाग में स्रोत हैं और मध्यभाग --नाभि में स्रोत हैं ।

हम चक्षु को संयत कर शरीर की विपश्यना करें। उसकी विपश्यना करने वाला उसके अधोभाव को जान लेता है, उसके ऊर्ध्वभाग को जान लेता है और उसके मध्यभाग को भी जान लेता है ।

जो वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

## अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया

शरीर-दर्शन की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है । सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अंतर् की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म--ये दो सूक्ष्म शरीर हैं । उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर बढता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है ।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दुःखात्मक । क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नहीं करता और दुःखात्मक क्षण के प्रति द्वेष नहीं करता । वह केवल देखता और जानता है।

## शरीर-दर्शन का अर्थ

शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर से भीतर पहुंचकर शरीर की धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों (अंतरों) को भी देखता है ।

देखने का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । उसका महत्त्व तभी अनुभूत होता है जब मन की स्थिरता, दृढ़ता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए । शरीर के प्रकंपनों को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकंपनों को देखना, मन को बाहर से भीतर में ले जाने की प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया से मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य

जागृत होता है। शरीर का जितना आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन होता है उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है इसलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है । उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है । शरीर में होने वाले संवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है । शरीर प्रेक्षा चैतन्य के जागरण का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है।

# चित्त समाधि के सूत्र

चंचलता के दो हेतु हैं-- श्वास और मोहकर्म का विपाक । श्वास बाहरी कारण है और मोहकर्म का विपाक भीतरी कारण है। जब भीतर में मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब चित्त की चंचलता बढ़ जाती है । यह चंचलता नाड़ी-संस्थान में अभिव्यक्त होती है। नाड़ी-संस्थान के बिना कर्म-जनित चंचलता अभिव्यक्त नहीं हो सकती । बिजली का वोल्टेज कितना ही हो, प्रकाश की अभिव्यक्ति वल्ब के बिना नहीं हो सकती। भीतर मोह के परमाणु कितने ही सक्रिय हों, उत्तेजित हों किन्तु यदि नाड़ी-संस्थान में चंचलता नहीं है तो उनकी चंचलता प्रकट नहीं होगी । नाड़ी-संस्थान की चंचलता के लिए प्राण का चंचल होना जरूरी है और प्राण की चंचलता के लिए श्वास का चंचल होना जरूरी है । सारा सम्बन्ध जुड़ता है श्वास के साथ।

**श्वास और आवेग**

काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि की तरंगें श्वास की चंचलता के बिना नहीं उभरतीं। क्रोध आता है तो श्वास तीव्र हो जाता है या श्वास तीव्र होता है तब क्रोध की तरंग आती है । श्वास शांत होता है तो आवेग शांत हो जाता है, आवेग शांत होता है तो श्वास शांत हो जाता है । दोनों का गहरा सम्बन्ध है । श्वास का मूल्यांकन नहीं करने वाला समाधि में विघ्न डालने वाले आंतरिक कारणों से नहीं निपट सकता । इसलिए उसको चाहिए कि वह सबसे पहले श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करे । वह यह जान जाए कि श्वास शांत कब कैसे किया जा सकता है ? कोई भी उत्तेजना की तरंग उठे, श्वास मंद कर दे, उत्तेजना की तरंग शांत हो जाएगी ।

यह निश्चित है--चित्त शान्त नहीं होगा तो शक्तियों का जागरण नहीं होगा । मन की चंचलता समाप्त नहीं होगी तो शक्तियां विकसित नहीं होंगी, शक्तियां प्रकट नहीं होंगी । मानसिक विलय ही एकमात्र रास्ता है सारी शक्तियों के प्रकट होने का । यदि हम उस रास्ते को छोड़ देते हैं तो शक्तियों के अभ्युदय का, उनके जागरण का हमारे पास कोई विकल्प नहीं रहता । किन्तु मन को शांत कैसे करना है, उसके लिए

हम कोई नियम नहीं बना सकते। हम आसन के द्वारा भी मन को शांत कर सकते हैं, प्राणायाम के द्वारा भी मन को शान्त कर सकते हैं, आत्म-दर्शन के द्वारा भी मन को शांत कर सकते हैं।

## मूल है चित्त समाधि

महापथ एक है । छोटी-मोटी पगडंडियां हजारों-हजारों मिलती हैं । किन्तु मूल एक है--चित्त को शांत करना और उसके बिना कोई गति नहीं है । ऐसे लोग भी हुए हैं साधना के पथ में, जिन्होंने एक ही आसन का प्रयोग किया और अपने लक्ष्य तक पहुंच गए, चित्त-विलय की भूमिका में पहुंच गए । यह असम्भव बात नहीं है। अर्धमत्स्येन्द्र आसन का नियमित रूप से प्रयोग विश्वास के साथ करते चले जाएं । कुछ वर्षों बाद यह स्थिति आ सकती है कि हमारा चित्त अपने-आप शान्त और सहज होने लगता है । जिस सुषुम्ना में प्रवेश पाकर मन विलीन होता है उसके जागरण की क्रिया अर्धमत्स्येन्द्र आसन में सहज ही होती है । मच्छेन्द्रनाथ ने इसी आसन को अपनाया था । उसी आसन में बैठकर वे अपने चित्त को समाहित करते थे। चित्त के समाधान की यह भी एक प्रक्रिया है । कोई व्यक्ति आसन नहीं करता, केवल श्वास पर ही लग जाता है, श्वास को शान्त करता है, श्वास का दर्शन करता है, वह भी उसी भूमिका पर पहुंच जाता है । बहुत सारे बौद्ध साधक अनापानसती की साधना के द्वारा ठीक वहां पहुंच जाते थे जहां कि ध्यान करने वाला पहुंचता है । श्वासदर्शन की प्रक्रिया से, लम्बे समय तक, घंटों-घंटों तक श्वास का दर्शन करते-करते व्यक्ति चित्त समाधि की स्थिति तक पहुंच जाता है। आसन, श्वास-दर्शन या तीसरा-चौथा कोई साधन--ये भाषाएं अनेक हैं, फलित एक है।

## चित्त समाधि के सूत्र

समाधि का अर्थ है--चित्त की एकाग्रता और उसका निरोध । महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में धारणा, ध्यान और समाधि--इन तीन अंगों का प्रतिपादन किया है।

बौद्ध साधना पद्धति में समाधि का अर्थ चित्त और चैतसिक का दृढ़ स्थिरीकरण है । मन ध्यान-वस्तु में स्थिर हो जाता है क्योंकि मन के साथ रहने वाले मानसिक तथ्य (चैतसिक) पवित्र होते हैं और वे मन को स्थिर होने में सहयोग देते हैं । दृढ़ स्थिरीकरण का अर्थ है--मन का एक वस्तु में स्थिर होना । इसमें और किन्हीं बाधाओं और दोषों का समावेश नहीं होता ।

जैन साधना पद्धति में समाधि का अर्थ है--शुद्ध चैतन्य का अनुभव, चित्त का

समाधान या चित्त का सन्तुलन । धारणा, ध्यान और समाधि--ये तीनों एक ही तत्त्व की तीन अवस्थाएं हैं । धारणा का प्रकर्ष ध्यान और ध्यान का प्रकर्ष समाधि है। धारणा चित्त की एकाग्रता से शुरू होती है, ध्यान में एकाग्रता परिपुष्ट हो जाती है और समाधि में वह निरोध की अवस्था में बदल जाती है ।

## चित्त की भूमिकाएं

चित्त की एक वृत्ति के शांत होने पर दूसरी वृत्ति उसी के अनुरूप उठे और उस प्रकार की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे, उसका नाम चित्त की एकाग्रता है । चित्त की मूढ़ अवस्था में राग और द्वेष का उदय प्रबल होता है इसलिए उसमें संतुलित एकाग्रता नहीं होती । उस अवस्था में असंतुलित एकाग्रता आर्त्त और रौद्र ध्यान की एकाग्रता हो सकती है किन्तु आत्मिक विकास के लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता । वह दोषपूर्ण एकाग्रता है, संतुलित चित्त की एकाग्रता में बाधक है । विक्षिप्त और यातायात चित्त की एकाग्रता सामयिक होती है । जिस समय चित्त में स्थिरता प्रकट होती है, उस समय अस्थिरता तिरोहित हो जाती है । कुछ समय बाद अस्थिरता आती है और स्थिरता चली जाती है । इन दोनों भूमिकाओं के साधक कभी अपने को समाधि अवस्था में अनुभव करते हैं और कभी असमाधि अवस्था में। उनका आचरण बार-बार बदलता रहता है।

श्लिष्ट और सुलीन–चित्त की इन दो भूमिकाओं में एकाग्रता का मूल सुदृढ़ होता है । श्लिष्ट चित्त की एकाग्रता को धारणा और सुलीन चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जा सकता है । इन दोनों को एक शब्द में धर्म्यध्यान कहा जा सकता है। चित्त की छठी भूमिका निरुद्ध है । इसे शुक्लध्यान कहा जा सकता है । शुक्ल ध्यान को उत्तम समाधि, धर्म्यध्यान को मध्यम समाधि और धारणा को प्राथमिक समाधि कहा जा सकता है। धर्मध्यान की एकाग्रता चिरस्थायी होती है इसलिए उससे मन समाहित हो जाता है, वशीभूत हो जाता है । उसे बाधाएं परास्त नहीं कर सकतीं। शुक्लध्यान में चित्त का चिरस्थायी निरोध हो जाता है । उससे वृत्तियां क्षीण होती हैं। धारणा में चित्त संतुलित होता है, ध्यान में समाहित और समाधि में केवल चैतन्य का अनुभव शेष रहता है ।

समाधि के ये प्रकार अभ्यास की दृष्टि से किये गए हैं । रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प से शून्य चित्त की अवस्था में समाधि उत्पन्न होती है । इस दृष्टि से समाधि का कोई भेद नहीं होता किन्तु वह विकल्प-शून्य अवस्था में अनेक अभ्यासों और प्रयोगों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है इसलिए उसे कई भागों में विभक्त भी किया

जा सकता है।

समाधि का एक प्रयोग है समत्व । लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों में(उदासीन या तटस्थ) रहने का अभ्यास करते-करते राग और द्वेष के विकल्प शांत हो जाते हैं–चित्त समाहित हो जाता है।

## चित्त की असमाधि

चित्त की असमाधि का हेतु है–अभिमान । मनुष्य जितना परिग्रही होता है, उतना ही अभिमानी होता है । परिग्रह का अर्थ है–मूर्च्छा, आसक्ति । जो वैभव, सत्ता आदि पदार्थों में मूर्च्छित होता है और यह मानता है–मेरे पास वैभव है, अधिकार है, यह है, वह है । ऐसा मानने वाला अभिमान के विकल्प से भरा रहता है । समाधि चाहने वाला परिग्रह को छोड़ता है, मूर्च्छा और आसक्ति का परित्याग करता है । वह इस भावना का अभ्यास करता है कि मेरा कुछ भी नहीं है । इस अभ्यास से उसके अभिमान-विकल्प का विलय हो जाता है । उसे चित्त-समाधि प्राप्त हो जाती है ।

जिससे चित्त चंचल होता है, वह ज्ञान समाधि का हेतु नहीं होता । समाधि चित्त की स्थिरता में ही निष्पन्न होती है । विकल्प और अशान्ति दोनों साथ-साथ जन्म लेते हैं । जैसे-जैसे विकल्प बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे अशांति बढ़ती जाती है। विकल्प को क्षीण करने का उपाय है–चित्त की एकाग्रता । जैसे-जैसे अन्तरात्मा का बोध जागृत होता है वैसे-वैसे हमारी चेतना बाह्य वस्तुओं से विरत हो जाती है, चित्त एकाग्र हो जाता है । हम सूचनात्मक ज्ञान का संकलन करें या न करें, यह यहां प्रस्तुत नहीं है । हम अपने अन्तश्चैतन्य को जागृत करें और उससे जो श्रुत (ज्ञान) की धारा प्रवाहित हो, उसका उपयोग करें। चित्त अपने आप समाहित होगा।

## भेद-विज्ञान का महत्त्व

चेतना और शरीर–ये दोनों परस्पर मिले हुए हैं। स्थूल शरीर बदलता रहता है किन्तु सूक्ष्म शरीर और चेतना–ये दोनों धाराप्रवाह रूप में जुड़े रहते हैं। चेतना के द्वारा शरीर को ज्ञान का आलोक और शक्ति प्राप्त होती है । शरीर के द्वारा चेतना को अभिव्यक्ति मिलती है और शक्ति के प्रयोग का क्षेत्र मिलता है । दोनों पारस्परिक सहयोग के कारण अभिन्न जैसे प्रतीत होते हैं । यह अभेद-बोध ही चेतना के शरीर निरपेक्ष विकास में अवरोध पैदा करता है । इस अभेद-बोध की परिस्थिति में राग और द्वेष पनपते हैं । उनके संस्कार चित्त को चंचल बनाए रहते हैं । उस चंचलता को मिटाने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है–भेद-विज्ञान, चेतना और शरीर में भिन्नता का बोध।

शरीर और चेतना भिन्न हैं–यह हमने सुना या पढ़ा । हमें बोध हो गया कि शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। यह बोध केवल श्रुति-बोध है । इस बोध को हम साधना का आदि बिन्दु बना सकते हैं किन्तु इसे निष्पत्ति नहीं मान सकते। इस श्रुति-बोध को स्वयं का बोध बनाने के लिए दो प्रयोग किए जाते है–एक तप का और दूसरा चरित्र का । हम कम खाते हैं या कुछ दिनों तक नहीं खाते। शरीर के लिए खाना जरूरी है और हम नहीं खाकर उसके नियम का अतिक्रमण करते हैं । उस अतिक्रमण का शरीर विरोध करता है । उस निरोध के काल में यदि हम भेद-ज्ञान का अनुभव कर चेतना को मुख्यता देते हैं तो भेद-विज्ञान अभ्यास के स्तर पर आ जाता है । हम आसन साधते हैं। शरीर की मांग नहीं है कि हम दो या तीन घंटा एक आसन में बैठे रहे । हम ध्यान करते हैं । बाह्य वातावरण से हट जाते हैं और ज्ञात विषयों की विस्मृति हो जाती है। हम आने वाली हर कठिनाई को हंसते-हंसते झेल लेते हैं। ये सब तप और चारित्र के प्रयोग भेद-विज्ञान के प्रयोग हैं । इनके द्वारा हमारा भेद-विज्ञान पुष्ट होता है । हम इस बिन्दु पर पहुंच जाते हैं कि जो अप्रिय लग रहा है, कष्ट हो रहा है, वह सब दैहिक संस्कार के कारण हो रहा है। चेतना के धरातल पर कोई अप्रिय नहीं है, कोई कष्ट नहीं है। यह अनुभूति पुष्ट होकर चित्त को चंचल बनाने वाली सभी बाधाओं को विलीन कर देती है और चित्त समाहित हो जाता है ।

### चित्त की प्रगाढ़ता

जब चित्त की शक्ति केन्द्रित हो जाती है, प्रगाढ़ बन जाती है, तरलता मिट जाती है तब बाहर के मिश्रण उसमें विकृति पैदा नहीं कर सकते। पानी तरल है। उसमें प्रत्येक चीज मिश्रित हो जाती है, घुल जाती है। पानी को बर्फ बना दिया जाए, उसमें कुछ भी नहीं घुल पाएगा । बर्फ गन्दी नहीं बनती । हमारे चित्त की भी यही स्थिति है । जब तक वह तरल होता है, चंचल होता है तब तक वह बाहर के प्रभाव से प्रभावित होता जाता है, चेतना गंदली बनती जाती है । जब चित्त प्रगाढ़ बन जाता है, बर्फ जैसा ठोस बन जाता है तब वह बाहर के प्रभाव से अप्रभावित रहता है। ऐसी स्थिति में उस चित्त वाले व्यक्ति को गाली दो, पीटो, बुरा भला कहो, वह उनसे प्रभावित नहीं होगा । वे बातें आएंगी, स्पर्श कर नीचे लुढ़क जाएंगी। उनका कोई असर ही नहीं होगा । एक ओर हम अपने चित्त को चंचल या तरल रखना चाहते हैं, दूसरी ओर मानसिक समस्याओं और उलझनों से बचना भी चाहते हैं। ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं की जा सकती। हमें एक का चुनाव करना होगा । या तो हमें मानसिक उलझनों का जीवन

जीना होगा या मानसिक उलझनों को समाप्त कर मानसिक शांति का जीवन प्राप्त करना होगा । दोनों के रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। यदि हमें उलझनों का रास्ता चुनना है तो वह तैयार है और यदि हमें शांति का रास्ता चुनना है तो वह भी उपलब्ध है।

## व्यक्ति की मनःस्थिति

हमने एक ऐसी मानसिक स्थिति का निर्माण कर रखा है कि सुख की स्थिति आने पर हम फूल जाते हैं और दुःख की स्थिति में मुरझा जाते हैं । इसका तात्पर्य है--व्यक्ति की चेतना! का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है । सुख के साथ अहं की ग्रंथि और दुःख के साथ हीनता की ग्रंथि जुड़ जाती है । दुःखी आदमी निराशा का जीवन जीने लगता है । वह सोचता है, यह संसार मेरे जीने योग्य नहीं है। सारा जीवन बेकार है ।

सुख के साथ अहं की ग्रंथि घुलती है, आदमी स्वयं को सम्राट् मानकर जीता है । यह अहं भावना उसमें अनेक कुंठाएं पैदा करती है ।

प्रश्न है कि चेतना का परिवर्तन कैसे होता है? जहां जीवन और मृत्यु की सीमा समाप्त हो जाती है वहां समता और संयम की सीमा प्रारम्भ होती है । उस सीमा में चेतना बदल जाती है, चित्त बदल जाता है।

## ध्यान का उद्देश्य

ध्यान का मूल उद्देश्य है--राग और द्वेष को कम करना । ध्यान का संकल्प है–'मैं चित्तशुद्धि के लिए ध्यान का प्रयोग कर रहा हूं ।' चित्तशुद्धि का अर्थ है–कषायों को शांत करना, राग-द्वेष को शांत करना ।

ध्यान का अर्थ है–जीवन में जागरूकता का विकास । ध्यान से चेतना इतनी निर्मल बन जाती है कि हर घटना के साथ समता का भाव जुड़ जाता है । कोई संदेह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो अर्जित है, उसे भुगतना ही पड़ता है । वह व्यक्ति चाहे धर्म करने वाला हो या धर्म करने वाला न हो, ध्यान करने वाला हो या ध्यान करने वाला न हो । अन्तर का बिन्दु कहां है, हम उसे पकड़ें ।

साधना यह है–मन को उस भूमिका पर ले जाना, जहां पहुंचने पर एक परम भूमिका प्राप्त होती है, जिसमें दूसरे आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। यह एकाग्रता की भूमिका है, यह मानसिक समाधि है, चित्त की समाधि है । इस स्थिति में पहुंचने वाला साधक समस्याओं का पार पा जाता है । जितने असंतोष, जितनी लालसाएं, जितनी वासनाएं, जितनी आकांक्षाएं, जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं वस्तु जगत् में, व्यक्ति इनसे छुटकारा पा लेता है।

# इन्द्रिय : मन : भाव

## इन्द्रिय और मन

चैतन्य की दो भूमिकाएं हैं--विकसित और अविकसित । विकास का सर्वाधिक निम्नस्तर एकेन्द्रिय में होता है--उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का विकास होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों में चैतन्य का क्रमिक विकास होता है । द्वीन्द्रिय को दो इन्द्रिय--स्पर्श और रसन का ज्ञान प्राप्त होता है । त्रीन्द्रिय के घ्राण, चतुरिन्द्रिय के चक्षु और पंचेन्द्रिय के श्रोत्र विकसित हो जाते हैं । चैतन्य का दूसरा स्तर है--मानसिक विकास । वह केवल पंचेन्द्रिय जीवों को ही प्राप्त होता है।

मनुष्य पंचेन्द्रिय है और मानसिक विकास भी उसे प्राप्त है । यद्यपि इन्द्रिय और मन--दोनों चैत- के विकास हैं फिर भी दोनों की विकास-यात्रा में बहुत तारतम्य है । इन्द्रियां केवल वर्तमान को ही जानती हैं । मन भूत, भविष्य और वर्तमान--तीनों को जानता है । इन्द्रियों में आलोचनात्मक ज्ञान की शक्ति नहीं है । मन में आलोचना की क्षमता है । वह इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का ज्ञान करता है और स्वतंत्र चिंतन भी ।

संज्ञान दो प्रकार के होते हैं--तात्कालिक और त्रैकालिक। तात्कालिक संज्ञान चींटी जैसे क्षुद्र प्राणियों में भी होता है । वे इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं किन्तु वे भूत और भविष्य का संकलनात्मक संज्ञान नहीं कर सकते । उनमें स्मृति और कल्पना का विकास नहीं होता ।

## मानसिक अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति-ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी हैं । मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है । किन्तु श्रुत--शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं । स्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन--दोनों के द्वारा होता है । स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धिजन्य काल्पनिक

वृत्तों का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण-अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायों का ज्ञान होता है। इसमें आगे-पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेष विकल्प आदि नहीं होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायों को नहीं जान सकतीं इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नहीं होतीं, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है । अवग्रह के उत्तरवर्ती ज्ञान-क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

**विभाग-क्रम : प्राप्ति-क्रम**

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है। वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है। ये दो--ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान मन के विभाग हैं--आत्मिक चेतना के विकाश अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं--निर्वृत्ति--आकार रचना और उपकरण--विषय-ग्रहण-शक्ति । ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रिय--पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं--शरीर के अंश हैं । इन चारों के समुदाय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है । उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) इतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता । उपकरण निर्वृत्ति के बिना काम नहीं कर सकता । इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम इस प्रकार बनता है--निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग।

इनका प्राप्ति-क्रम उससे भिन्न है । उसका रूप इस प्रकार बनता है--लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग । अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती हैं, न्यूनाधिक नहीं बनतीं, इसका नियामक इनका प्राप्ति-क्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है । जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते--हमारे ज्ञान में यह विप्लव नहीं होता । उसका नियामक विभाग-क्रम है। उसमें प्रयोग की मुख्यता है । उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नहीं होता किन्तु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास--दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है।

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं-- एकेन्द्रिय,

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं । एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है, सर्वांशतः नहीं।

## इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान के साधन हैं--इन्द्रिय और मन । फिर भी दोनों एक नहीं हैं । मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है । श्रुत को शब्द या संकेत की और अपेक्षा होती है । जहां हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहां घट के शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है। मति-ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस (मति-ज्ञान) में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। श्रुत-ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है इसलिए वह सर्वतः परोक्ष होता है।

लौकिक-प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भांति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है--

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान--व्यंजन
वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध--दर्शन।
वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध--अवग्रह।
वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प--संशय।
वस्तु-स्वरूप का परामर्श--वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन--
ईहा--(निर्णय की चेष्टा)
वस्तु-स्वरूप का निर्णय--अवाय (निर्णय)

## इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थगाही है । पांच इन्द्रियों--स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र--के पांच विषय हैं--स्पर्श रस,गन्ध,रूप शब्द । मन सर्वार्थ-ग्राही है । वह इन पांचों अर्थों को जानता है । इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है । 'पुस्तक' शब्द सुनते या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है । मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है । इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान

होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द ात्र का ज्ञान होता है । किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है--यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता । इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि--अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा--गुण-दोष-विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती । मन में ईहापोह शक्ति होती है । इन्द्रिय मति और श्रुत--दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है । मन मति-ज्ञान में भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है।

## ग्राह्य-ग्राहक-भाव

साधना के लिए इन्द्रियों और मन की क्रिया और प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है । बाह्य जगत् के साथ हमारा संपर्क इन्द्रियों और मन के माध्यम से होता है । दृश्य जगत् को हम आंख से देखते हैं, श्रव्य जगत् को हम कानों से सुनते हैं, गन्धवान् जगत् को हम सूंघते हैं, रसनीय जगत् का हम रस लेते हैं और स्पृश्य जगत् का हम स्पर्श करते हैं । रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व इन्द्रियों के लिए नहीं है फिर भी उनमें ग्राह्य-ग्राहक भाव है । इसलिए इन्द्रियां ग्राहक हैं और विषय उनके द्वारा गृहीत होते हैं । इन्द्रिय और विषय में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। वह साधना का विषय नहीं है किन्तु एक मनुष्य दृश्य को देखता है और उसके मन में राग या द्वेष की ऊर्मि उठती है, यह स्थिति साधना की परिधि में आती है । इन्द्रियों का प्रयोग करना और उसमें राग या द्वेष की ऊर्मियों को उठने न देना, इसी का नाम है साधना । यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य को शुद्ध चैतन्य की भूमिका का अनुभव प्राप्त हो।

## इन्द्रिय, विषय और वृत्ति

जिस व्यक्ति के मन में इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण है, वह उन्हें प्राप्त कर राग या द्वेष से मुक्त नहीं रह सकता । जिसके आकर्षण का प्रवाह बदल जाता है, विषयों के प्रति उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है । यह वह स्थिति है, जिसके लिए मनुष्य साधना के पथ पर चलता है ।

इन्द्रियों के साथ वृत्तियों का सम्बन्ध नहीं होता तब तक इन्द्रिय और विषय में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होता है । पानी अपने आपमें स्वच्छ है उसमें गन्दगी आ मिलती है तब वह मैला हो जाता है । इन्द्रिय और मन भी अपने आप में स्वच्छ हैं । उनमें वृत्तियों की गन्दगी आ जाती है तब वे मलिन बन जाते हैं । हम तब तक इन्द्रिय और मन की गन्दगी का शोधन या समापन नहीं कर सकते जब तक

वृत्तियों का शोधन या समापन नहीं कर लेते।

इन्द्रियां चंचल होती हैं पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। मन से प्रेरित होकर ही वे चंचल बनती हैं । मन जब स्थिर और शांत होता है तब वे अपने-आप स्थिर और शान्त हो जाती हैं । मन अन्तर्मुखी बनता है, तब इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं । महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा–'स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' । अपने विषयों के असंप्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र में इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

## इन्द्रिय प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं--विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह । आंखों से न देखें, यह विषय-प्रचार का निरोध है। विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए वहां राग-द्वेष न करना राग-द्वेष का निग्रह है।

मानसिक चंचलता कुछ निमित्तों से होती है । उनमें पहला निमित्त इन्द्रियां हैं। वे जब बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करती हैं तब मन को चंचल बनाती हैं इसीलिए साधना की भूमिका में उनको अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न किया जाता है। उनके अन्तर्मुख होने का अर्थ है--विषयों के साथ सम्पर्क स्थापित न करना। किन्तु इस जगत् में यह संभव है कि हमारी इन्द्रियां विषयों से सर्वथा असम्पृक्त रह सके ? इस कोलाहलमय जगत् में क्या यह संभव है कि कान हो और शब्द सुनाई न दे ? इस रूपमय जगत् में क्या यह संभव है कि आंख हो और रूप को न देखे ? वायु के साथ प्रवाहित होकर आने वाली गंध को कैसे रोका जा सकता है ? रस और स्पर्श के सम्पर्क को भी सर्वथा नहीं रोका जा सकता । इस स्थिति में हम विषयों से असम्पृक्त एक सीमा में ही रह सकते हैं ।

क्या इस स्थिति में हम मानसिक चंचलता को रोकने में सफल हो सकते हैं? नहीं हो सकते । किन्तु मनुष्य का शक्तिशाली मस्तिष्क नहीं को हां में बदल देता है। उसने एक विकल्प खोज निकाला कि मन की स्थिरता का अभ्यास करने वाला व्यक्ति विषयों के सम्पर्क से जितना बच सके, उतना बचे और न बच सकने की स्थिति में वह उनके प्रति अनासक्त रहे । विषयों के असम्पर्क और अनिवार्य रूपेण प्राप्त विषयों के प्रति अनासक्ति--ये दोनों मिलकर इन्द्रिय प्रतिसंलीनता की प्रक्रिया को पूरा करते हैं।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है--अपने आप में लीन होना । इन्द्रियां सहजतया बाहर

दौड़ती हैं, उन्हें अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता हैं। उसकी प्रक्रिया यह है –कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही भीतर में सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए । प्रतिसंलीनता के लिए कुंभक की आवश्यकता होता है, कुंभक का अर्थ है–श्वास को भीतर या बाहर जहां का तहां रोक देना । प्राण, मन और बिन्दु (वीर्य) का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

**आवश्यक है ब्रह्मचर्य**

हेलेना राइट ने इसके लिए बड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है । आत्म-विकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन में कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय में केन्द्रित प्राणशक्ति सारे स्नायु मण्डल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है । थोड़े समय में ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नये चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधनों के सिवा शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। मेरा विश्वास है कि ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिन्तन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-सम्बन्धी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है । यदि उनकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिन्तन अकेला पड़ जायेगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है और उसकी सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

अभ्यास की अपरिपक्व दशा में विषयों से बचाव करना बहुत उपयोगी है और जैसे-जैसे एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होता जाए, वैसे-वैसे विषयों से बचने की अपेक्षा उनके प्रति होने वाली आसक्ति से बचना बहुत आवश्यक है। विषयों से बचने की प्रवृत्ति हो और अनासक्ति का भाव न हो, उस स्थिति में आन्तरिक पवित्रता पर बाह्याचार की विजय होती है। विषयों से बचने का प्रयत्न अनासक्ति की साधना का पहला चरण है इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धि का द्वार इन दोनों के सामंजस्य होने पर ही खुलता है ।

आसक्ति के कारण व्यक्ति के मन में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के भाव उत्पन्न होते हैं और वे मन को व्यग्र बनाते हैं । उन पर विजय पाए बिना कोई भी व्यक्ति एकाग्रता को परिपुष्ट नहीं बना सकता, इन्द्रियों को अन्तर्मुखी नहीं बना सकता।

**कषाय प्रतिसंलीनता**

कषाय प्रतिसंलीनता के चार साधन हैं--

१. क्रोध-निवृत्ति के लिए उपशम भावना का अभ्यास ।

२. मान-निवृत्ति के लिए मृदुता का अभ्यास।

३. माया-निवृत्ति के लिए ऋजुता का अभ्यास ।

४. लोभ-निवृत्ति के लिए संतोष—अपनी आन्तरिक समृद्धि के निरीक्षण का अभ्यास ।

इन प्रतिपक्ष भावनाओं का पुनः-पुनः अभ्यास करने से कषाय अपने हेतुओं में विलीन हो जाता है ।

आन्तरिक अनुभूति और शून्यता की गहराई में जाने के लिए एकांतवास बहुत मूल्यवान् है। कोलाहलमय वातावरण में हम दूसरों को सुनते हैं किन्तु अपने अन्तर् की आवाज नहीं सुन पाते । रंगीन वातावरण में हम दूसरों को देखते हैं किन्तु इस शरीर में विराजमान चिन्मय प्रभु को नहीं देख पाते । एकांतवास में अपने अन्तःकरण की आवाज सुनने और अपने प्रभु से साक्षात्कार करने का सुन्दर अवसर मिलता है। उससे हमारा मन बाह्य सम्पर्कों से मुक्त होकर अपने शक्ति-स्रोत में विलीन हो जाता है।

## धर्म का पहला पाठ

जिसका मन शिक्षित नहीं है, वह धार्मिक नहीं है । धार्मिक वही है, जिसका मन शिक्षित है । व्यक्ति का मन शिक्षित नहीं है और वह धार्मिक है, यह विरोधाभास या आत्मभ्रान्ति है ।

धर्म के विद्यालय का पहला पाठ है--मन को शिक्षित करना । यह सरल होते हुए भी कठिन हो रहा है । माला फेरते-फेरते मनके घिस गए और अंगुलियां भी घिस गईं, फिर भी यह प्रश्न समाहित नहीं हुआ कि मन स्थिर कैसे हो ? जो प्रश्न पचास वर्ष पहले था, आज भी इसी रूप में खड़ा है। प्रक्रिया की ओर ध्यान न देने पर आज भी यह प्रश्न समाहित नहीं होगा।

धर्म की पहली सीढ़ी है--मन पर विजय पाना। केशी ने गौतम से पूछा--शत्रुओं को आपने कैसे जीता? अपने आपको कैसे जीता? गौतम ने कहा--

*'एगे जिया जिया पंच,पंच जिए जिया दस।*
*दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥'*

'एक मन को जीता और चार कषायों पर विजय पा ली । इन पांचों को जीतने से पांच इन्द्रियां भी विजित हो गईं । इस प्रक्रिया से सारे शत्रुओं पर मैंने विजय पा, अपने आप पर विजय पा ली।'

जो मन को जीतना नहीं जानता , वह कषायों और इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सकता । जो कषायों और इन्द्रियों को नहीं जीतता, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

**मनोभाव**

जब तक हम भाव को नहीं समझेंगे तब तक मन की समस्याओं का समाधान नहीं पा सकेंगे । सभी मानसिक उलझनों तथा समस्याओं का मूल कारण है भाव। मन बेचारा गधा है, जो निरन्तर भार ढोता है । उस पर भार लादने वाला कोई दूसरा है और वह है भाव । भाव ही सारी समस्याएं उत्पन्न करता है । वह उनकी अभिव्यक्ति करवाता है मन के द्वारा । सेनापति कन्ट्रोल रूम में बैठा सारा संचालन कर रहा है। सेनापति मौत के सामने नहीं आता । बेचारा सैनिक पहले मारा जाता है । सैनिक का दोष ही क्या है ? वह तो सेनापति के आदेश का पालन मात्र करता है । इसी प्रकार हमारी प्रवृत्तियों का सारा संचालन करता है हमारा भाव । हम सब भाव के द्वारा संचालित हैं ।

भाव हमारे व्यक्तित्व के गहनतम अन्तराल का एक स्रोत है । जैसा भाव होता है वैसा ही मन हो जाता है । अच्छा भाव अच्छा मन और बुरा भाव बुरा मन । भाव के साथ मन चलता है, मन के साथ भाव नहीं चलता । हमारा अस्तित्व भाव से जुड़ा हुआ है । हमारी सारी अभिव्यक्ति भाव के कारण हो रही है । वल्ब वल्ब है। बिजली आती है तो प्रकाश कर देता है और बिजली नहीं आती है तो प्रकाश नहीं करता । प्रकाश करने या न करने में वल्ब का क्या ? मूल कारण विद्युत् पैदा करने वाली शक्तिशाली तरंग है ।

एक शब्द बहुत प्रचलित है–मनोभाव । कोरा भाव नहीं, मन का भाव । मन में उतरने वाला भाव, मन में प्रतिध्वनित होने वाला भाव। जो मन में उतरता है वह मनोभाव हो जाता है ।

**कर्मशास्त्र**

प्रत्येक व्यक्ति प्रवृत्ति के चक्र में जी रहा है। दो शब्द हैं–प्रवृत्ति और परिणाम। वर्तमान की प्रवृत्ति और अतीत का परिणाम । प्रत्येक आदमी वर्तमान में जीता है, अतीत को भोगता है और वर्तमान में कुछ करता है। यह चक्र चल रहा है । हमने अपना अतीत बनाया । उसे आज भोग रहे हैं । यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि वर्तमान में हम जो कुछ कर रहे हैं, उसके साथ अतीत का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है । इस बिन्दु पर कर्मशास्त्र के गहनतम सिद्धांतों का अनुशीलन करना बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

हमारे जीवन-विश्लेषण में एक महत्त्वपूर्ण भाग है कर्मशास्त्र का । मानसशास्त्र

में साइकोलोजिकल एनेलिसिस द्वारा जिन रहस्यों का उद्घाटन अभी तक नहीं हुआ, उन रहस्यों का उद्घाटन बहुत पहले कर्मशास्त्र कर चुके हैं । हमारी प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, प्रत्येक कर्म का प्रतिकर्म होता है । वे हमारे साथ जुड जाते हैं, वे न केवल इस मस्तिष्क के साथ जुड़ते हैं किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ जाते हैं । हमारा सूक्ष्म शरीर निरंतर संचित होता रहता है । अनन्त-अनन्त बन्धनों का चक्र उसमें चलता है । जब वे स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं तब उनका अनुभव होता है। वह चक्र निरन्तर चलता ही रहता है । स्थूल शरीर में जितने केन्द्र हैं, स्रोत हैं, द्वार हैं, वे सब सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित केन्द्र, स्रोत और द्वार हैं । जैसी सूक्ष्म शरीर की रचना है वैसी ही संवादीरचना स्थूल शरीर की हो जाती है।

### भाव का स्रोत

भाव का स्रोत है--सूक्ष्म शरीर । सारे भाव सूक्ष्म शरीर में उत्पन्न होते हैं और वहां से छन कर स्थूल शरीर में आते हैं । वे ही भाव शरीर, मन और वाणी को प्रभावित करते हैं । उनमें अपना चैतन्य उंड़ेल देते हैं । तब शरीर, मन और वाणी--तीनों सचेतन हो जाते हैं। स्रोत भीतर है, वहीं से सब कुछ आ रहा है।

जब तक इन्द्रिय-चेतना और मानसिक चेतना का सम्बन्ध जुड़ा रहेगा तब तक हम मूल स्रोत तक नहीं पहुंच पाएंगे । सूक्ष्म तक पहुंचने के लिए इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध का विच्छेद करना होगा । इन्द्रियों और मन का सम्बन्ध विच्छिन्न होगा तो सूक्ष्म लोक की यात्रा शुरू हो जाएगी । हमने स्थूल जगत् को सब कुछ मान रखा है और उसी के सहारे चल रहे हैं । हमने जितनी दुनिया को देखा है, दुनिया उतनी ही नहीं है । हमारी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होने वाली दुनिया तो बहुत छोटी है और इन्द्रियों के द्वारा अगम्य दुनिया विराट् है

### बाहर से भीतर : भीतर से बाहर

समाधान के लिए हम दोनों ओर से चलें, बाहर से भी चलें और भीतर से भी चलें । बाहर से चलें , तब सबसे पहले हाथों का संयम करें, पैरों का संयम करें, वाणी का संयम करें, इन्द्रियों का संयम करें। जब हम भीतर से चलें तब उस मुद्रा में बैठ जाएं , जिससे मन की दिशा बदल जाए, प्राण की धारा बदल जाए और मन प्राण की सारी ऊर्जा भीतर की ओर बहने लग जाए। यह बाहर से भीतर की ओर गति है । एक गति है--भीतर से बाहर की ओर । यदि मन भीतर की ओर रम गया, अस्तित्व की कोई झलक मिल गयी, अस्तित्व में मन रम गया तो शरीर के समस्त अवयव अपने-आप शांत हो जाएंगे । प्रयत्न करने की कोई अपेक्षा नहीं होगी, चंचलता अपने-आप मिट जाएगी । उस समय साधक 'सुसमाहितात्त्मा' बन जाएगा ।

## वृत्ति और चंचलता

मन चंचल है इसलिए इन्द्रियां चंचल हैं। हमारी वृत्तियां चंचल हैं इसलिए मन चंचल है। चंचलता के मूल हेतु इन्द्रियां और मन नहीं वृत्तियां हैं। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन की निर्मलता और उनकी चंचलता के समापन का इच्छुक है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह वृत्तियों के संशोधन का प्रयत्न करें।

प्रश्न होता है—वृत्तियां क्या हैं और उनके संशोधन की प्रक्रिया क्या है? मनुष्य के जीवन-परिचालन में जिसका सक्रिय योग होता है, उसे वृत्ति कहा जाता है। वर्तमान की क्रिया अतीत में वृत्ति का रूप ले लेती है। मनुष्य में अनेक वृत्तियां हैं—

१. बुभुक्षा—खाने की इच्छा होती है।
२. शरीर-धारण की इच्छा होती है।
३. ऐन्द्रियिक आसक्ति होती है।
४. श्वास लेने का संस्कार होता है।
५. बोलने की इच्छा होती है।
६. चिंतन का संस्कार होता है।

## वृत्ति : पोषक तत्त्व

वृत्ति के पोषक तत्त्व दो हैं—राग और द्वेष। रागात्मक भावना के द्वारा मनुष्य प्रियता या अनुकूलता की अनुभूति करता है और द्वेषात्मक भावना के द्वारा मनुष्य अप्रियता या प्रतिकूलता की अनुभूति करता है। रागात्मक भाव माया और लोभ के रूप में प्रकट होता है। द्वेषात्मक भाव क्रोध और अभिमान के रूप में प्रकट होता है। ये वृत्तियों को अपने रंग में रंग देते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। इन भावों को पुष्टि देने वाले कुछ सहायक भाव हैं। जैसे—हास्य, रति-अरति, भय, शोक, घृणा, काम-वासना।

इन काषायिक भावों के द्वारा मनुष्य में अज्ञान, संशय, विपर्यय, मोह, आवरण आदि घटित होते हैं। महर्षि पतंजलि ने प्रमाद, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को वृत्ति माना है।

वृत्तियों का शोधन तपोयोग से होता है। जैसे पानी, हवा और धूप के अभाव में अंकुरित बीज मुरझा जाता है वैसे ही पोषक सामग्री के अभाव में अर्जित संस्कार निर्वीर्य बन जाते हैं। जैसे गन्दा जल शोधक द्रव्यों के प्रयोग से स्वच्छ हो जाता है वैसे ही तपोयोग के द्वारा वृत्तियों के दोष विलीन हो जाते हैं।

## मन से जुड़े हुए हैं संवेदन-युगल

दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा हो रही है। उसका आधार है—अस्तित्ववादी दृष्टिकोण और उपयोगितावादी दृष्टिकोण। जंगल में फूल खिलता है। उसका अस्तित्व निर्विवाद है पर उसकी उपयोगिता निर्विवाद नहीं है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से हम कहेंगे—जंगली फूल का अस्तित्व है पर उसकी उपयोगिता नहीं है। वह जंगल में

खिलता है और जंगल में ही मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है। नगर के उद्यान में खिलने वाले फूल का अस्तित्व भी है और उपयोगिता भी है । उसका अपना अस्तित्व है, अपनी उपयोगिता है । नगर के फूल का आदमी उपयोग करता है । वह उसे अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि बताता है । ये सारे उपयोगिता के बिन्दु हैं । आंख फूल को देखती है, घ्राण गन्ध का ग्रहण करती है और जीभ रस का आस्वादन करती है किन्तु उन इन्द्रियों को कुछ भी ज्ञात नहीं होता कि यह प्रिय है या अप्रिय । अच्छा है या बुरा । यह ज्ञात होता है मन को । मन के साथ ये सारे संवेदन-युगल -- प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, अच्छा-बुरा-- जुड़े हुए हैं। ये संवेदन-युगल इन्द्रियों के साथ जुड़े हुए नहीं होते इसीलिए सुन्दर-असुन्दर रूप की मीमांसा आंख नहीं करती, मन करता है । प्रिय-अप्रिय शब्द की मीमांसा कान नहीं करता,मन करता है । मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस की मीमांसा जीभ नहीं करती, मन करता है। मृदु-कर्कश स्पर्श की मीमांसा शरीर नहीं करता, मन करता है। सुगन्ध-दुर्गन्ध की मीमांसा घ्राण नहीं करता, मन करता है । इसलिए जब मन के प्रतिकूल कुछ होता तब कह दिया जाता है--बड़ा बुरा हुआ । जब मन के अनुकूल होता है तब कह दिया जाता है--बड़ा अच्छा हुआ।

एक प्रोफेसर अपने कमरे में बैठे थे । एक व्यक्ति आया, उसने कहा--'धन्यवाद, आप जैसा परिश्रमी और योग्य प्रोफेसर मैंने नहीं देखा। आपके परिश्रम से ही मेरा लड़का उत्तीर्ण हो सका है । सौ-सौ साधुवाद !' इतने में ही दूसरा व्यक्ति प्रविष्ट हुआ, उसने कहा--'आप जैसा निकम्मा और परिश्रम से जी चुराने वाला प्रोफेसर मैंने कहीं नहीं देखा । आपके कारण ही मेरा लड़का अनुत्तीर्ण हुआ है ।'

पहले व्यक्ति की बात सुनकर प्रोफेसर प्रसन्नता से झूम उठा और दूसरे व्यक्ति की बात सुनकर वह विषण्ण हो गया । यह सारा खेल मन का है । एक घटना मन के अनुकूल थी तो प्रसन्नता का प्रवाह चल पड़ा । दूसरी घटना मन के प्रतिकूल थी तो विषण्णता का वातावरण बन गया।

जब भोजन अच्छा बनता है तो पत्नी को सौ-सौ साधुवाद दिया जाता है । जब कभी भोजन स्वादिष्ट नहीं बनता या नहीं लगता तब परोसी हुई थाली को ठोकर भी मार दी जाती है । यह सारा मन का कार्य है। भोजन भोजन होता है । पदार्थ पदार्थ होता है । उसमें स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट का आरोपण हम करते हैं, मन करता है।

### प्रियता का परिणाम

हम इस सचाई को जानें--प्रियता या अप्रियता न पदार्थ में है और न इन्द्रियों

में है । वह मन के द्वारा आरोपित की जाती है । जब किसी के साथ प्रियता जुडती है तो उसका परिणाम होता है अतृप्ति, क्योंकि प्रियता का भोग अतृप्ति को ही बढ़ाता है । दुःख का चक्र प्रियता के साथ ही प्रारंभ होता है। जब इन्द्रियों से पदार्थ का योग होता है तब संवेदन जन्म लेता है । संवेदन संवेदन तक सीमित रहे तो कोई दुःख नहीं होता किन्तु संवेदन के साथ जब प्रियता या अप्रियता जुड़ती है तब दुःख का चक्र बनता है । उससे बाहर निकलना हर किसी के लिए सरल नहीं होता । पदार्थ-भोग से अतृप्ति होती है। अतृप्ति लोभ को पैदा करती है । प्रियता से अतृप्ति और अतृप्ति से लोभ । जब मन में लोभ जागता है तब चोरी की भावना जागती है । जब चोरी की वृत्ति उभरती है तब मायामृषा—कपट और झूठ की वृत्तियां जागृत होती हैं।

## समाधान सूत्र

प्रश्न है – आदमी प्रिय-अप्रिय संवेदनों को कैसे कम करे ? प्रियता और अप्रियता । इनसे प्रत्येक व्यक्ति संदानित है से छुटकारा पाना सहज-सरल नहीं है । पर ये निरुपाय नहीं हैं।

जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्त होना चाहता है, वह ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करे। यह एक अनुभूत और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है । जिस व्यक्ति ने ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग या अन्य निर्दिष्ट रंगों का ध्यान किया है, उस व्यक्ति ने क्रोध, अहंकार, द्वेष और राग से छुटकारा पाया है । इस प्रयोग से कषाय-विजय प्राप्त होती है । प्राण-केन्द्र पर ध्यान करने से प्रमाद आश्रव पर विजय प्राप्त होती है। प्रमाद अनुत्साह पैदा करता है, चेतना को अलस और मन्थर बनाता है, निष्क्रिय बनाता है। जो व्यक्ति प्राण-केन्द्र को साध लेता है, वह प्रमाद से छुट्टी पा लेता है । उसके मन में अरति नहीं होती, आर्त्त भावना कम हो जाती है । उसका मन विपदाओं से मुक्त हो जाता है । पदार्थनिष्ठ रस समाप्त होने लग जाता है । वही रस बचता है, जो जीवन के लिए अनिवार्य होता है।

## स्वभाव निर्माण की प्रक्रिया

सत्, चित् और आनन्द—ये तीन बहुत प्रचलित शब्द हैं । जो सत् में जीता है, चित् और आनन्द में जीता है, उनकी अनुभूति रखता है, बार बार स्मृति रखता है, वह अपने ऐसे स्वभाव का निर्माण करेगा, जिस स्वभाव से सत् निकलेगा, चित् और आनन्द निकलेगा । उसमें से असत्, अचित् और दुःख नहीं निकलेगा और दूसरों के लिए भी वह खतरनाक नहीं बनेगा ।

एक महत्त्वपुर्ण सूत्र दिया गया था पवित्र स्मृति का—'शिवसंकल्पमस्तु मे मनः' मेरा मन पवित्र संकल्प वाला बने। जैन साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द है-ज्यादा से ज्यादा शुभ योग बना रहे । मनोविज्ञान के सन्दर्भ में यदि इस सूत्र की व्याख्या करें तो स्वभाव निर्माण की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है । शुभ योग की प्रवृत्ति होगी, अशुभ योग की प्रवृत्ति नहीं होगी– इसका अर्थ है-- पवित्र भावों में हमारे क्षण बीतेंगे, हमारा समय बीतेगा, जीवन बीतेगा। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य क्रोध, अभिमान, माया–ये सब अशुभ योग हैं । यदि इन अशुभ योगों में प्रवृत्ति होगी तो स्वभाव भी वैसा ही बनता चला जाएगा । इसलिए सूत्र दिया गया कि अशुभ योग की प्रवृत्ति न हो, शुभ योग की प्रवृत्ति हो । शुभ योग की प्रवृत्ति से भाव पवित्र बनते हैं और भावों का पवित्रता में ही इंद्रिय और मन की पवित्रता का रहस्य छिपा हुआ है।

# व्याधि : आधि : उपाधि

## व्याधि की आधारभित्ति

वर्तमान युग की सबसे बड़ी चिंता है–मनोविकार, आधि, मानसिक रोग । शारीरिक व्याधियां होती हैं । मनुष्य उसके लिए चिंता भी करता है और उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न भी करता है । जब शरीर में कोई व्याधि होती है तब हमारा ध्यान शरीर की ओर जाता है। शरीर की व्याधि का मूल शरीर में ही खोजा जाता है, शरीर की प्रकृति में, या शरीर पर होने वाले बाहरी संक्रमणों में। किन्तु शरीर की व्याधि का जो एक मूल है, उस ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है । वह है आधि, मानसिक विकृति । हम सोचते हैं--डॉक्टरों से निदान करवा लिया, एक्सरे करवा लिया,फ़ोटो ले लिये, वैज्ञानिक युग के जितने निदान के उपकरण हैं, उनका उपयोग कर लिया, टेस्ट करा लिया, वैद्यों को नब्ज दिखला दी, समझते हैं निदान हो गया । वस्तुतः इतना करने पर भी पूरा निदान नहीं होता । उसकी एक बड़ी आधार-भित्ति छूट जाती है। वह है मानसिक विकृतियों की खोज । जब तक हम गहरे में उतरकर अपनी मानसिक विकृतियों तक नही पहुंचते, उनका प्रतिलेखन नहीं करते, तब तक व्याधि का सही निदान हमसे नहीं लगता ।

## विकृति का हेतु

हम मानसिक विकृतियों पर ध्यान दें । आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है मानसिक विकृति । आज मानसिक विकृति या मानसिक रुग्णता के लिए जितनी संभावना है उतनी शायद पहले नहीं थी । आज का युग उसके लिए जितना उर्वर है उतना पहले का नहीं था। प्रश्न है--मानसिक व्यथा क्यों होती है ? मनोविकार क्यों होता है ? हम कारण की खोज करें । कारण का पता लगना मुश्किल नहीं है। जिन मनुष्यों ने कारण को खोजा है, उन्हें वह उपलब्ध हुआ है। कार्य के साथ कारण का संबंध है । कार्य दृष्ट होता है और कारण अदृष्ट । कार्य सामने होता है और कारण छिपा रहता है । मनुष्य ने किसी भी छिपी हुई वस्तु को अज्ञात नहीं रहने दिया, उसे

ज्ञात कर लिया । हम उसे ज्ञात कर सकते हैं । मनोविकार का हेतु खोजा गया और खोजने पर पता चला कि उसका हेतु है मन की मलिनता । प्रतिदिन मन पर मैल जमता है, उस पर रजें चिपट जाती हैं । मैल पसीना है, रजें चिपटती हैं तब वह गाढ़ा बन जाता है। वह हमारे शरीर के छिद्रों को रोक लेता है, रोम-कूपों को बंद कर देता है । जिनसे प्राणवायु शरीर के भीतर जाती हैं, उन्हें ढंक देता है। हमारे मन पर मैल जमता है। मन को भी पसीना आता है। वह मैला बनता है, रजें चिपटती हैं और वह गाढ़ा बन जाता है । मन के छिद्र रुक जाते हैं । जिनके द्वारा हम स्वस्थ विचारों को ले सकते हैं, वे सब रोम-कूप बन्द हो जाते हैं ।

प्रश्न हो सकता है--यह मलिनता कहां से आती है ? यह पसीना कहां से आता है ? पसीने का भी हेतु है । हमारी त्वचा के नीचे स्वेद की ग्रन्थियां है--उन स्वेद-ग्रन्थियों के कारण शरीर में पसीना आता है । मन के नीचे भी कोई स्वेद-ग्रन्थि होनी चाहिए, जिससे पसीना आए, मैल जमे और रजें चिपट जाएं । वहां भी स्वेद-ग्रन्थियां हैं । वे हैं--राग और द्वेष । उन ग्रन्थियों से कुछ चूता है और मन पर मैल जमता रहता है। राग और द्वेष की ग्रंथियों से मूर्च्छा की तरंगें निकलती हैं, मूर्च्छा का पसीना चूता है, वह मन पर जमता जाता है, मन मलिन होता रहता है।

### मूढ़ता की निष्पत्ति

मूढ़ता की दशा में चिंतन की धारा बदल जाती है । उस अवस्था में चिंतन की धारा का पहला सूत्र होता है--'मैं शरीर हूं' । मूढ व्यक्ति शरीर और अपने अस्तित्व को भिन्न नहीं मानता । वह व्यक्ति शरीर और आत्मा को, शरीर और चैतन्य को एक मानता है। इस स्थिति में अहंभाव का विकास होता है । अहंकार का अर्थ है--मैं अमुक हूं । मैं सुखी हूं । मैं दुःखी हूं । मैं बड़ा हूं । मैं छोटा हूं । मैं समृद्ध हूं। मैं गरीब हूं । मैं विद्वान् हूं । मैं मूर्ख हूं-- इस प्रकार का मनोभाव बनना । जितनी उपाधियां दुनियां में हो सकती हैं, मनुष्य अपने पीछे लगाए घूम रहा है । 'कम्मुणा उवाही जायई'--कर्म से उपाधि होती है । उपाधि कर्म-जनित है ।

आदमी अनेक उपाधियों का भार ढोता है। वह जो है, उसका अनुभव नहीं करता । वह जो नहीं है, उसका अनुभव करता है। आत्मा न सुखी है, न दुःखी है, न समृद्ध है, न गरीब है, न छोटा है, न बड़ा है। आत्मा यह सब कुछ भी नहीं है फिर भी मनुष्य अपने आपको सब कुछ मानता चला जाता है।

मानसिक विकृतियों की कुछ धाराओं में एक है बड़प्पन की भावना का प्रदर्शन। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बड़ा दिखाना चाहता है । उसमें उसे बड़ा संतोष मिलता है। वह सोचता है--मैं बड़ा हूं और सब छोटे हैं । मुझे लोग बड़ा मानें और दूसरों

को छोटा मानें। यह बड़प्पन के प्रदर्शन की भावना अपने आप को बड़ा दिखाने की भावना मानसिक विकृति है।

## आक्रमण की भावना

मन की एक विकृति है–आक्रमण की भावना । मनुष्य में दूसरे के स्वत्व को हड़पने की भावना होती है । वह उसे छीनकर अपने अधिकार में लेना चाहता है। आक्रमण की भावना एक पागलपन है। जब-जब मनुष्य में पागलपन बढ़ा है तब-तब आक्रमण की भावना भी बढ़ी है । कुछ ऐसे सम्राट् या शासक हुए हैं, जिन्होंने विश्व-विजेता बनने का स्वप्न लिया था । उन्होंने विश्व-विजय के लिए प्रयत्न किए, वे उसके लिए चले । उन्हें मिला कुछ भी नहीं और जो कुछ मिला, वह भी उनके पास नहीं टिका । केवल मानसिक स्वप्न की तृप्तिमात्र हुई । उन्होंने मान लिया कि वे विश्व-विजेता हो गए । एक व्यक्ति का पागलपन लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की हत्या का हेतु बन जाता है। एक व्यक्ति का पागलपन विश्व के समस्त व्यक्तियों के सुखों को छीनने का हेतु बन जाता है।

जब-जब महायुद्ध हुए, विश्व दुःखी और अशांत बना । वह आर्थिक दृष्टि से दरिद्र बना, उसका अपार वैभव नष्ट हुआ । लाखों आदमी मरे, लाखों पत्नियां रोती-बिलखती रह गईं। लाखों बच्चे अनाथ हो गए। विश्व को अनगिन कठिनाइयां झेलनी पड़ीं । यदि हम उसके कारण की खोज करें तो हमें पता चलेगा--केवल दो-चार व्यक्तियों का पागलपन इस विनाश-लीला के लिए जिम्मेवार है। आदमी के पागलपन के सिवाय इसका दूसरा कोई बड़ा कारण नहीं खोजा जा सकता । यह सच है कि बड़े कारण को लेकर कोई बड़ा युद्ध होता ही नहीं। हमेशा छोटी बात के लिए लड़ाई होती है और वह छोटी बात मूल कारण नहीं होती। उस लड़ाई के पीछे कारण होता है--मनुष्य का पागलपन । यह है अपने राष्ट्र को सबसे बड़ा बनाना या मानना। यह है अपने आपको विश्व-विजेता के रूप में प्रस्तुत करना । इसी पागलपन ने रक्तरंजित इतिहास का निर्माण किया है ।

## प्रतिशोध की भावना

तीसरी विकृति है--प्रतिशोध की भावना । किसी के द्वारा जाने-अनजाने अप्रिय व्यवहार हो जाने पर व्यक्ति में बदले की भावना जागृत हो जाती है । वह सोचता है–'मैं इसका बदला ले कर ही रहूंगा।' महामंत्री चाणक्य ने यही संकल्प किया था कि जब तक नंद साम्राज्य से बदला नहीं ले लूंगा तब तक मेरी चोटी खुली ही रहेगी, बंधेगी नहीं । चाणक्य ने बदला लेकर ही चोटी बांधी।

ईर्ष्या भी मानसिक विकृति है। दूसरे की प्रगति देखी और मन में एक सिकुड़न पैदा हो गयी । जब यह होता है तब दूसरे की प्रगति पर दिल जलता है, कुढ़ता है और जल-भुनकर राख हो जाता है ।

इन सारी मानसिक विकृतियों का प्रभाव क्या होता है ? यह एक प्रश्न है । ये मानसिक विकृतियां तनाव पैदा करती हैं । पागलपन से पहले तनाव होता है । मस्तिष्क में जब तक तनाव नहीं होता तब तक पागलपन नहीं आता । तनाव का बिन्दु ही पागलपन है । हमारा मस्तिष्क शांत होना चाहिए । जब उसमें तनाव पैदा होता है, उसके तन्तु बहुत कस जाते हैं तब विकृति पैदा होती है।

## महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया

मस्तिष्क जब स्वस्थ होता है तब वह दूसरे सारे अंगों को ठीक कर लेता है। वह सारे शरीर का संचालक है। जितने ज्ञानवाही और क्रियावाही स्नायु हैं, उन सबका संचालन मस्तिष्क से होता है। यह ऐसा नियंत्रण-कक्ष है, जो सबका संचालन करता है। उसमें जब थोड़ी-सी विकृति होती है तब शरीर का सारा ढांचा गड़बड़ा जाता है। जब तक मस्तिष्क की चेतना ठीक है, आदमी जीता है । हमारे शरीर का सबसे मूल्यवान् अंग है मस्तिष्क । जब विकृत मन के द्वारा मस्तिष्क में तनाव पैदा होता है तब शरीर-तंत्र विकारग्रस्त हो जाता है । उस मस्तिष्क की विकृति से बचने के लिए शिथिलीकरण अत्यन्त आवश्यक है । जैसे शरीर का शिथिलीकरण होता है वैसे ही मन की अवस्था का शिथिलीकरण भी होता है। शिथिलीकरण यानि विसर्जन। मूढ़ता का शिथिलीकरण यानि मूढ़ता का विसर्जन। इसका तात्पर्य है कि ऐसी कोई भी विकृति न हो, ऐसी कोई मूर्च्छा की तरंग न आए, जो मस्तिष्क को विकृत बना दे। दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोजन यही है कि शरीर के दोष निकल जाए । जब हम मन को श्वास दर्शन में लगाते हैं तब हम राग-द्वेष से मुक्त क्षणों में जीते हैं । उस समय मूर्च्छा के दोष, मन के दोष बाहर निकलते हैं । यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

## मनोदैहिक बीमारी

प्राचीन ग्रंथों में मानसिक बीमारी को 'आधि' और शारीरिक बीमारी को 'व्याधि' कहा गया है। आज की भाषा में दोनों का संयुक्त नाम है--'साइकोसोमेटिक' अर्थात् 'मनोदैहिक' बीमारी--शरीर और मन की बीमारी।

मनोदैहिक बीमारियां बहुत ही जटिल होती हैं । आज का मानव इनसे ग्रस्त है और उसके कष्ट बढ़ते ही चले जा रहे हैं ।

योगनमस्कार ने एक महत्त्व की सूचना दी है । उन्होंने लिखा--'व्याधि और

आधि–ये दोनों प्रकार के रोग मनुष्य की मूर्खता के कारण उत्पन्न होते हैं ।' यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि मनुष्य के अज्ञान के कारण शारीरिक रोग–व्याधियां होती हैं और मानसिक रोग–आधियां होती हैं। अपने ही अज्ञान के कारण हम इन रोगों को उत्पन्न कर रहे हैं ।

आज चिन्तन के क्षेत्र में एक दयनीय स्थिति बनी हुई है। आज सब कुछ शरीर की दृष्टि से सोचा जाता है । उसके बाद नम्बर आता है मन का । मन के विषय में बहुत कम सोचा जाता है किन्तु भावात्मक दृष्टि से सोचना तो नहीं के बराबर है।

आज के विचार का मुख्य पहलू है--शरीर, फिर मन और फिर भावना । उसे बदलना जरूरी है । विचार का मुख्य पहलू होना चाहिए भावना फिर मन और फिर शरीर। जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है भावना । जैसा भाव वैसा मन और जैसा मन वैसा शरीर।

**प्रश्न समाधि का**

प्रश्न है--पहले किस पर चोट करें ? सामान्यतः शरीर पर चोट करने की बात ही सामने आती है किन्तु गहरे में उतर कर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि सबसे पहले चोट करनी चाहिए उपाधि पर, भावात्मक व्याधि पर। काम, क्रोध, अहं, ईर्ष्या, माया, लोभ-- ये सब भावात्मक दोष हैं । सबसे पहले इन पर चोट होनी चाहिए । इन पर चोट किए बिना भावनाओं को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता ।

समाधि के सन्दर्भ में कहा गया --जब समाधि की उपलब्धि होती है तब व्याधि नहीं सताती, उपाधि और आधि नहीं सताती । ये तीनों--व्याधि, उपाधि और आधि जब निःशेष हो जाती है तब समाधि घटित होती है । व्याधि आती है, रोग होता है, समाधि टूट जाती है । सुख और संतोष समाप्त हो जाते हैं। मानसिक उलझन आदमी को इतना बेचैन बना देती है कि आदमी एक क्षण के लिए भी सुख की सांस नहीं ले सकता । आधि की कठिनाई व्याधि से अधिक है । आधि की स्थिति में आदमी पागल बन जाता है । सब कुछ साधन होने पर भी वह बहुत दुःखी बन जाता है। उपाधि की स्थिति आधि से भी ज्यादा भयंकर होती है । उपाधि का अर्थ है--कषाय । उस स्थिति में आदमी आदमी नहीं रहता । वह और कुछ बन जाता है–पिशाच, भूत या राक्षस बन जाता है ।

व्याधि, आधि उपाधि--तीनों खतरे हैं । उनकी अवस्थिति में समाधि नहीं आ सकती । एक रोगी आदमी बहुत धनी हो सकता है, कलाकार और वैज्ञानिक हो सकता है। मानसिक और भावात्मक व्यथा से पीड़ित आदमी बहुत बड़ा धनी, वैज्ञानिक और कलाकार हो सकता है किन्तु व्याधि, आधि और उपाधि से भरा हुआ आदमी

समाधिस्थ नहीं हो सकता । समाधिस्थ होने के लिए इन तीनों के पार जाना जरूरी होता है । शरीर निरंतर बीमार रहता है समाधि कैसे होगी ? मन उलझनों से भरा रहता है, समाधि कैसे होगी ? आदमी उपाधि से भरा रहता है, कषाय से भरा रहता है। समाधि कैसे उपलब्ध होगी ?

### मार्ग दो : चुनाव का स्वातन्त्र्य

मनुष्य के सामने दो मार्ग हैं । वह सोचे--मुझे कौन-सा जीवन जीना है ? व्याधि, आधि और उपाधि का जीवन जीना है या समाधि का जीवन जीना है ? प्रश्न होगा--यह कोई चुनाव का प्रश्न है ? क्या कोई व्यक्ति व्याधि का जीवन जीना चाहेगा? सहज हो सकता है यह प्रश्न किन्तु उसका उत्तर भी जटिल नहीं है । आदमी चाहता है तब बीमार होता है । अगर वह न चाहे तो कभी बीमार नहीं हो सकता । यह सब चाह पर निर्भर है । कठिन है उस चाह को पकड़ना। कठिन है उस चाह को समझना और देखना । हमारे भीतर बीमार होने की चाह जागती है और हम बीमार हो जाते हैं। क्या भोजन का असंयम, बहुत खाने की चाह और बीमारी दो हैं ? मन में असंयम की चाह जागती है, क्या वह बीमार होने की चाह नहीं है ? व्यक्ति अति काम, अति लोभ, अति क्रोध करता है, यह सारी बीमारी की चाह है। हम कैसे भेद-रेखा खींचेंगे कि अति भोजन की चाह, अति स्वाद की चाह, अति लोलुपता की चाह तो है और बीमारी की चाह नहीं है ।

व्याधि, आधि और उपाधि से पीड़ित होने का चुनाव कौन करेगा ? किन्तु आदमी यह चुनाव करता है । वह इसलिए करता है कि उसके भीतर चाह मौजूद है। मनुष्य चुनाव करने में सक्षम है इसलिए वह व्याधि, आधि और उपाधि से दूर जाने का चुनाव भी कर सकता है । जब वह समाधि का चुनाव करता है तब उसकी सारी जीवन की दिशा बदल जाती है । समाधि कोई अद्भुत वस्तु नहीं है। समाधि कुछ लोगों के लिए नहीं है । समाधि जीवन के शिखर पर पहुंचने के बाद होने वाली घटना नहीं है । समाधि हमारे जीवन की दिशा है। समाधि हमारे जीवन का एक मार्ग है। जो जीवन के विज्ञान को समझ लेता है, वह शान्त, सहज और निर्लिप्त जीवन जीता है । कीचड़ में खिले हुए कमल के पत्ते का जीवन जीता है, जिस पर कीचड़ भी गिरता है, पानी भी गिरता है किन्तु टिकता कुछ भी नहीं, सब कुछ चला जाता है। वह व्यक्ति सूखी भींत का जीवन जीता है, जिस पर सूखी बालू पड़ती है और नीचे गिर जाती है, कोई लेप नहीं लगता।

### भाव और अध्यात्म

स्वास्थ्य केवल शरीर से जुड़ा हुआ ही नहीं होता । उसका संबंध भाव से है।

भावना के स्तर पर जो आदमी बीमार नहीं होता, वही सही अर्थ में स्वस्थ होता है। भावना के स्तर पर जो बीमार होता है, शरीर के बीमार न होने पर भी वह बीमार ही है। अध्यात्म के संदर्भ में बीमारी का कारण है--भाव । जिस व्यक्ति ने भाव को नहीं समझा, उस व्यक्ति ने अध्यात्म को नहीं समझा । जिसने भाव को समझने का प्रयत्न किया है, उसने अध्यात्म के मार्ग पर चरण बढ़ाए हैं, अध्यात्म के हृदय को समझा है।

क्रोध, मान, माया और लोभ --ये भाव हैं, आध्यात्मिक हैं। क्रोध भी आध्यात्मिक है और क्षमा भी आध्यात्मिक है । दोनों आध्यात्मिक हैं । आध्यात्मिक का अर्थ है-- भीतर में होने वाला । क्रोध और क्षमा--दोनों भाव हैं। भावना या आध्यात्मिकता के स्तर पर जब हम अपने पूरे व्यक्तित्व का विश्लेषण कर लेंगे, पूरे जीवन को समझने का प्रयत्न कर लेंगे तभी सचाई हमारी समझ में आ सकेगी । जब तक हम बाहर ही बाहर रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते तब तक सचाई हस्तगत नहीं हो सकती।

भावना के स्तर पर हमें व्यक्तित्व को संवारना है, चिकित्सा करनी है । इसका तात्पर्य यह है कि भावना के स्तर पर जो बीमारियां हैं, उनका इलाज करना है। भावचिकित्सा के कुछ सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं।

### आदर्श का चुनाव

भावात्मक बीमारियों को मिटाने का पहला सूत्र है--आदर्श का चुनाव, ईष्ट का चुनाव । व्यक्ति वैसा ही बनता है, जैसा उसका आदर्श होता है । व्यक्ति का जैसा उद्देश्य होता है, लक्ष्य होता है, वैसा ही बन जाता है। जिसका भोजन इष्ट है वह पेटू बन जाएगा, उसे भोजन के सिवाय कुछ भी नहीं दिखेगा। जिसने पैसे को अपना इष्ट चुना या उद्देश्य बनाया, उसे पैसे के सिवाय कुछ भी नहीं दिख सकेगा । वह लालची बन जाएगा । उसकी प्रतिमा लोभ की प्रतिमा बन जाएगी । जिसने लड़ने को इष्ट बनाया , वह लड़ने-झगड़ने में रस लेगा, लड़ाकू बन जाएगा । व्यक्ति जिस प्रकार के आदर्श को चुनता है, उसके प्रति समर्पित हो जाता है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, वैसा ही बन जाता है।

आदर्श और व्यक्ति जब एकात्म बन जाते हैं तब परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है और छोटे-छोटे भय समाप्त हो जाते हैं। आदमी के जीवन में कितनी कठिनाइयां और समस्याएं आती हैं, छोटी-बड़ी आपत्तियां आती हैं। यदि व्यक्ति अपने आदर्श और इष्ट के साथ जुड़ जाता है तो वह उन आपत्तियों को सहजतया सहन कर लेता है।

### कैसा हो आदर्श ?

महान् के साथ जुड़कर व्यक्ति महान् बन जाता है । एक बूंद सागर के साथ

मिलकर सिन्धु बन जाती है। यदि बूंद अलग रहती है तो उसका अस्तित्व शीघ्र ही समाप्त हो जाता है । ठीक वैसे ही जब हम महान् आदर्श के साथ जुड़ जाते हैं तो हम विन्दु से सिन्धु बन जाते हैं, अन्यथा बिन्दु ही रह जाते हैं।

आदर्श के लिए तीन शर्तें जरूरी हैं--अनन्तशक्ति, अनन्त चैतन्य और अनन्त आनन्द। आदर्श वैसा हो, जिसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं, जिसके चैतन्य की कोई सीमा नहीं, जिसके आनन्द की कोई सीमा नहीं । यदि हम ऐसे आदर्श का चुनाव करते हैं तो इस समस्या संकुल जगत् में रहते हुए भी शक्तिशाली, चैतन्यमय और आनन्दयम रह सकते हैं । उस आधार पर हम पूरी भावधारा को शक्ति, चैतन्य और आनन्द के साथ संजो सकते हैं । यदि आदर्श के चुनाव में थोड़ी भी गड़बड़ हो जाती है तो पूरा जीवन भटक जाता है, भावधारा खण्डित, त्रुटिपूर्ण और दुःख देने वाली बन जाती है।

## श्रद्धा का बल

दूसरी बात है– आदर्श के साथ ऐसा श्रद्धा का भाव बने कि उसमें कभी छेद न हो। लोग अंधश्रद्धा का प्रयोग करते हैं । श्रद्धा अंधी और सूझती क्या होती है? श्रद्धा कभी अन्धी होती ही नहीं । वह इतनी मूल्यवान् है कि अन्धी हो ही नहीं सकती। वह निरन्तर ज्ञान के आलोक से आलोकित होती है। श्रद्धा का अपना प्रकाश होता है, अपनी चेतना होती है। वह कभी अप्रकाशमय या अन्धी नहीं होती । अन्धविश्वास, अन्धश्रद्धा जैसे शब्द कैसे चल पड़े, पता नहीं । श्रद्धा निश्छिद्र हो, यह आवश्यक है। उसमें जब छेद होता है तब प्रकाश बिखर जाता है। घड़े में जब छेद होता है, तो पानी रिसते-रिसते घड़ा खाली हो जाता है। जब व्यक्ति की श्रद्धा सछिद्र हो जाती है, डोल जाती है, तब जीवन की नैया डोल जाती है। श्रद्धा की नौका छेद रहित होती है तो उस पार पहुंचा देती है और छेद वाली होती है तो बीच में डुबा देती है। श्रद्धा के बल पर असंभव लगने वाला कार्य भी संभव बन जाता है और श्रद्धा के अभाव में संभव लगने वाला कार्य भी असंभव बन जाता है।

हम अपने आदर्श के प्रति इतने श्रद्धावान् बनें, ऐसा तादात्म्य स्थापित करें कि द्वैत समाप्त हो जाए, ध्याता और ध्येय दो नहीं हैं, दोनों एक हो जाएं। प्रारंभिक अवस्था में ध्याता अलग होता है, ध्येय अलग होता है। जब श्रद्धा का पूरा परिष्कार होता है, वह शैशव अवस्था को छोड़कर प्रौढ़ अवस्था में आती है तब ध्याता, ध्येय और ध्यान –तीनों एक हो जाते हैं । वही ध्याता, वही ध्येय और वही ध्यान । तीनों

में कोई अन्तर नहीं रहता । ऐसी अवस्था में ही श्रद्धा के परिणाम मिल सकते हैं। लोग कहते हैं--श्रद्धा रखते हैं पर परिणाम कुछ भी प्राप्त नहीं होता । श्रद्धा निश्छिद्र हो और परिणाम न आए, ऐसा कभी हो नहीं सकता ।

## सुश्रुत की भाषा

सुश्रुत ने व्याधियों का जो वर्गीकरण किया है, उसमें एक है--मानसिक बीमारी। मानसिक बीमारी का वही लक्षण है, जो आर्त्तध्यान का लक्षण है । इष्ट का वियोग न हो जाए और अनिष्ट का योग न हो जाए--इस प्रकार की चिन्ता जिसके मन में जाग जाती है, वह मानसिक रूप से बीमार हो जाता है । जो व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहे कि धन मिला है, कहीं चला न जाए। इतना बड़ा परिवार मिला, कहीं समाप्त न हो जाए। इतना पदार्थ मिला है, कहीं चला न जाए, पड़ोस खराब न आ जाए। चोर न आ जाएं। आयकर अधिकारियों का छापा न पड़ जाए, प्रिय का वियोग न हो, अप्रिय का योग न हो, यह निरन्तर चिन्ता रहती है तो मानसिक बीमारी बन जाती है । उसे धर्म की भाषा में कहा जाता है--आर्त्तध्यान और सुश्रुत की भाषा में कहा जाता है--मानसिक रोग।

## वर्तमान समस्या

आज का आदमी खाली रहता ही नहीं, विश्राम करता ही नहीं। सोता भी है तो समस्याओं को लेकर सोता है, सपनों के साथ सोता है । इतने सपने, इतनी कल्पनाएं, इतना भय सिरहाने लेकर सोते हैं कि जागने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाते । सोते हैं तब भी भय को सिरहाने लेकर सोते हैं और जागते हैं तो सबसे पहले दर्शन उसी भय का होता है। मंगल प्रभात में, मंगल बेला में जो मंगलमय देवता सामने आता है, वह भय और चिन्ता का ही आता है । हार्ट ट्रबल क्यों नहीं होगा, हृदय का आघात क्यों नहीं होगा ?

आज चिकित्सा की पद्धति भी यह चाहती है--बीमारी का चक्रव्यूह टूटे नहीं, खंडित न हो । एक बीमारी को मिटाने के लिए इतनी तेज दवा दी जाए कि दूसरी बीमारी पैदा हो जाए । पहली चली जाए, दूसरी पैदा हो जाए । बराबर संतति चले। गोद भी यदि लेना पड़े तो ले लो। वंश-परम्परा को चलाने के लिए पुत्र नहीं होता है तो किसी को गोद ले लेते हैं। नाम बराबर चलता रहेगा, अमर रहे, व्यक्ति मरे नहीं। बीमारी क्यों नहीं चाहेगी कि मैं भी अमर रहूं? जो भावना व्यक्ति में है, वह भावना बीमारी में भी होगी। एक ऐसा चक्र चलता है कि कहीं अन्त नहीं होता।

## समस्या का समाधान : जिनशासन

शिष्य ने आचार्य से पूछा--क्या जिन शासन में हमारे मानवीय जीवन की

समस्याओं को कम करने की अर्हता है, क्षमता है ? आचार्य ने उत्तर में कहा--हां, वह मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है। जो जिनशासन की शरण में आते हैं, वे संसार-सागर को तर जाते हैं । बहुत महत्त्वपूर्ण बात है संसार सागर को तर जाना। आज की भाषा है--समस्याओं का पार पा जाना । समस्याओं का आर होता है तो पार भी होता है । एक बड़ी समस्या है बीमारी । बीमारी तीन प्रकार की होती है—आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक । जिनवचन इन तीनों बीमारियों के लिए एक औषधि है, दवा है बशर्ते कि कोई लेना जाने । जिनवाणी के आधार पर शरीर के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है, मन और भावना के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है।

चरक ने लिखा -जो रोग को समाप्त करे और नया रोग पैदा न करे, उसका नाम चिकित्सा है । जिनवचन एक ऐसी दवा है, जो बीमारी को समाप्त करती है और नयी बीमारी को पैदा नहीं होने देती । बुढ़ापा, जन्म और मरण—ये तीन सबसे बड़ी बीमारियां हैं । चौथी बीमारी है—शरीर की । चार दुःख माने जाते हैं--जन्म, मरण, जरा और व्याधि । जिनवचन में बुढ़ापे को हरण करने की क्षमता है, जिनवचन मृत्यु का भी हरण कर सकता है, रोग का निवारण कर अजर अमर बना सकता है।

**सहज प्रश्न**

ऐसा लगता है—यह अतिशयोक्ति है । जिनवचन बुढ़ापे का हरण कैसे करेगा? यदि ऐसा होता तो जिनवचन का अखंड पाठ कर सारे बूढ़े जवान बन जाते। यदि मरण का हरण हो सके तो शायद जो लोग मरने के निकट हैं, वे जरूर अखण्ड पाठ शुरू कर देंगे कि अब तो मरेंगे नहीं, अमरता का पट्टा हमें मिला गया । जिनवचन से यदि बीमारी समाप्त होती तो सारे दवाखाने बन्द हो जाते, वहां जिनवचन का अखण्ड पाठ चलने लगता । क्या यह अतिशयोक्ति नहीं है ? क्या लिखने वालों ने कोई ऐसी बात नहीं लिख दी, जो अस्वाभाविक है ? ऐसा सहज ही एक प्रश्न उभरता है किन्तु हम थोड़ा गहराई में जाएं तो यह बात सत्य प्रतीत होगी । मेरे मन में यह प्रश्न बहुत बार उठता था कि योग के ग्रन्थों में जहां कहीं भी देखें, लिखा मिलता है—यह प्रयोग करो, अजर-अमर हो जाओगे । 'अजरामरो भविष्यति'--यह लिखने वाले भी गए। स्वयं बूढ़े होकर मर गये, कैसे उनकी बात को सच मानें? शब्दों में बड़ा विरोधाभास लगता है किन्तु हृदय तक पहुंचने का प्रयत्न करें तो बहुत सार भी उपलब्ध हो जाता है ।

अजर और अमर होगा--इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति कभी बूढ़ा नहीं होगा, व्यक्ति नहीं मरेगा । इसका मतलब यह है कि बुढ़ापे को भी हर्ष के साथ स्वीकार

कर लेगा और बुढ़ापे के जो दुःख होते हैं, वे दुःख नहीं होंगे । मृत्यु को भी हर्ष के साथ स्वीकार करेगा और मरण का भय नहीं सताएगा बल्कि सुख पहुंचाएगा। बुढ़ापा भी सुखद होगा, मरण भी सुखद होगा ।

जिनवाणी के द्वारा व्याधियां कैसे मिटती हैं ? किस प्रकार रोग मिटाए जा सकते हैं? कितनी बड़ी वह चिकित्सा है ? अगर उसको समझ लिया जाए, उसका उपयोग किया जाए तो डॉक्टर को बार-बार बुलाने की जरूरत नहीं रहेगी । बुलाना तभी पड़ेगा जब कोई अनिवार्यता की स्थिति आ जाए । दवाइयों का भारी-भरकम सूचीपत्र लेकर मेडिकल की दूकानों के चक्कर नहीं लगाने पड़ेंगे।

**आस्था बदले**

लुधियाना के सी० एम० सी० हॉस्पिटल के मुख्य फिजीशियन ने एक दिन मुझसे कहा--महाराज ! मैं दवाई में विश्वास नहीं करता । मै मानता हूं कि दवाइयां बहुत नुकसान पहुंचाती हैं। इसलिए बहुत सारे रोगियों को तो यही कह देता हूं कि जाओ, तुम्हें दवा की कोई जरूरत नहीं, भोजन बदल दो, ठीक हो जाओगे । किसी-किसी को अनिवार्य समझ कर सिर्फ एक दवा लिख देता हूं किन्तु भरोसा नहीं होता रोगी को । वे सोचते हैं--केवल एक दवा से हम कैसे ठीक होंगे। डॉक्टर साहब के पास गए उन्होंने तो कोई दवा ही नहीं लिखी । वह दूसरे डॉक्टर के पास जाता है। वह समझदार डॉक्टर दस--बीस दवाइयां लिख देता है और पांचसौ-हजार रुपयों का बिल बना देता है । मरीज को डॉक्टर की योग्यता पर विश्वास हो जाता है। यह है आज की मनःस्थिति, हमारी दोषपूर्ण आस्था । अपेक्षा है--हमारी आस्था बदले, जिनवाणी में बीमारियां को मिटाने की क्षमता है , उसे हम समझें और उसका प्रयोग कर स्वास्थ्य-लाभ करें।

# लेश्या और भाव

हमारी इस दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा बुरा कहा जा सके। हम जिसको बुरा मानते हैं, वह अच्छा भी है और जिसे अच्छा मानते हैं, वह बुरा भी है । अच्छाई और बुराई--दोनों साथ-साथ चलती हैं । अन्तर इतना-सा होता है कि अच्छाई जब उभरकर सामने आती है तब बुराई नीचे रह जाती है । इसलिए हमें उस बिन्दु की खोज करनी है, जहां व्यक्ति का रूपान्तरण होता है या जो व्यक्ति को रूपान्तरित करता है । खोज से यह निष्पत्ति हुई कि वह बिन्दु है लेश्या। लेश्या एक ऐसा चैतन्य-केन्द्र है, जहां पहुंचने पर व्यक्ति का रूपान्तरण घटित होता है।

**चेतना : तीन स्तर**

चेतना के तीन स्तर हैं--

○ स्थूल चेतना का स्तर--यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।

○ लेश्या का स्तर--यह विद्युत् शरीर--तैजस् शरीर के साथ काम करता है ।

○ अध्यवसाय का स्तर--यह अति सूक्ष्म शरीर ( कर्म शरीर) के साथ काम करता है।

शरीर तीन हैं--स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अति-सूक्ष्म शरीर । स्थूल शरीर है--औदारिक, सूक्ष्म शरीर है--तैजस और अति-सूक्ष्म शरीर है--कर्म शरीर। इन तीन स्तरों पर तीन चेतना-केन्द्र काम करते हैं। एक है-चित्त चेतना-केन्द्र दूसरा है --लेश्या चेतना-केन्द्र और तीसरा है-अध्यवसाय चेतना-केन्द्र । चित्त का संबंध हमारे स्थूल शरीर से है। चित्त, मन और इन्द्रियां--ये सब स्थूल शरीर से संबद्ध हैं। लेश्या हमारे स्थूल शरीर से संबद्ध नहीं है । जिनके मस्तिष्क है, सुषुम्ना है, नाड़ी-संस्थान है उनके लेश्या होती है तो जिन जीवों में ये नहीं होते, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उनके भी लेश्या होती है । यह लेश्या-तंत्र भावों का निर्माण करने वाला तंत्र, यह चेतना-केन्द्र सबसे अधिक सक्रिय और जागृत होती है। जितनी स्नायविक क्रिया

कर लेगा और बुढ़ापे के जो दुःख होते हैं, वे दुःख नहीं होंगे । मृत्यु को भी हर्ष के साथ स्वीकार करेगा और मरण का भय नहीं सताएगा बल्कि सुख पहुंचाएगा। बुढ़ापा भी सुखद होगा, मरण भी सुखद होगा ।

जिनवाणी के द्वारा व्याधियां कैसे मिटती हैं ? किस प्रकार रोग मिटाए जा सकते हैं? कितनी बड़ी वह चिकित्सा है ? अगर उसको समझ लिया जाए, उसका उपयोग किया जाए तो डॉक्टर को बार-बार बुलाने की जरूरत नहीं रहेगी । बुलाना तभी पड़ेगा जब कोई अनिवार्यता की स्थिति आ जाए । दवाइयों का भारी-भरकम सूचीपत्र लेकर मेडिकल की दूकानों के चक्कर नहीं लगाने पडेंगे।

**आस्था बदले**

लुधियाना के सी० एम० सी० हॉस्पिटल के मुख्य फिजीशियन ने एक दिन मुझसे कहा--महाराज ! मैं दवाई में विश्वास नहीं करता । मै मानता हूं कि दवाइयां बहुत नुकसान पहुंचाती हैं। इसलिए बहुत सारे रोगियों को तो यही कह देता हूं कि जाओ, तुम्हें दवा की कोई जरूरत नहीं, भोजन बदल दो, ठीक हो जाओगे । किसी-किसी को अनिवार्य समझ कर सिर्फ एक दवा लिख देता हूं किन्तु भरोसा नहीं होता रोगी को । वे सोचते हैं--केवल एक दवा से हम कैसे ठीक होंगे। डॉक्टर साहब के पास गए उन्होंने तो कोई दवा ही नहीं लिखी । वह दूसरे डॉक्टर के पास जाता है। वह समझदार डॉक्टर दस--बीस दवाइयां लिख देता है और पांचसौ-हजार रुपयों का बिल बना देता है । मरीज को डॉक्टर की योग्यता पर विश्वास हो जाता है। यह है आज की मनःस्थिति, हमारी दोषपूर्ण आस्था । अपेक्षा है--हमारी आस्था बदले, जिनवाणी में बीमारियां को मिटाने की क्षमता है , उसे हम समझें और उसका प्रयोग कर स्वास्थ्य-लाभ करें।

# लेश्या और भाव

हमारी इस दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा बुरा कहा जा सके। हम जिसको बुरा मानते हैं, वह अच्छा भी है और जिसे अच्छा मानते हैं, वह बुरा भी है । अच्छाई और बुराई--दोनों साथ-साथ चलती हैं । अन्तर इतना-सा होता है कि अच्छाई जब उभरकर सामने आती है तब बुराई नीचे रह जाती है । इसलिए हमें उस बिन्दु की खोज करनी है, जहां व्यक्ति का रूपान्तरण होता है या जो व्यक्ति को रूपान्तरित करता है । खोज से यह निष्पत्ति हुई कि वह बिन्दु है लेश्या। लेश्या एक ऐसा चैतन्य-केन्द्र है, जहां पहुंचने पर व्यक्ति का रूपान्तरण घटित होता है।

**चेतना : तीन स्तर**

चेतना के तीन स्तर हैं--

○ स्थूल चेतना का स्तर--यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।

○ लेश्या का स्तर--यह विद्युत् शरीर--तैजस् शरीर के साथ काम करता है ।

○ अध्यवसाय का स्तर--यह अति सूक्ष्म शरीर ( कर्म शरीर) के साथ काम करता है।

शरीर तीन हैं--स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अति-सूक्ष्म शरीर । स्थूल शरीर है--औदारिक, सूक्ष्म शरीर है--तैजस और अति-सूक्ष्म शरीर है--कर्म शरीर। इन तीन स्तरों पर तीन चेतना-केन्द्र काम करते हैं। एक है-चित्त चेतना-केन्द्र दूसरा है --लेश्या चेतना-केन्द्र और तीसरा है-अध्यवसाय चेतना-केन्द्र । चित्त का संबंध हमारे स्थूल शरीर से है। चित्त, मन और इन्द्रियां--ये सब स्थूल शरीर से संबद्ध हैं। लेश्या हमारे स्थूल शरीर से संबद्ध नहीं है । जिनके मस्तिष्क है, सुषुम्ना है, नाड़ी-संस्थान है उनके लेश्या होती है तो जिन जीवों में ये नहीं होते, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उनके भी लेश्या होती है । यह लेश्या-तंत्र भावों का निर्माण करने वाला तंत्र, यह चेतना-केन्द्र सबसे अधिक सक्रिय और जागृत होती है। जितनी स्नायविक क्रिया

है, वह सारी शरीर से सम्बन्ध रखती है। मन का कोई भी विचार, वाणी की कोई भी प्रवृत्ति, शरीर की कोई भी क्रिया और बुद्धि या चित्त की कोई भी क्रिया इस शरीर-तंत्र के बिना, स्नायविक योग के बिना नहीं होता । ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु--दोनों प्रकार के स्नायु इन सारी क्रियाओं का संपादन करते हैं किन्तु लेश्या के लिए इन स्नायुओं की कोई अपेक्षा नहीं है । यह स्नायु से परे, स्थूल शरीर से परे है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-नियंत्रण स्नायविक स्तर पर होता है और आत्म-शोधन लेश्या के स्तर पर होता है।

## कर्मबन्ध का हेतु है अध्यवसाय

चेतन तत्त्व और कषाय तत्त्व के बीच एक समझौता है । कषाय तंत्र का एक स्पष्ट निर्देश है कि चैतन्य के स्पंदन यदि कषाय वलय को भेद कर बाहर जाते हैं तो वे शुद्ध तभी रह सकते हैं जब वे केवल ज्ञेय के प्रति जाते है। ज्ञेय के सिवाय यदि वे और कहीं भी जाते हैं तो कषायतंत्र की छत्रछाया में ही जा सकते हैं अन्यथा नहीं जा सकते । चैतन्य के जो असंख्य स्पंदन बाहर निकलते हैं, वे कषायतंत्र को पार कर, सूक्ष्म शरीर को पार कर बाहर आते हैं । उनका एक स्वतंत्र तंत्र बन जाता है । वह है अध्यवसाय का तंत्र । यह तंत्र तैजस शरीर के साथ-साथ सक्रिय होकर काम करता है । जिन लोगों ने आत्मा को जाना, आत्मा का साक्षात्कार किया, सूक्ष्मता में गए, उन लोगों ने मन को कभी महत्त्व नहीं दिया । उन्होने सदा अध्यवसाय को महत्त्व दिया। यही एक ऐसा बिन्दु है, जहां से आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता है और उनके संबंध और असंबंध की व्याख्या की जा सकती है। मन मनुष्य में होता है । विकासशील प्राणियों में होता है । जिनके मन होता है, उनके भी कर्मबंध होता है और जिनके मन नहीं होता, उनके भी कर्मबंध होता है । कर्म का बंध सब जीवों के होता है।

## प्रसंग सूत्रकृतांग का

सूत्रकृतांग सूत्र में एक सुन्दर चर्चा है। एक मनुष्य रात को सोया है । उसका स्थूल मन निष्क्रिय है । वह इतनी गाढ निद्रा में है कि स्वप्न नहीं देख रहा है फिर भी उसके हिंसा का कर्मबंध हो रहा है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण उल्लेख है । एक ओर हम कहते हैं--जब मन सक्रिय होता है तब कर्म का बंध होता है। दूसरी ओर कहा गया--जो व्यक्ति गाढ निद्रा में है, जिसका मन अव्यक्त है, स्थूल चेतना अव्यक्त है, स्वप्न भी नहीं आ रहे हैं फिर भी कर्म का बंध हो रहा है और वह भी हिंसा के कर्म का बंध हो रहा है। यदि दृष्टिकोण मिथ्या है तो न केवल हिंसा का कर्मबंध हो

रहा है अपितु अठारह पापों का भी बंध हो रहा है। यह सुनकर शिष्य ने पूछा–'भन्ते! यह कैसे हो सकता है कि सोया व्यक्ति कर्मबंध करता है ? इस तथ्य को समझाने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए। एक है संज्ञी का उदाहरण और दूसरा है असंज्ञी का उदाहरण । असंज्ञी का उदाहरण बहुत महत्त्व का है । वह अध्यवसाय की सारी स्थिति को स्पष्ट करता है। एक वनस्पति का जीव है । उसके न मन है, न वचन है। केवल शरीर है । वह जीव निरंतर सोया रहता है । उसके लिए न कोई दिन होता है और न कोई रात । सब कुछ रात ही रात है । वह जीव केवल सोता ही सोता है । मनशून्य और वचनशून्य वह वनस्पति का जीव भी अठारह पापों का सेवन करता है। अठारह पापों से होने वाला कर्मबंध उसके होता है । ऐसा क्यों होता है? यह इसलिए होता है कि उस जीव के अध्यवसाय होते हैं, असंख्य अध्यवसाय होते हैं । वे अध्यवसाय विशुद्ध और अशुद्ध–दोनों प्रकार के होते हैं । अशुद्ध अध्यवसाय होते हैं इसलिए उसके कर्म का बंध भी होता है। हिंसाजनित कर्म का बंध भी होता है और परिग्रहजनित कर्म का वंध भी होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभजनित कर्म का बंध भी होता है । वह जीव अपने शत्रुओं की हिंसा करता है इसलिए हिंसाजनित कर्म का बंध होता है । यह बहुत उलझन-भरी बात है। क्या ऐसा होना संभव है ? हां संभव है।

### विज्ञान की दृष्टि

हम वर्तमान विज्ञान की दृष्टि को भी समझें । हमने मस्तिष्क, मन और वचन को बहुत बड़ा स्थान दे दिया किन्तु हमारे ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत है अध्यवसाय । अध्यवसाय के बाद जो ज्ञान होता है, शारीरिक दृष्टि से उसके बड़े स्रोत हैं–हमारी कोशिकाएं। जिन जीवों के मस्तिष्क नहीं होता , मन नहीं होता, उनकी कोशिकाएं सारा ज्ञान करती हैं । वनस्पति के जीव जितने संवेदनशील होते हैं, मनुष्य उतने संवेदनशील नहीं होते । वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणाम होता है इसलिए उन जीवों में जितनी पहचान, जितनी स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता बहुत सारे मनुष्यों में भी नहीं होती।

वैज्ञानिक वेकस्टर ने वनस्पति पर अनेक प्रयोग किए । उसने एक प्रयोग यह किया–कागज के छह टुकड़े लिये। पांच टुकड़ों पर कुछ नहीं लिखा । एक टुकड़े पर लिखा–इस कमरे में जो दो पौधे हैं, उनमें से एक पौधे को उखाड़ देना है, नष्ट कर देना है, पैरों से रौंद डालना है । उसने कागज के छहों टुकड़े कमरे में रख दिए। फिर उसने छह व्यक्तियों की आंखों पर पट्टी बांधकर उनसे कहा--कमरे में जाओ और एक-एक टुकड़ा उठा लो । छहों व्यक्ति कमरे में गए । उन्होंने एक-एक टुकड़ा उठा

लिया। एक व्यक्ति के हाथ में वह लिखा हुआ कागज आया । छहों ने आंख की पट्टियां खोलीं । अपना-अपना कागज देखा । पांच के कागज खाली थे । छठे के कागज पर कुछ लिखा था । वह व्यक्ति कमरे में गया, एक पौधे को उखाड़ा, पैरों से रौंदा और उसे नष्ट कर डाला । वेकस्टर को भी पता नहीं था कि छहों व्यक्तियों में से किसने यह काम किया है। अब वेकस्टर ने एक-एक कर छहों व्यक्तियों को कमरे में जाने के लिए कहा । कमरे में जो एक पौधा बचा था । उस पर पोलीग्राफ लगा दिया गया। पहला व्यक्ति गया। पौधे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां व्यक्ति गया, पौधे ने कोई प्रतिक्रिया अंकित नहीं की । वह शांत सहज-सरल था । ज्योंहि पौधे को उखाड़ फेंकने वाला व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ, सारा पौधा कांप उठा । उसके कंपन पोलीग्राफ पर अंकित होने लगे । उस ग्राफ को देखकर वैज्ञानिक ने जान लिया कि उस व्यक्ति ने ही पौधे को नष्ट किया है। मनुष्य नहीं जान सका उस बात को और पौधा जान गया, पहचान गया। कितना तीव्र संवेदन और कितनी तेज पहचान होती है वनस्पति के जीव में ।

वैज्ञानिक वेकस्टर ने दूसरा प्रयोग किया, पौधों पर पोलीग्राफ लगा हुआ था । वह एक प्रयोग कर रहा था । प्रयोग करते-करते उसके मन में एक बात आई । उसने मन ही मन सोचा—दियासलाई मंगवाकर उस पौधे को जला डालूं । जैसे ही उसके मन में यह बात आई, ग्राफ की सूई घूमने लगी । अग्नि का ग्राफ उभर आया। दूसरा ग्राफ भी वैसा ही हुआ । वह वहां से उठा । कमरे में दियासलाई लाने गया । उसका मन बदल गया। उसने सोचा—मैं पौधे को नहीं जलाऊंगा । यह सोचकर वह पौधे के पास गया। ग्राफ की सुई स्थिर थी। कोई ग्राफ नहीं आया।

मनुष्य भी दूसरे के मनोभावों को इस प्रकार नहीं जान पाता, वनस्पति का जीव वह ज्ञान कर लेता है । एक प्रश्न आता है कि जब वनस्पति में या एक इन्द्रिय वाले जीवों में मन नहीं होता तो फिर वे इतना सूक्ष्म ज्ञान कैसे कर लेते हैं ? हम इस सचाई को समझें— मन ज्ञान का साधन नहीं है । जहां से ज्ञान का स्रोत प्रवाहित होता है, वह है अध्यवसाय ।

**चित्त निर्माण : माध्यम**

हम चैतन्य और चित्त के क्रम को समझें । मूल है चैतन्य—आत्मा । उसके चारों ओर है कषाय का तंत्र और उसके बाद आता है अध्यवसाय का तंत्र । स्थूल शरीर से इनका कोई संबंध नहीं रहता । ये केवल कर्म शरीर और तैजस शरीर से ही संबंधित रहते हैं । तैजस शरीर सूक्ष्म है और कर्म शरीर उससे भी अधिक सूक्ष्म।

ये दोनों शरीर हैं पर इनके कोई अवयव नहीं हैं । न पैर हैं, न मस्तिष्क है, न सुषुम्ना है और न सुषुम्नाशीर्ष है । जानने का कोई माध्यम नहीं है । सारा ज्ञान अध्यवसाय से होता है। यह बिना माध्यम और अवयवों से रहित ज्ञान है । यह स्थूल शरीर के बिना होने वाले ज्ञान की सीमा-रेखा है । इससे परे है स्थूल शरीर से होने वाले ज्ञान की सीमा-रेखा । अध्यवसाय तंत्र के स्पंदन आगे बढ़ते हैं और वे स्थूल शरीर में उभरते है । जब वे स्थूल शरीर में उतरते हैं तब शरीर के साथ आत्मा का स्पंदन जुड़ता है । वहां सबसे पहले तंत्र का निर्माण होता है। स्थूल में आत्मा का पहला पडाव है चित्त का निर्माण । चित्त का निर्माण मस्तिष्क के माध्यम से होता है। ज्ञान स्थूल शरीर के अवयवों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगता है और वह अवयवों का सहयोग लेकर ही अभिव्यक्त हो पाता है ।

## असंख्य हैं अध्यवसाय

चित्त-तंत्र केवल ज्ञेय का साधन मात्र है । अध्यवसाय की अनेक रश्मियां फूटती हैं । उसके अनेक स्पंदन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ते हैं। 'असंखेज्जा अज्झवसाणठाणा--'अध्यवसाय के असंख्य स्थान हैं।' लोक के जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही हमारे अध्यवसाय हैं । लोक के प्रदेश असंख्य हैं और अध्यवसाय भी असंख्य हैं । वे चित्त पर उतरते हैं । उनकी एक धारा चलती है । वह है भाव की धारा--लेश्या । अध्यवसाय की एक धारा, जो रंग के परमाणुओं से प्रभावित होती है, रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है, वह है हमारा लेश्या-तंत्र या भावतंत्र। इसके द्वारा सारे भाव निर्मित होते हैं । जितने भी अच्छे या बुरे भाव हैं , वे सारे लेश्या-तंत्र के द्वारा निर्मित होते हैं । अध्यवसाय प्रभावित करते हैं नाड़ी-संस्थान को, मस्तिष्क को और जब ये लेश्या की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब ये प्रभावित करते हैं हमारी ग्रन्थियों को और उनके माध्यम से हमारे सारे शरीर-तंत्र को।

## भाव-तंत्र

लेश्या की एक परिभाषा है--कर्म निर्झर । लेश्या कर्म का झरना है, कर्म का प्रवाह है । कर्म के प्रवाह, जो प्रवाहित होकर बाहर आते हैं, वे ग्रन्थियों के माध्यम से बाहर आते हैं। ये हैं ग्रन्थियों के स्राव, ग्रंथियों के रसायन और रसानुबंध यानी कर्म का अनुभाग बंध । अनुभाग बंध भी रसायन है। कर्म का रसायन इन ग्रथियों के माध्यम से बाहर आकर हमारे समूचे तंत्र को प्रभावित करता है । यह चित्त-तंत्र और लेश्या-तंत्र हमारे क्रिया-तंत्र को प्रभावित करता है।

क्रिया-तंत्र के तीन अंग हैं—मन, वचन और शरीर । क्रिया-तंत्र का एक अंग है मन। इसका कार्य ज्ञान करना नहीं है । मन का कार्य कर्म को बांधना नहीं है और कर्म को तोड़ना भी नहीं है । मन का काम है ऊपर से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना, उनको क्रियान्वित करना । इसी प्रकार वचन भी निर्देशों की क्रियान्विति का साधन है, ज्ञान का साधन नही है। ज्ञान-तंत्र चित्त-तंत्र तक समाप्त हो जाता है। भावतंत्र लेश्या-तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों को क्रियान्वित करने के लिए क्रिया-तंत्र सक्रिय होता है ।

**मनोवैज्ञानिक परीक्षण का निष्कर्ष**

मनोवैज्ञानिक परीक्षण का निष्कर्ष है कि ध्यान एक विषय पर चार सेकण्ड से अधिक नही टिकता । ध्यान का एक सिद्धान्त इसे स्वीकार नहीं करता । उसके अनुसार एक ही विषय पर ध्यान ५-१० घण्टा या अधिक भी स्थिर रह सकता है । किंतु जिसने ध्यान का अभ्यास ही नहीं किया है, उसका ध्यान विचलित हो सकता है, जल्दी-जल्दी बदल सकता है । इस दृष्टि से मनोविज्ञान के ध्यान-विचलन के सिद्धान्त से हमारी अस्वीकृति नहीं है। जो ध्यान करने का अभ्यस्त नहीं होता उसका ध्यान चार-पांच सेकण्ड से अधिक एक स्थान पर नहीं टिक सकता। संभव है प्रत्येक सेकण्ड में वह बदलता रहे । उससे भी कम समय में परिवर्तन हो सकता है । मन की गति बड़ी तीव्र है। न जाने एक सेकण्ड में वह कितनी बार कहां-कहां चला जाता है ? यह अंकन गलत नहीं है किन्तु कोई भी अंकन या परीक्षण अंतिम नहीं हो सकता । प्रेक्षा करते-करते हमारी ऐसी स्थिति का निर्माण होता है कि हम एक विषय पर लगतार अवधान करने में सफल हो सकते हैं । अवधान स्थायी बन जाता है । यह मनोविज्ञान के परीक्षण का विषय नहीं बन सकता । इसका कारण भी है । जब तक लेश्या का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होता तब तक ध्यान-विचलन का सिद्धान्त भी आगे नहीं बढ़ सकता । अध्यवसाय के आधार पर भाव-परिवर्तन होता है और भाव-परिवर्तन के आधार पर विचार-परिवर्तन होता है । विचार-परिवर्तन का अंकन हो सकता है, भाव परिवर्तन का अंकन नहीं किया जा सकता । विचार का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, स्वतंत्र मूल्य नहीं है । सारे विचार भावतंत्र के आधार पर पैदा होते हैं और विलीन होते हैं।

विचार-तंत्र, भावतंत्र और अध्यवसाय-तंत्र—ये तीनों जुड़े हुए हैं । अध्यवसाय से भाव पैदा होते हैं और भाव से विचार पैदा होते हैं। यदि भाव स्थिर बनते हैं, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या स्थिर होती है तो विचार आपने आप स्थिर

बन जाएंगे।

## व्यक्तित्व के तीन पहलु

हमारे व्यक्तित्व के तीन पहलु हैं--भाव, विचार और व्यवहार । व्यवहार हमारी कायिक प्रवृत्ति है। विचार हमारी मानसिक प्रवृत्ति है। ये दानों स्नायुओं से संबंधित हैं । मन भी स्नायविक प्रवृत्ति है। और व्यवहार भी स्नायविक प्रवृत्ति है भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं है । वह लेश्या केन्द्र से होने वाली क्रिया है। व्यवहार का नियंत्रण किया जा सकता है--इस प्रकार बैठो, इस प्रकार मत बैठो। यह करो, वह मत करो । यह सब स्नायविक प्रवृत्ति हैं । इस पर नियंत्रण किया जा सकता है । वाणी की प्रवृत्ति पर नियंत्रण किया जा सकता है और मन की क्रिया पर भी नियंत्रण किया जा सकता है किन्तु जब हम व्यवहार और विचार से परे जाते हैं, भाव के जगत् में प्रवेश करते हैं, नियंत्रण कोई काम नहीं देता।

## नियंत्रण और शोधन की सीमा

हमारा यह प्रसिद्ध सूत्र है कि योग--प्रवृत्ति का, क्रियात्मक आचरण का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है किन्तु आन्तरिक मलिनता का त्याग और प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता । प्रमाद और कषाय का त्याग कभी नहीं होता । जितना त्याग या प्रत्याख्यान होता है, वह क्रियात्मक प्रवृत्तियों का होता है । इसका तात्पर्य है कि स्थूल शरीर की चेतना तक, स्थूल शरीर की स्नायविक क्रिया तक ही त्याग और नियंत्रण होता है। भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं, शोधन होता है । हमारे में नियंत्रण का भी अवकाश है और शोधन का भी अवकाश है । हम नियंत्रण के क्षेत्र में शोधन को न लाएं और शोधन के क्षेत्र में नियंत्रण को न लाएं । दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं।

## रूपान्तरण का बिन्दु

बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति नियंत्रण करना चाहता है, शोधन करना चाहता है, संकल्प करना चाहता है, अच्छा होना चाहता है, फिर भी वह वैसा हो नहीं पाता । त्याग करता है, प्रत्याख्यान करता है, दृढ़ निश्चय करता है परन्तु जो अन्तर् में बदलना चाहिए, वह नहीं बदलता, जो आदत बननी चाहिए, वह नहीं बनती । तब व्यक्ति के मन में प्रश्न उभरता है । स्नायविक स्तर पर प्रश्न समाहित हो नहीं सकता। स्नायविक स्तर की साधना केवल नियंत्रण तक ले जाती है, रूपान्तरण तक नहीं। जब तक हम रूपान्तरण के स्तर पर नहीं जाते तब तक नियंत्रण हो सकता है, शोधन

नहीं । जब तक शोधन नहीं होगा तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी। रूपान्तरण के बाद नियंत्रण की जरूरत नहीं होती । जो व्यक्ति शुक्ल-लेश्या में, पद्म-लेश्या और तेजो-लेश्या में पहुंच जाता है, उस व्यक्ति के लिए नियंत्रण की बात बहुत कम आवश्यक होती है। जो व्यक्ति वीतराग बन गया, उसके लिए नियंत्रण की जरूरत ही नहीं होती। जो व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था में चला जाता है, उसके लिए नियंत्रण किस काम का ! जब तक लेश्या के द्वारा अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं हो जाता, तब तक नियंत्रण को नहीं छोड़ा जा सकता । ये दोनों सीमाएं हैं और इन दोनों सीमाओं को हमें बहुत स्पष्टता से समझ लेना है ।

क्रिया स्थूल है । विचार उससे सूक्ष्म है और भाव उससे भी सूक्ष्म । क्रिया और विचार--दोनों स्नायविक प्रेरणाएं हैं । स्नायविक बिन्दु के जगत् में बहुत धोखा दिया जा सकता है और व्यक्ति को पहचानने में बहुत बड़ा धोखा हो सकता है । कोई व्यक्ति बहुत क्रूर होता है किन्तु दूसरे से मिलने में इतना विनम्र व्यवहार करता है कि व्यक्ति धोखे में आ जाता है । व्यावसायिक जगत् में न जाने इस प्रकार के कितने धोखे चलते हैं । मायावी व्यक्ति अपने आपको मिलनसार, विनम्र और स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ प्रदर्शित करता है किन्तु जब उसका अन्तरंग स्वरूप सामने आता है तब दोनों स्वरूपों में कोई सामंजस्य ही नजर नहीं आता । दोनों एक दूसरे से अत्यन्त विपरीत । इसीलिए व्यक्तित्व के पहचान की कसौटी मानस-जगत् और व्यवहार--जगत् नहीं है किन्तु भाव-जगत् है, जहां कोई धोखा नहीं हो सकता । जो जैसा है, वैसा रूप ही वहां मिलेगा।

## लेश्या से जुड़ा प्रश्न

शान्ति और अशान्ति का प्रश्न लेश्याओं से जुड़ा हुआ है । यह कृष्णलेश्या और शुक्ल-लेश्या का प्रश्न है । यह पद्म-लेश्या और नील-लेश्या का प्रश्न है। यह तेजो-लेश्या और कापोत-लेश्या का प्रश्न है। यदि हम लेश्याओं के मर्म को समझ लेते हैं तो प्रश्न स्वयं समाहित हो जाते हैं ।

भगवान् महावीर से पूछा गया-- 'भंते ! अल्प ऋद्धिवाले जीव कौन हैं ? महान् ऋद्धिवाले जीव कौन हैं?' भगवान् ने कहा--कृष्ण-लेश्या के जीव अल्प ऋद्धिवाले होते हैं, दरिद्र होते हैं। नील-लेश्या के जीव उनकी अपेक्षा से महर्द्धिक होते हैं, तेजो-लेश्या के जीव अधिक महर्द्धिक होते हैं, पद्मलेश्या के जीव और अधिक ऋद्धिशाली होते हैं और शुक्ल-लेश्या के जीव सबसे अधिक ऋद्धिशाली होते हैं। कृष्ण-लेश्या के जीव सबसे कम वैभवशाली होते हैं और शुक्ल-लेश्या के जीव सबसे अधिक वैभवशाली

होते हैं।' महावीर ने यह नहीं कहा कि जो करोड़पति होता है, अरबपति होता है, वह महर्द्धिक है और जिसके पास सौ या हजार रुपये हैं, वह अल्प ऋद्धिवाला है । उनके मूल्यांकन का दृष्टिकोण भिन्न है ।

यदि वैभवशालिता और संपदा का यह दृष्टिकोण हमारे पास होता तो मन की अशान्ति का प्रश्न इतना जटिल नहीं होता । आज समूचे विश्व में मन की अशान्ति का प्रश्न बहुत ही जटिल बना हुआ है । उसका यही कारण है कि आदमी संपदा को एक आंख से देखता है, बाहर की संपदा को ही संपदा मानता है। एक आंख से देखे किन्तु उसकी दूसरी आंख फूटी हुई नहीं होनी चाहिए । वह उस दूसरी आंख से भीतरी संपदा को भी देखे, भीतर भी झांके।

## लेश्या की भाषा

एक चारण कवि न्याय के लिए हाकिम के पास गया । हाकिम ने निर्णय ठीक नहीं किया । उसका कवि हृदय बोल उठा--

*सुण हाकम संग्राम, आंधो मत ह्वय यार।*
*औरां रे दो चाहिजै, थारै चाहिजै चार ।।*

हाकिम साहब ! अंधे मत होओ । उचित न्याय करो । दो आंखें बाहर को देखने के लिए हैं और दो भीतर को देखने के लिए चाहिए।

लेश्या की भाषा में मैं भी सकता हूं कि हमारे भी चार आंखें होनी चाहिए । दो आंखें बाहर की संपदा को देखने के लिए और दो भीतर की संपदा को देखने के लिए । ऐसा लगता है कि बाहर की संपदा को देखने के लिए हमारी ये दो आंखें बहुत बड़ी बन जाती हैं, चार हो जाती हैं और भीतरी संपदा को देखने के लिए आंखें उपलब्ध ही नहीं हैं, आदमी अंधा बना हुआ है।

## पदार्थ का लक्षण

महावीर ने लेश्या के सिद्धान्त में, लेश्या के आधार पर ऋद्धि और वैभव की चर्चा की । दो दृष्टिकोण होते हैं--एक है पदार्थ का और दूसरा है व्यक्ति के भाव और आचरण का । पदार्थ का लक्षण है--रश्मियों को विकीर्ण करना । हर पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं। रश्मियां ओरा बन जाती हैं। एक ईंट की रश्मियां भी ओरा बन जाती हैं । ऐसी स्थिति में हम यह कैसे मानें कि जिसमें लेश्या होती है, ओरा होती है , वह जीव होता है और जिसमें लेश्या नहीं होती, ओरा नहीं होती, वह अजीव होता है ? यह लक्षण घटित नहीं होता । इसमें दोष है। ओरा जीव और अजीव--दोनों में होती है। हम इसे समझें। यह सच है कि पदार्थ में, अजीव में भी ओरा होती है किन्तु

उसकी ओरा निश्चित होती है, वह बदलती नहीं । जीव की ओरा अनिश्चित होती है, बदलती रहती है । कभी उसकी ओरा अच्छी होती है और कभी बुरी होती है । कभी उसके रंग अच्छे हो जाते हैं और कभी बुरे हो जाते हैं और यह इसलिए होता है कि उसको बदलने वाला लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र भीतर विद्यमान है । पदार्थ में ओरा विकिरण होता है किंतु उस विकिरण को बदलने वाला, परावर्तित करने वाला कोई तत्त्व भीतर नहीं है ।

## लेश्या के दो प्रकार

प्राणी की ओरा का नियामक तत्त्व है लेश्या । लेश्या के दो भेद हैं--द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या, पौद्गलिक- लेश्या और आत्मिक-लेश्या । वह निरंतर बदलती रहती है । पदार्थ में यह परिवर्तन नहीं होता । पदार्थ के बारे में एक वैज्ञानिक निश्चित बात कह सकता है, निश्चित नियम बना सकता है । उनके सार्वभौम नियमों की व्याख्या की जा सकती है किन्तु प्राणी के बारे में कोई निश्चित नियम या व्याख्या नहीं की जा सकती । एक शामियाना बंधा है । वह इच्छा हो तो छाया करे, इच्छा न हो तो न करे, ऐसा कभी नहीं होता । यदि वह बंधा है तो निश्चित ही छाया करेगा किन्तु प्राणी के लिए यह घटित नहीं होता । वह जब इच्छा होती है, छाया में बैठ जाता है और जब इच्छा होती है, धूप में बैठ जाता है। गर्मी लगती है तो छाया में आ जाता है और सर्दी लगती है तो धूप में चला जाता है । प्राणी की यह स्वतंत्रता है। अ-प्राणी की यह स्वतंत्रता नहीं होती। रेलगाड़ी के लिए यह सोचना संभव नहीं है कि वह पटरी पर इतने मील चली है, अब सीधे रास्ते से चले किन्तु एक छोटी-सी चींटी के लिए यह संभव है ।

## मौलिक अंतर

प्राणी की जो विशेषता है, वह है उसकी विचार की स्वतंत्रता । विचार का संस्थान, भाव का संस्थान इतना बड़ा है कि उसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, उसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती । मनोवैज्ञानिकों के हजारो-हजारों प्रयोग--अन्वेषणों के बावजूद सभी प्राणियों के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सकता और भविष्य में भी नहीं बनाया जा सकेगा।

प्राणी और पदार्थ में यह मौलिक अन्तर है कि पदार्थ की ओरा निश्चित होती है। उसमें परिवर्तन करने वाला नियामक तत्त्व नहीं होता । प्राणी की ओरा बदलती रहती है । उसमें कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी सफेद रंग उभर आता है। आदमी के भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं । आदमी गुस्से में होता है तो

लाल रंग का ओरा बन जाता है । आदमी शांत होता है तो सफेद रंग का ओरा बन जाता है। ओरा प्राणी का लक्षण है किन्तु इसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिए कि परिवर्तनशील ओरा प्राणी का लक्षण है, लेश्या प्राणी का लक्षण है ।

## लेश्या : एक कारखाना

लेश्या का बहुत बड़ा कारखाना है। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें--इन सब तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, कर्म तक, क्रिया तक पहुंचा देना--यह इसका काम है । यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में यदि कोई संपर्क-सूत्र है तो वह वास्तव में लेश्या है । लेश्या ही संपर्क सूत्र है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के द्वारा जो कुछ बाहर से आता है, वह कच्चा माल होता है। लेश्या उसे लेती है और कषाय तक पहुंचा देती है । वह कच्चा माल कषाय के संस्थान तक पहुंच जाता है । यह लेश्या का काम है। फिर भीतर से वह कच्चा माल पक्का बनकर आता है । जो कर्म जाता है वह फिर विपाक में आता है। भीतरी स्र ाव जो रसायन बनकर आता है, उसे लेश्या अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अतःस्रावी ग्रन्थियों तक पहुंचा देती है। यदि स्थूल शरीर में लेश्या के प्रतिनिधि संस्थानों को खोजें, उनके संस्थानों को खोजें तो जितनी अंतःस्रावी ग्रन्थियों हैं, वे सारी लेश्या की प्रतिनिधि संस्थाएं हैंसंस्थान हैं। उनके सेल्स मैनेजर वहां बैठे हैं, अच्छे ढ़ंग से उनके माल की सप्लाई कर रहे हैं।

## कषायतंत्र

कर्मों के स्राव लेश्या के द्वारा भीतर से आते हैं, वे अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों को उत्तेजित करते हैं । वे स्राव सारे बाहरी व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं । सारा बाहरी व्यक्तित्व इससे बदल जाता है। जो भी माल आता है, वह रंगीन आता है। भीतर जाता है वह भी रंगीन जाता है। बाहर आता है वह भी रंगीन आता है। कषाय शब्द का चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कषाय का अर्थ होता है--रंगा हुआ । लाल रंग से रंगा हुआ या केवल रंगा हुआ । रंगे हुए कपड़े को काषायिक कपड़ा कहा जाता है।

भीतर में बड़ा रंग का संस्थान है--कषाय का तंत्र । वहां बिना रंग की कोई वस्तु नहीं है, रंग ही रंग है । जितने कर्म के परमाणु हैं वे सारे के सारे रंग के परमाणु हैं ।

## लेश्या-तंत्र

एक आदमी हिंसा का विचार करता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है । एक आदमी असत्य बोलता है तो गंदले काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है । एक आदमी क्रोध करता है तो मलिन लाल रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं। एक है--प्रकाशमान रंग और एक है--गन्दला रंग । एक आदमी माया का व्यवहार करता है तो गन्दले नीले रंग के परमाणु आकर्षित करता है । जो आदमी बुरे कार्य करता है, अठारह पाप-स्थानों का सेवन करता है, वह गन्दा काला, गन्दा नीला, गन्दा लाल, गन्दा पीला, गन्दा सफेद- -पांचों गन्दे रंगों के परमाणु आकर्षित करता है और वे परमाणु भीतर के कषाय-तंत्र तक पहुंच जाते हैं । उनको पहुंचाने वाली है--लेश्या । संपर्क -सूत्र का सारा कार्य लेश्या के हाथ में है। फिर वहां से पक-पकाकर जब विपाक हो जाता है, पूरे रंग कर जब वे बाहर आते हैं तब लेश्या उन्हें संभालती है और बाहर तक पहुंचा देती है। विपाक तक पहुंचा देती है । वे विपाक हमारे भिन्न-भिन्न अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं और प्रतिक्रियाएं प्रकट करते हैं। यह रंग का सबसे बड़ा संस्थान है--लेश्या-तंत्र

## जीवन-तंत्र का आधार

हमारा सारा जीवन-तंत्र रंगों के आधार पर चलता है । आज के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अन्तर्-मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है रंग । रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है । यह बहुत बड़ी सचाई है। हम सबसे ज्यादा रंग से प्रभावित होते हैं । रस का भी प्रभाव होता है, गन्ध और स्पर्श का भी प्रभाव होता है, किन्तु रंग जितना प्रभाव डालता है, उतना कोई नहीं डालता । हमारे जीवन का संबंध रंग से है । हमारी मृत्यु का संबंध रंग से है । हमारे पुनर्जन्म का संबंध रंग से है । हमारे भावों और विचारों का संबंध रंग से है। जिस प्रकार के रंग हम ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे भाव बन जाते हैं। जब हम हिंसा का विचार करते हैं तब काले रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं और हमारी आत्मा के परिणाम भी काले रंग के अनुरूप बन जाते हैं । स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वह वैसा ही दिखने लग जाता है । स्फटिक का अपना रंग नहीं होता । उसके सामने काला रंग आता है तो वह काला और पीला रंग आता है तो वह पीला रंग बन जाता है । आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं। आत्मा का परिणाम उस रंग में बदल जाता है । वैसी ही हमारी भाव-लेश्या हो जाती

है ।

एक व्यक्ति मरता है । वह अगले जन्म में पैदा होता है। पूछा गया – वह अगले जन्म में क्या होगा ? कैसा होगा ? उत्तर मिला–जिस लेश्या में मरेगा, उसी लेश्या में उत्पन्न होगा । जिस रंग में मरेगा, उसी रंग में पैदा होगा।

ज्ञान और ध्यान, कर्म और जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म–सबके साथ रंग का सम्बन्ध है । स्थूल व्यक्तित्व का कोई विषय ऐसा नहीं है, जिसके साथ रंग का सम्बन्ध न हो । अंगुली हिलती है । उसका भी अपना रंग है । एक अंगुली का नाम है–तर्जनी। उसका काम है तर्जना देना । उसे ही तर्जनी क्यों कहा गया ? दूसरी अंगुली को तर्जनी क्यों नहीं कहा गया ? उसे तर्जनी इसलिए कहा गया कि उसका रंग तर्जना देने वाला है । हमारी अंगुलियों का, घुटने और एड़ी का, पैर तक के भाग का रंग, कटि भाग और शरीर के ऊपरी भाग का रंग अलग-अलग है । सारा रंग ही रंग है । जो भी हम खाते हैं, वह आहार-पर्याप्ति कोष में जाता है। आहार पर्याप्ति की कोशिकाएं सबसे पहले उन परमाणुओं को रंग और रूप में बदलती हैं, उनको रंग देती हैं । सारे व्यक्तित्व को लेश्या और रंग प्रभावित किए हुए हैं।

## शक्तिशाली-तंत्र

चेतना का एक स्तर है--भाव तंत्र-लेश्या तंत्र । हमारे जीवन की समूची प्रणाली भावतंत्र से संचालित होती है। आत्म-स्पंदन बाहर आते हैं और भाव का एक संस्थान बनता है । वह ऐसा संस्थान होता है कि जीव के स्पंदन की तरंगें एक आकार लेती हैं और एक भाव के रूप में बदल जाती हैं । उससे हमारे समूचे कर्म-तंत्र का संचालन होता है। हमारा बाहरी व्यक्तित्व वही होता है, जिस प्रकार की लेश्या होती है, भाव होता है । जैसा अन्तर् का भाव होता है, जैसी अन्तर् की लेश्या होती होती है, वैसा होता है हमारा बाहर का व्यक्तित्व । हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला सबसे शक्तिशाली तन्त्र है--भाव या लेश्या-तन्त्र । हम लेश्या को बदलें । शक्ति का विकास करें । शक्ति का प्रयोग लेश्या को बदलने में करें । शक्ति के विकास और उसके सही प्रयोग के लिए लेश्या का बदलना जरूरी है । लेश्या-तंत्र को बदले बिना न शक्ति का विकास किया जा सकता है और न शक्ति का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

## लेश्या-तंत्र बदलने की प्रक्रिया

लेश्या-तन्त्र को बदलने की एक प्रक्रिया है । सबसे पहले हम चेतना का उपयोग करें। हम सम्यक्-दृष्टि से यह विवेक करें--निराशा का भाव, शक्ति को क्षय करने का

भाव और अकर्मण्यता का भाव जागता है तो वह व्यक्ति को जीवित ही मृत बना देता है। चेतना का पहला काम है कि व्यक्ति यह भाव करे--'मैं निराशावादी नहीं बनूंगा, हतोत्साह नहीं होऊंगा, अपने हाथों और पैरों को निष्क्रिय नहीं बनाऊंगा, अपनी क्षमता का उपयोग करूंगा, आशा रखूंगा, उत्साह रखूंगा, अपने लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करूंगा ।' जब यह भाव बन जाए तब इस भाव को आकार देने के लिए हम अपनी संकल्पशक्ति का उपयोग करें। इस स्थिति में ही लेश्या को बदलने का सूत्र हस्तगत हो सकता है।

जब भाव शुद्ध नहीं होगा तब विचार शुद्ध नही होंगे, शरीर शुद्ध नहीं होगा। हम विचारों की इतनी चिन्ता न करें । विचार की चिन्ता मनोवैज्ञानिक बहुत करते हैं किन्तु अध्यात्म का साधक सबसे पहले भाव की चिन्ता करता है, लेश्या की चिन्ता करता है। भाव और विचार दो बातें हैं, दोनों भिन्न हैं। भाव का सम्बन्ध है कषाय के स्पन्दनों से और विचार का सम्बन्ध है मस्तिष्क के आवरणों से । हमारे सूक्ष्म-शरीर के अन्दर दो प्रकार के स्पन्दन समानान्तर रेखा में चलते हैं । एक है मोह का स्पन्दन और दूसरा है मोह के विलय का स्पन्दन । दोनों स्पन्दन चलते हैं और वे भाव बनते हैं । कषाय जितना क्षीण होगा, मोह का स्पन्दन उतना ही निर्वीर्य बन जाएगा, शक्ति शून्य और निष्क्रिय बन जाएगा। वह समाप्त नहीं होगा किन्तु उसकी सक्रियता कम हो जाएगी । उसका प्रभाव क्षीण हो जाएगा । जब मोह के विलय का स्पन्दन शक्तिशाली होगा तब भाव मंगलमय और कल्याणकारी होंगे । जब-जब कषाय के स्पन्दन कम होते हैं तब-तब तेजोलेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या के स्पन्दन तथा भाव शक्तिशाली बनते जाएंगे । जब जब मोह के स्पन्दन शक्तिशाली होते हैं, नील और कापोत-लेश्या के स्पन्दन शक्तिशाली होते हैं तब-तब तेजो-लेश्या और पद्म-लेश्या के स्पन्दन क्षीण हो जाते हैं, दो धाराएं हैं। एक ओर तीन काली लेश्याएं हैं, एक ओर तीन प्रकाशमय लेश्याएं हैं।

### लेश्या विज्ञान

महावीर ने कहा--'तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं और तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं । तीन लेश्याएं रूखी हैं और तीन लेश्याएं चिकनी हैं । तीन लेश्याएं ठण्डी हैं और तीन लेश्याएं गर्म हैं ।' कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है भावों को समझने का । आज के रंग-विज्ञान में इसका संवादी सूत्र हमें उपलब्ध है । एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है -'कलर थेरापी' । उसमें कलर के दो डिवीजन किए गए हैं । एक है लाइट कलर और दूसरा है डार्क कलर । एक है गर्म रंग और दूसरा है ठण्डा रंग । वलय है ठोस । रंग की चार छायाएं होती हैं । गर्म रंग और प्रकाशमय छाया, गर्म रंग और अन्धकारमय

छाया, प्रकाश ठण्डा और अन्धकार गर्म। काला रंग, नीला रंग और कापोती रंग--ये तीनों रंगों की लेश्याएं ठण्डी, रुखी होती हैं। जब व्यक्ति के मन में इन लेश्याओं के स्पन्दन जागते हैं तब हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागते हैं। वे रंग इन भावों को उत्पन्न करते हैं। काला रंग भय का निर्माण करता है। जब-जब काले रंग के स्पन्दन जागते हैं तब-तब व्यक्ति के मन में अनायास ही भय की अनुभूति होने लगती है, भय के भाव का निर्माण हो जाता है।

तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या-और शुक्ल -लेश्या ये तीन लेश्याएं गर्म और चिकनी हैं । जब इनके स्पन्दन जागते हैं तब व्यक्ति के भाव निर्मल बनते हैं । अभय, मैत्री, शान्ति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है । जब भाव पवित्र होते हैं, निर्मल होते हैं तब विचार भी निर्मल होते हैं । विचारों का सम्बन्ध कषाय से नहीं है । विचारों का सम्बन्ध है मस्तिष्क से। हमारे भावों को व्यक्त करता है ग्रन्थि-तन्त्र और विचारों का निर्माण करता है नाड़ी-तन्त्र । पहला है भाव, दूसरा है विचार। विचार से भाव नहीं बनता किन्तु भाव से विचार बनता है । जिस लेश्या का भाव होता है, वैसा ही विचार बन जाता है । भाव अन्तरंग-तन्त्र है और विचार कर्म-तन्त्र है । यह करने वाला तन्त्र है भाव । इसलिए हमें विचारों पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है । हम भाव पर ध्यान दें, भाव को निर्मल करें ।

**तन्त्रशास्त्र : महत्त्वपूर्ण प्रयोग**

भावों को निर्मल बनाने का सबसे सरल उपाय है रंगों का ध्यान करना । यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपाय है । चिकने रंगों का ध्यान भावों को निर्मल बनाने में उपयोगी होता है। पीला, लाल और सफेद – ये तीन रंग भाव-शुद्धि के कारण हैं ।

तन्त्रशास्त्र के विषय में लोगों में बहुत भ्रान्तियां हैं। भ्रान्तियां होने के कारण भी हैं कि तन्त्र के आधार पर भैरवीचक्र जैसी पद्धतियां चल पड़ीं और वाम-मार्ग प्रचलित हो गया किन्तु मैं मानता हूं कि तन्त्रशास्त्र ने साधना के महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रस्तुत किए । उन्हें हम शुद्ध आध्यात्मिक प्रयोग कह सकते हैं । कहीं कोई दोष नहीं, कहीं कोई त्रुटि नहीं ।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है–पूरे शरीर को लाल सूर्य जैसे लाल रंग में देखें। छह महीने के इस प्रयोग से वीतरागता सिद्ध हो सकती है ।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है--अपने शरीर को आकाश में स्थित देखें और शरद-ऋतु की संध्या जैसे रंग का ध्यान करें। छह महीने तक ऐसा निरन्तर करने पर वीतराग भाव घटित होने लगता है।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है--नासाग्र पर स्वर्ण के रंग का या श्वेत वर्ण का ध्यान । यह प्रयोग करने से दूषित भावना से मुक्ति मिल जाती है । चेतना के विकास, इन्द्रिय जय, ज्ञानशक्ति और वीतरागता के अनेक प्रयोग तन्त्रशास्त्र ने प्रस्तुत किए । वे सारे महत्त्वपूर्ण प्रयोग लेश्या के सिद्धांत से संबद्ध हैं । रंगों का महत्त्व कम नहीं है । हमारे समूचे भाव-तन्त्र पर रंगों का प्रभुत्व है । रंगों के द्वारा शारीरिक बीमारियां मिटाई जा सकती हैं , मानसिक दुर्बलताओं को मिटाया जा सकता है और आध्यात्मिक मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। लेश्या पद्धति आध्यात्मिक मूर्च्छा को मिटाने की महत्त्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति है । दूषित भावों और विकृत विचारों द्वारा जो जहर शरीर में पैदा होता है, एकत्रित होता है,उसे बाहर निकालने की यह अपूर्व पद्धति है। रंगों के ध्यान से या रंग चिकित्सा से संचित विष बाहर निकलते हैं, भाव तथा विचार निर्मल बनते हैं।

### लेश्या-ध्यान का महत्व

रंग का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है । जो व्यक्ति श्वेत वर्ण में अर्हं का ध्यान करता है, वह नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है । उसके शरीर में संचित विष समाप्त हो जाते हैं । जो व्यक्ति अरुण वर्ण (बाल-सूर्य जैसा लाल वर्ण) का ध्यान करता है, उसमें तेजो-लेश्या के स्पन्दन जागते हैं, उसकी मन की दुर्बलता समाप्त हो जाती है। मनुष्य का मन इतना कोमल और नाजुक है कि वह थोड़ी भी प्रतिकूल स्थिति को सह नहीं सकता । मन की इस दुर्बलता को लेश्या-ध्यान के द्वारा मिटाया जा सकाता है । घटना को नहीं रोका जा सकता, मन को टूटने से बचाया जा सकता है । मन को टूटने से बचाने का महत्त्वपूर्ण उपाय है लेश्याध्यान ।

अर्हं के ध्यान द्वारा भावों का भी अद्भुत ढंग से परिवर्तन होता है । जब हम गर्म रंगों (पीला, लाल, श्वेत) का ध्यान करते हैं और उनसे तन्मयता प्राप्त करते हैं तब हमारे भाव परिवर्तित हो जाते हैं । विचारने और सोचने की जरूरत नहीं, सहज बदल जाते हैं । सारे स्पन्दन वदल जाते हैं । विचार और मोह के स्पन्दन गर्म रंगों के स्पन्दनों से रुक जाते हैं, निर्वीय हो जाते हैं। साथ-साथ कषाय-विलय और मूर्च्छा-विलय के जो स्पन्दन होते हैं, उन्हें शक्ति मिलती है, वे सक्रिय हो जाते हैं । लाल-रंग या नारंगी रंग टॉनिक का काम करता है । यह महत्त्वपूर्ण रसायन है। इससे पूरी सक्रियता पैदा होती है, अणु-अणु में गर्मी आ जाती है।

### लेश्या और मानसिक चिकित्सा

रंगों के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है। जिसे

आसमानी रंग पसन्द होता है वह बोलने में दक्ष, सहृदय और गम्भीर होता है। वह मनोविकार, उत्साह आदि वृत्तियों पर नियंत्रण पा लेता है । जिसे पीला रंग पसन्द हो, वह विचारक और आदर्शवादी होता है। लाल रंग को पसन्द करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान्, सहिष्णु और व्यवहार-कुशल होता है । काले रंग को पसन्द करने वाला दीन भावना से घिरा होता है । श्वेत रंग को पसन्द करने वाला सात्त्विक वृत्ति और सात्त्विक भावना वाला होता है ।

सूर्य का रंग पारे के सामान श्वेत, चन्द्रमा का रंग चांदी के समान रुपहला, मंगल का तांबे के समान लाल, बुध का हरा, वृहस्पति का सोने के समान पीला, शुक्र का नील, शनि का आसमानी, राहु का काला, केतु का आसमानी रंग है । उनकी किरणें भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती है । सूर्य की किरणें निर्मल होती हैं तो उनका भिन्न प्रकार का प्रभाव होता है । उसकी किरणों के साथ मंगल आदि दूसरे ग्रहों की किरणें मिल जाती हैं तब उनका प्रभाव दूसरे प्रकार का होता है।

रंगों के गुणों और प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण प्राप्त होता है । प्रत्येक रंग के अनेक पर्याय होते हैं और प्रत्येक पर्याय के गुण और प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। निर्मल भावना, ध्येय और उसके अनुरूप रंगों का चयन कर अनेक मानसिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

## लेश्या और चैतन्य-केन्द्र

हमारे शरीर में अनेक चैतन्य-केन्द्र हैं । जब आर्त्त और रौद्रध्यान होता है तब अशुद्ध लेश्या होती है । उस स्थिति में चैतन्य-केन्द्र सुप्त रहते हैं । धर्म और शुक्ल ध्यान होता है तब लेश्या शुद्ध होती है । उस स्थिति में चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं । चैतन्य-केन्द्र हमारी चेतना और शक्ति की अभिव्यक्ति के स्रोत हैं । उन्हें जागृत करने की दो पद्धतियां हैं—

१. विशुद्ध लेश्या की भावधारा द्वारा चैतन्य-केन्द्र स्वयं जागृत हो जाते हैं ।

२. चैतन्य-केन्द्रों पर अवधान नियोजित करने पर भी वे जागृत हो जाते हैं।

महावीर ने इसीलिए अप्रमाद का सूत्र दिया । अप्रमत रहने वाले व्यक्ति की लेश्या शुद्ध होती है, उसके चैतन्य-केन्द्र सहज ही जागृत हो जाते हैं और ये चैतन्य-केन्द्र अप्रमत्त रहने के आलम्बन भी बनते हैं। सुप्त चैतन्य-केन्द्र पर मन विचरण करता है तब कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा उभरती है । चैतन्य-केन्द्रों के जागृत हो जाने पर तैजस, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा बनती है ।

अप्रमत्त अवस्था में अध्यवसाय शुद्ध बनता है । उससे लेश्या शुद्ध होती है।

उसके शुद्ध होने पर ही मनुष्य का स्वभाव बदल सकता है, आदतों में परिवर्तन आ सकता है, रुचि और आकांक्षा को नया मोड़ दिया जा सकता है । लेश्या की शुद्धि हुए बिना जीवन-परिवर्तन की दिशा में एक पैर भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। व्यक्तित्व के परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है–लेश्या का विशुद्धीकरण । लेश्या के विशुद्धीकरण का सूत्र है शुद्ध अध्यवसाय और शुद्ध अध्यवसाय का आधार है धर्म और शुक्ल ध्यान । ध्यान और लेश्या में गहरा सम्बन्ध है। ध्यान अशुद्ध होता है तो लेश्या अशुद्ध हो जाती है, आभमंडल विकृत बन जाता है । ध्यान शुद्ध होता है तो लेश्या शुद्ध हो जाती है, आभामंडल स्वस्थ और निर्मल बन जाता है ।

# आभामंडल

महावीर ने लेश्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्वान्त है। प्रत्येक व्यक्ति के पास एक आभामंडल और एक भाव-मंडल होता है। भावमंडल हमारी चेतना है। चेतना के साथ-साथ जो एक पौद्गलिक संस्थान है, उसे आभामंडल कहते हैं । चेतना हमारे तैजस शरीर को सक्रिय बनाती है। जब यह विद्युत्-शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। ये विकिरण व्यक्ति के शरीर के चारों ओर वलयाकार घेरा बना लेते हैं । यह आभामंडल है। जैसा भावमंडल होता है वैसा ही आभामंडल बनता है। भावमंडल विशुद्ध होगा तो आभामंडल भी विशुद्ध होगा । भावमंडल मलिन होगा तो आभमंडल भी मलिन होगा, धब्बों वाला होगा । हम भावधारा, परिणामधारा को बदलकर आभामंडल को बदल सकते हैं ।

**लेश्या और आभमंडल**

संकल्प-शक्ति का प्रयोग, एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग और इच्छाशक्ति का प्रयोग-- जब ये तीनों प्रयोग एक साथ मिलते हैं तब लेश्या का रूपान्तरण हो जाता है। जब लेश्या बदलती है तब आभामंडल भी बदलता है । हमारे अन्तःकरण में, सूक्ष्म शरीर के भीतर छह लेश्याएं हैं, भाव का मंडल है और उसका संवादी अंग है आभामंडल। यह हमारे शरीर के चारों ओर गोलाकार रूप में होता है । जैसी लेश्या, वैसा आभामंडल। जैसा भावमंडल वैसा आभामंडल । भाव बदलता है, साथ-साथ में आभामंडल बदल जाता है। जब भाव उदात्त होता है, पवित्र होता है तब आभामंडल के रंग बदल जाते हैं। जब भाव अच्छा होता है तब आभामंडल का रंग पीला हो जाता है, लाल या सफेद हो जाता है। सारे धब्बे समाप्त हो जाते हैं । ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। भावमंडल हमारी शक्ति को विकसित करता है और आभामंडल बाहर से आने वाली बाधाओं को रोकता है ।

जब तेजोलेश्या का आभामण्डल बनता है तब विचारों के लिए दरवाजे बन्द हो जाते हैं । कोई बाहरी विचार भीतर नहीं जा सकता । जब पद्मलेश्या का

आभामण्डल बनता है तब बुरे विचार अन्दर प्रवेश नहीं पा सकते । जब शुक्ल-लेश्या का आभामण्डल बनता है तब सारी बातें समाप्त हो जाती हैं । बाहर का संक्रमण बन्द हो जाता है। इस स्थिति में ही व्यक्ति अकेला बनता है । समूह में रहते हुए भी वह अकेला बन जाता है । इस संक्रमण के जगत् में जीने वाला कोई व्यक्ति अकेला नहीं बन सकता। वह भले ही अकेला रहे पर इन सूक्ष्म परमाणुओं के लिए अकेला नहीं रह जाता। जो व्यक्ति तेजोलेश्या,पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या से आभामंडल का निर्माण कर लेता है, वह हजारों-हजारों की भीड़ में रहता हुआ भी सचमुच अकेला बन जाता है। जब आभामंडल या भावमंडल शक्तिशाली बन जाता है तब व्यक्ति बाहरी प्रभाव से प्रभावित नहीं होता ।

### लेश्या : नामकरण का आधार

मनुष्य में जैसी लेश्या होती है वैसा उसका आभामंडल बनता है, इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के आभामंडल भी छह प्रकार के बन जाते हैं। छह वर्ण वाले पुद्गल-परमाणु मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करते हैं । उनके आधार पर मनुष्य की विचारधारा भी छह रंगी बन जाती है ।

जो पुद्गल-परमाणु मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करते हैं और जिन पुद्गल-परमाणुओं से आभामंडल निर्मित होते हैं, उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श--ये चारों होते हैं । उनमें वर्ण मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है इसीलिए वर्ण के आधार पर लेश्याओं के नामकरण प्रस्तुत किए गए हैं ।

### आभामंडल : विचित्रता का कारण

वर्ण अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। काला वर्ण अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है । प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है । मनोज्ञ भी होता है, अमनोज्ञ भी होता है । श्वेत वर्ण भी अच्छा-बुरा, प्रशस्त-अप्रशस्त या मनोज्ञ-अमनोज्ञ होता है । कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के आभामंडल में होने वाले कृष्ण, नील और कापोत वर्ण अप्रशस्त होते हैं। तेजस्, पद्म् और शुक्ल लेश्या के आभामंडल में होने वाले रक्त, पीत और श्वेत वर्ण प्रशस्त होते हैं ।

भावधारा की विचित्रता के आधार पर आभामंडल के वर्ण भी विचित्र बन जाते हैं । वर्ण की विचित्रता भावधारा की विचित्रता का बोध कराने में सक्षम होती है। हम भावधारा को साक्षात् नहीं देख पाते , नहीं जान पाते, वर्णों की विचित्रता के आधार पर भावधारा का अनुमान कर सकते हैं।

## वर्ण : व्यक्तित्व की पहचान

आभामंडल में काले रंग की प्रधानता हो तो मानना चाहिए--व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं हैं, आकांक्षा प्रबल है , प्रमाद प्रचुर है, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन और काया का संयम नहीं है, इंद्रियों पर विजय प्राप्त नहीं है, प्रकृति क्षुद्र है, विना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता है ।

आभामंडल में नील वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है--व्यक्ति में ईर्ष्या, कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसक्ति , प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता , सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिंसा में प्रवृत्ति-- इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है ।

आभामंडल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है--व्यक्ति में वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्ट वचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्यादृष्टि--इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है।

आभामंडल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है--व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाला, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

आभामंडल में पीतवर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि वह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाला, प्रशान्त चित्त वाला, समाधिस्थ, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय और आत्मसंयम करने वाला है ।

आभामंडल में श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है--वह व्यक्ति प्रशान्त चित्त वाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन और काया का संयम करने वाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न, ध्यानलीन और आत्म-संयम करने वाला है ।

## अधिक मूल्यवान् है भीतर की निर्मलता

कृष्ण-लेश्या का वर्ण काला होता है । कोरा वर्ण ही काला नहीं होता, उसमें दुर्गन्ध भी होती है । कृष्ण-लेश्या के परमाणुओं में दुर्गन्ध होती है । दुर्गन्ध भी मरे हुए कुत्ते की सडांध से अनन्तगुना अधिक । वह दुर्गन्ध हम अपने भीतर लिए बैठे हैं। हम बाहर की दुर्गन्ध को मिटाने के लिए कभी-कभी इत्र या सुगन्ध का प्रयोग करते हैं, उससे बाहर की दुर्गन्ध इतनी नहीं सताती । परंतु हम यह अनुभव करें कि भीतर के परमाणुओं में कितनी दुर्गन्ध है । कृष्ण-लेश्या का रस कड़वे तुंबे से भी अनन्तगुना कड़वा होता है । उसका स्पर्श करवत से भी अनन्तगुना ज्यादा कर्कश

होता है । इस प्रकार के कृष्ण-लेश्या के परमाणुओं को हम भीतर में आभामंडल के साथ जोड़े हुए हैं । हम खड़े होते हैं तो वह आभामंडल खड़ा हो जाता है । हम सोते हैं तो वह आभामंडल सो जाता है । हम चलते हैं तो वह आभामंडल चलने लग जाता है । वह हमारा साथ कभी नहीं छोड़ता । इसी प्रकार नील-लेश्या का आभामंडल भी हमारा साथ नहीं छोड़ता ।

नील-लेश्या के आभामडल में नील-लेश्या के परमाणुओं का रस त्रिकटु और गजपीपल के रस से भी अनन्तगुना तीखा होता है।

कापोत लेश्या के आभामंडल में कापोत लेश्या के परमाणुओं का रस कच्चे आम और कच्चे कपित्थ के रस से भी अनन्तगुना कषैला होता है।

हम अपने भीतर ऐसे-ऐसे रसायनों को संजोए बैठे हैं किन्तु बाहर से साफ रहने का प्रयत्न कर रहे हैं । हम इस तथ्य को समझें—बाहर से भीतर की निर्मलता अधिक मूल्यवान् होती है।

**आभामंडल : विज्ञान का मत**

अमरीकन महिला वैज्ञानिक डॉ जे० सी० ट्रस्ट ने सूक्ष्म संवेदनशील कैमरे से आभामण्डल के फोटो लिये । उसने बताया—"मैंने देखा कि जो लोग बाहर से साफ सुथरे रहते हैं किन्तु भीतर में मलिनता को संजोए रहते हैं, उनके आभामण्डल अत्यन्त विकृत और गंदे होते हैं । जो लोग शरीर से साफ सुथरे नहीं हैं किन्तु भीतर से पवित्र हैं, उनके आभामण्डल बहुत स्वच्छ और निर्मल होते हैं ।"

हब्शी महिला लिलियन ने कहा-'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा यथार्थ बात जान लेती हूं। मैं लोगों के आभामंडल में प्रविष्ट होकर उनके चरित्र का वर्णन कर सकती हूं किंतु शराबी आदमी के चरित्र को मैं नहीं जान सकती क्योंकि शराबी आदमी का आभामण्डल अस्त-व्यस्त हो जाता है । वह इतना धुंधला होता है कि उसके रंगों का पता ही नहीं चलता ।'

हमारी भावनाएं, हमारे आचरण आभामंडल के निर्माता हैं। जब भावना और आचरण पवित्र होता है तब आभामंडल बहुत सशक्त और निर्मल होता है। जब भावधारा और चरित्र मलिन होता है तब आभामंडल धूमिल, विकृत और दूषित हो जाता है ।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रॉनिक विशेषज्ञ सेमयोन किर्लियान तथा इनकी वैज्ञानिक पत्नी 'बेलेन्टिना' ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया । उस विधि द्वारा प्राणियों और पौधे के आस-पास होने वाले सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का छायांकन किया जा सकता है । जब एक पौधे से तत्काल तोड़ी गयी पत्ती की सूक्ष्म

गतिविधियों की फिल्म खींची गई तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आये । पहले चित्र में पत्ती के चारों ओर स्फुलिंगों झिलमिलाहटों और स्पंदी ज्योतियों के मंडल दिखाई दिये। दस घंटे बाद लिए गए छाया-चित्रों में ये आलोक मंडल क्षीण होते दिखाई दिये। अगले दस घंटों के छाया-चित्रों में आलोक मंडल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे । इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान दम्पति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खींची। उसमें आलोक मंडल प्रारंभ से ही कम था । वह शीघ्र ही समाप्त हो गया । किर्लियान दम्पती ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यंत निकट से मानव शरीर के छाया-चित्र खींचे। उन छाया-चित्रों में गर्दन, हृदय, उदर आदि अवयवों पर विभिन्न रंगों के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये । वे उन अवयवों से विसर्जित होने वाली विद्युत् ऊर्जाओं के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवों में भी होती है । पशु-पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है इसलिए आभामडल भी प्राणीमात्र में होता है।

## लेश्या : कषाय और योग

ऑकल्ट साइन्स के पुरस्कर्ताओं ने ओरा के दो प्रकार बतलाए--

१. इमोशनल ओरा (भावनात्मक आभामंडल)

२. मेण्टल ओरा (मानसिक आभामंडल)

लेश्या के सिद्धान्त में भी ये दो शब्द मिलते हैं । लेश्या दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की लेश्या का सम्बन्ध है कषाय से और दूसरी प्रकार की लेश्या का सम्बन्ध है योग से। 'कषायप्रवृत्तिरंजिता लेश्या'-लेश्या कषाय की प्रवृत्ति (उदय) से रंजित होती है और लेश्या योग के द्वारा संचालित होती है । लेश्या का सम्बन्ध दो आन्तरिक शक्तियों-- कषाय और योग से है। योग-लेश्या मानसिक आभामंडल (मेंटल ओरा ) का निर्माण करती है। कषाय-लेश्या भावनात्मक आभामंडल (इमोशनल ओरा) का निर्माण करती है। इस प्रकार आभामंडल में दो तत्त्व काम करते हैं -- मन और भावना । कषाय का स्रोत जितना तीव्र होता है, हमारी शक्तियां उतनी ही क्षीण होती हैं, तैजस-शरीर दुर्बल बनता चला जाता है । चंचलता अधिक होती है, आभामंडल क्षीण होता जाता है । मन जितना सक्रिय रहेगा, वाणी और शरीर जितना सक्रिय रहेगा, उतनी ही शक्ति का व्यय अधिक होगा । जब शक्ति का व्यय अधिक होता है तब उसका संग्रह हो नहीं सकता । शक्ति के अतिरिक्त संचय के बिना नई दिशाओं का उद्घाटन नहीं हो सकता, साधना के नये आयाम नहीं खुल सकते ।

## सुरक्षा कवच

हम निर्विचार रहना सीखें। निर्विचारता में विद्युत् की खपत कम होगी । विद्युत्

और तैजस का संचय रहेगा । एक ओर हम प्राण-प्रयोग के द्वारा, भीतर में प्राण-शक्ति को भरें, तैजस-शरीर को शक्तिशाली बनाएं दूसरी ओर उस विद्युत् की खपत को कम करें, हमारी शक्ति का भंडार बढ़ेगा । इस स्थिति में शक्ति का जागरण होगा, हमारा आभामंडल शक्तिशाली बनेगा। हमारा भाव-तंत्र शक्तिशाली बनेगा और हम अपने आस-पास एक ऐसे कवच का निर्माण करने में सफल होंगे, जो कवच सारे बाहरी आक्रमणों और संक्रमणों से बचाता रहेगा ।

हम शुभ भावना करते हैं तब शुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे शुभ पुद्गल हमारे आभामंडल को निर्मल बनाते हैं । जैसे अनुकूल भोजन से शरीर पुष्ट होता है और प्रतिकूल भोजन से वह क्षीण होता है ,वैसे ही पवित्र भावना से शरीर और आभामंडल—दोनों स्वस्थ होतें हैं, अपवित्र भावना से दोनों क्षीण होते हैं । भय, शोक, ईर्ष्या आदि के द्वारा अनिष्ट पुद्गलों का ग्रहण होता है, उनसे शरीर और आभामंडल- दोनों विकृत होते हैं।

अशुभ भावना से बचने के लिए बाहरी निमित्तों का उपयोग किया जा सकता है । वे निमित्त हमारी लक्ष्यपूर्ति में सहयोगी बनते हैं । रंगों की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग रंगों की समुचित पूर्ति होने पर मिट जाते हैं, यह उनका शारीरिक प्रभाव है। इसी प्रकार रंगों के परिवर्तन और मात्रा-भेद से मन प्रभावित होता है और चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं।

### वैज्ञानिक उपकरण और आभामंडल

प्राचीनकाल में साधना के आचार्य अपने शिष्य की पहचान, उसकी योग्यता की परख उसके आभामंडल के आधार पर करते थे । उसकी लेश्या और भावमंडल को देखकर उसे जान लेते थे । जैसा भावमंडल वैसा आभामंडल। आभामंडल यह बता देगा कि इस व्यक्ति का भावमंडल कैसा है और भावमंडल यह बता देगा कि व्यक्ति कैसा है । वहां कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता । आज की दुनिया में ऐसे वैज्ञानिक उपकरण प्राप्त हैं , जिनके द्वारा व्यक्ति के अन्तर्मन को देखा जाता है, अपराधों की जांच की जाती है । अपराधों की खोज करने वाली शाखाएं इस प्रकार के उपकरणों का उपयोग करती हैं । मशीनें बता देती हैं कि अमुक ने चोरी की या नहीं की । अमुक झूठ बोल रहा है या सच ? व्यक्ति से पूछने की जरूत नहीं । मशीन के सामने बिठा दिया जाता है। यंत्र की सूई घूमती है। ग्राफ उतरता है। पता लग जाता है अपराध का और अपराधी का । उसमें भी धोखा हो सकता है। क्योंकि व्यक्ति के सामने जब यह वातावरण होता है तब उसके मन की भी क्रियाएं बदल जाती हैं। उसमें धोखे की संभावना है किन्तु आभामंडल में धोखा होने की कोई संभावना नहीं

है ।

आज के वैज्ञानिकों ने अनेक गवेषणाओं के बाद यह घोषणा की–शरीर में जो रोग होगा, उसकी पूर्व सूचना तीन महीने पहले मिल जाएगी। तीन महीने पहले वह रोग आभामंडल में उतर आएगा । फिर धीरे-धीरे वह स्थूल शरीर तक पहुंचेगा। उसको वहां अभिव्यक्त होने में तीन महीने लग जाएंगे । तीन महीने पहले जब यह ज्ञात हो जाएगा कि अमुक रोग उभरने वाला है तब व्यक्ति उसकी पूर्व चिकित्सा करा लेगा, जिससे कि वह रोग उभरे ही नहीं । अनेक महीनों पूर्व यह घोषणा की जा सकती है कि यह व्यक्ति अमुक दिन मरेगा, क्योकि आभामंडल पर मृत्यु पहले ही उतरने लग जाती है।

हमारे सूक्ष्म जगत् में घटित होने वाले सारे निर्देशों का संवाहक आभामंडल है। अध्यवसाय में, कर्म शरीर में घटित होने वाली घटनाएं, जो सूक्ष्म-स्पन्दन के रुप में घटित हो रही है, उनको भाव जगत् में उतारने वाला है आभामंडल । भाव-जगत् में जो घटनाएं उतरती हैं, उनके सारे निर्देश आभामंडल में पहुंचते हैं । इन सारे संदर्भों में कहा जा सकता है–आभामंडल को समझे बिना, उसे विशुद्ध बनाए बिना श्रेष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती।

# अतीन्द्रिय चेतना

मनुष्य का व्यक्तित्व दो आयामों में विकसित होता है । उसका बाहरी आयाम विस्तृत और निरंतर गतिशील होता है । उसका आन्तरिक आयाम संकुचित और निष्क्रिय होता है । उसके बाहरी आयाम की व्याख्या स्थूलशरीर, वाणी, मन और बुद्धि के आधार पर की जाती है । उसके आन्तरिक आयाम की व्याख्या सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर, प्राण-शक्ति, प्रज्ञा (अतीन्द्रिय चेतना ) और अमूर्च्छा के आधार पर की जा सकती है । बाहरी व्यक्तित्व से हमारा घनिष्ट संबंध है । उसमें बुद्धि का स्थान सर्वोपरि है, इसलिए वह हमारे चिंतन की सीमा बन गयी । उससे परे पराविद्या की भूमिका है । पराविद्या का पहला चरण है बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण । जैसे ही प्रज्ञा का जागरण होता है, बुद्धि की सीमा अतिक्रांत हो जाती है । प्रज्ञा की सीमा में प्रवेश करते ही यह ज्ञात होता है कि बुद्धि मनुष्य की चेतना का अंतिम पड़ाव नहीं हैं । इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है । बाहरो व्यक्तित्व इस सीमा से आगे नहीं जा सकता । इस सीमा को पार करते ही मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व उजागर हो जाता है । वहां प्राण-शक्ति प्रखर होती है और चेतना सूक्ष्म । बुद्धि की सीमा में पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का न होना संभव नहीं माना जाता किन्तु प्रज्ञा की सीमा में समता का भाव निर्मित होता है और अमूर्च्छा संभव बन जाती है । पराविद्या के क्षेत्र में प्राण-ऊर्जा और अतीन्द्रिय चेतना का अध्ययन किया गया है किन्तु अमूर्च्छा या वीतरागता उसके अध्ययन का विषय अभी नहीं बन पाया है । यह परामनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हो सकती है । अभी तक परामनोविज्ञान का अध्ययन चार विषयों तक सीमित है--अतीन्द्रिय-ज्ञान (CLAIRVOYANCE), विचार-संप्रेषण (TELEPATHY) पूर्वाभास (PRE-COGNITION) और मस्तिष्कीय आन्दोलन द्वारा प्राणी जगत् और पदार्थ का प्रभावित होना (PSYCHO-KINESIS) ।

अमूर्च्छा का विधायक अर्थ है--समता । उसका विकास होने पर अतीन्द्रिय चेतना अपने आप विकसित होती है । परामनोविज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले

लोग केवल अतीन्द्रिय चेतना के विकास की खोज में लगे हुए हैं । यह खोज बहुत लंबी हो सकती है और अनास्था भी उत्पन्न कर सकती है ।

## परमात्म-दर्शन

भारतीय दर्शन में परमात्म दर्शन की बहुत बड़ी चर्चा है। जैन आचार्यों ने नमस्कार महामंत्र की चर्चा की, उसमें बहुत यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत है। पांच परमात्मा हैं– अर्हत् , सिद्ध, आचार्य , उपाध्याय और साधु। इतना व्यापक अर्थ दे दिया कि साधु यानी साधना करने वाला हर व्यक्ति परमात्मा है। जो व्यक्ति अपनी चेतना की साधना करता है, वह परमात्मा है। साधना का सूत्र है समता । जिसने समता का मूल्यांकन किया है, जिसने समता को जीना सीखा है और इन राग-द्वेष की ग्रंथियों, हीनता और अहंकार से ऊपर उठकर समत्व का अनुभव किया है, वह हर व्यक्ति परमात्मा है। समता के क्षण का जो अनुभव करता है, वह परमात्मा का दर्शन करता है। समता का दर्शन परमात्मा का दर्शन है, आत्मा का दर्शन है। जो व्यक्ति सामायिक करता है, समता की साधना करता है, वह व्यक्ति परमात्मा की आराधना करता है, परमात्मा का अनुभव करता है।

## भावतंत्र का परिष्कार

अग्रमस्तिष्क (फ्रंटल लॉब ) कषाय या विषमता का केन्द्र है। अतीन्द्रिय चेतना का केन्द्र भी वही है । जैसे-जैसे विषमता समता में रूपान्तरित होती है वैसे-वैसे अतीन्द्रिय चेतना विकसित होती चली जाती है। उसका सामान्य बिन्दु प्रत्येक प्राणी में विकसित होता है। उसका विशिष्ट विकास समता के विकास के साथ ही होता है। मनुष्य के आवेगों और आवेशों पर हाइपोथेलेमस का नियंत्रण है। उससे पिनियल और पिच्यूटरी ग्लैण्ड्स प्रभावित होते हैं। उनका स्राव एड्रीनल ग्लैण्ड को प्रभावित करता है। वहां आदेश प्रकट होते हैं । ये आवेग अतीन्द्रिय चेतना को निष्क्रिय बना देते हैं। उसकी सक्रियता के लिए हाइपोथेलेमस और पूरे ग्रन्थितंत्र को प्रभावित करना आवश्यक होता है। ग्रन्थितंत्र का संबंध मनुष्य के भावपक्ष से है। भावपक्ष का सृजन इस स्थूल-शरीर से नहीं होता । उसका सृजन सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर से होता है। सूक्ष्म शरीर से आने वाले प्रतिबिम्ब और प्रकंपन हाइपोथेलेमस के द्वारा ग्रन्थितंत्र में उतरते हैं। जैसा भाव होता है, वैसा ही ग्रन्थियों का स्राव होता है और स्राव के अनुरूप ही मनुष्य का व्यवहार और आचरण बनता है। यह कहने में कोई जटिलता नहीं लगती कि मनुष्य के व्यवहार और आचरण का नियंत्रण ग्रन्थितंत्र करता है और ग्रन्थितंत्र का नियंत्रण हाइपोथेलेमस के माध्यम से भावतंत्र करता है। भावतंत्र सूक्ष्मशरीर के स्तर

पर सूक्ष्म-चेतना के साथ जन्म लेता है। स्मृति, कल्पना और चिन्तन की पवित्रता से भावतंत्र प्रभावित होता है और उससे ग्रन्थितंत्र का स्राव बदल जाता है। उस रासायनिक परिवर्तन के साथ मनुष्य का व्यवहार और आचरण भी बदल जाता है। यह परिवर्तन मनुष्य की अतीन्द्रिय चेतना को सक्रिय बनाने में बहुत सहयोग करता है।

**समानता का दर्शन**

हमारी अतीन्द्रिय चेतना जाग सकती है यदि हमारी ऐसी दृष्टि विकसित हो जाए, प्रज्ञा इतनी निर्मल हो जाए कि हम असमानता के नीचे छिपी हुई समानता को देख सकें।

कबीर का बेटा कमाल घास काटने जंगल में गया । सांझ तक घर नहीं लौटा। कबीर चिन्तित हो गए । वे उसे खोजते-खोजते जंगल में पहुंचे । उन्होंने देखा--कमाल पागल की तरह खड़ा है। वह घास को देख रहा है, काट नहीं रहा है । कबीर ने उसे झकझोरा , पूछा--क्या कर रहे हो ? सूर्य अस्त हो चुका है । घास काटा ही नहीं। कमाल बोला--किसे काटूं ? क्या अपने आपको काटूं ? जैसी प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है वैसी ही प्राणधारा इस घास के भीतर प्रवाहित होते हुए देख रहा हूं। कैसे काटूं? किसे काटूं ? अब कमाल घास नहीं काट सकता ।

समानता की अनुभूति को भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी--

*तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि*

पुरुष ! तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है ।

*तुमंसि नाम सच्चेव ज अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।*

जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।

*तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि।*

जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।

*तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि ।*

जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है , वह तू ही है।

*तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दावेयव्वं ति मन्नसि।*

जिसे तू मारने योग्य मानता है वह तू ही है।

यह परम सत्य की अनुभूति अनेकान्त के आधार पर हुई है। वास्तव में अनेकान्त ध्यान का दर्शन है, साधना का दर्शन है। जिस व्यक्ति की चेतना निर्मल होती है, राग-द्वेष से विमुक्त होती है, उसमें अनेकान्त की दृष्टि जागती है, सत्य की प्रज्ञा जागती है, अन्यथा नहीं ।

## प्रज्ञा का जागरण

हमारे भीतर प्रज्ञा है। उसको कैसे जगाया जाए, यह सोचना है । उसको जगाने के जो सूत्र हैं, वे जीवन विज्ञान के सूत्र हैं। हमारी प्रज्ञा तब जागती है, जब आलस्य, प्रमाद और मूर्च्छा का वलय टूटता है । वाल्मीकी एक क्षण में डाकू से ऋषि बन गया। यह बुद्धि या चिन्तन के स्तर होने वाली घटना नहीं थी । उसकी प्रज्ञा जागी, अन्तःकरण में स्फुरणा जागी और वह डाकू से महर्षि बन गया । उसमें एक ही क्षण लगा, दो नहीं । यह द्रुत संचरण है, छलांग है । यह छलांग चिन्तन से परे प्रज्ञा की देन है ।

## शरीर की क्षमता : मन की क्षमता

मनुष्य का शरीर अनेक रहस्यों से जुड़ा हुआ है। शरीर के कुछ भाग ज्ञान और संवेदन के साधन बने हुए हैं । वे भाग 'करण' कहलाते हैं । आंख एक 'करण' है । उसके माध्यम से रूप को जाना जा सकता है किन्तु मनुष्य के पूरे शरीर में 'करण' बनने की क्षमता है। यदि संकल्प के विशेष प्रयोगों के द्वारा पूरे शरीर को 'करण' किया जा सके तो कपोलों से भी देखा जा सकता है, हाथ और पैर की अंगुलियों से भी देखा जा सकता है । यह इन्द्रिय चेतना का ही विकास है। इसे अतीन्द्रिय चेतना का विकास नहीं कहा जा सकता । पूरे शरीर से सुना जा सकता है, चखा जा सकता है, गंध का अनुभव किया जा सकता है ।

इन्द्रिय चेतना की भांति मानसिक चेतना का भी विकास किया जा सकता है। स्मृति मन का एक कार्य है। इसे विकसित करते-करते पूर्वजन्म की स्मृति (जातिस्मृति) हो जाती है। यह भी अतीन्द्रिय चेतना (एक्स्ट्रा सेंसरी पर-सेप्सशन-ई० एस० पी०) नहीं है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-आस्वादन और दूर-स्पर्शन का विकास भी इन्द्रिय चेतना का ही विकास है । ये सब विशिष्ट क्षमताएं हैं फिर भी इन्हें अतीन्द्रिय चेतना (ई० एस० पी०) नहीं कहा जा सकता । कल्पना और चिन्तन के विकास से भी अनेक अज्ञात रहस्य जान लिये जाते हैं किन्तु वे अतीन्द्रिय चेतना की उपलब्धि नहीं हैं। औत्पत्तिकी बुद्धि के द्वारा अदृष्ट, अश्रुत बातें जान ली जाती हैं पर यह अतीन्द्रिय चेतना का विकास नहीं है।

## पूर्वाभास अतीन्द्रिय ज्ञान है ?

परामनोविज्ञान के अनुसार पूर्वाभास अतीन्द्रिय ज्ञान है पर वास्तव में वह संधिकालीन ज्ञान है । उसे न इन्द्रिय ज्ञान कहा जा सकता है और न अतीन्द्रिय ज्ञान। वह इन्द्रिये और मन से उत्पन्न नहीं है इसलिए उसे इन्द्रियज्ञान नहीं कहा जा सकता।

अतीन्द्रियज्ञान की क्षमता उत्पन्न होने पर भविष्य में घटित होने वाली घटना अथवा अतीत-कालीन घटना को प्रत्येक अवधान के साथ जाना जा सकता है किन्तु पूर्वाभास में ऐसा नहीं होता । उसमें भविष्य की घटना का आकस्मिक आभास होता है। अवधान के साथ उसके ज्ञान का निश्चित संबंध नहीं होता इसलिए उसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता । वह दिन और रात की संधि की भांति इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान का संधिज्ञान है।

## चेतना का केन्द्र है पूरा शरीर

आत्मा समूचे शरीर में विद्यमान है। आत्मा समूचे शरीर के द्वारा पुद्‌गलों को ग्रहण करती है । भगवती सूत्र में बतलाया गया है--'सव्वेणं सव्वे'-हमारी चेतना के असंख्य प्रदेश हैं । प्रत्येक प्रदेश के द्वारा आत्मा जानती है । किसी एक ही प्रदेश से नहीं जानती । हम यह न मानें कि हम आंखों से ही देख सकते हैं, मस्तिष्क से ही सोच सकते हैं। हम समूचे शरीर से देख सकते हैं, सोच सकते हैं । एक्यूपंक्चर के वैज्ञानिकों ने हमारे शरीर में सात सौ चैतन्य केन्द्र खोज निकाले हैं । जो केन्द्र मस्तिष्क में है, वही केन्द्र अंगूठे में भी है। जो मस्तिष्क में है, वही केन्द्र अंगुलियों में भी है। पिनियल, पिच्यूटरी और थायराईड के जो स्थान हैं, वे स्थान हाथों और पैरों में भी हैं। हमारा समूचा शरीर चेतना का केन्द्र है। उसमें जानने की अपार क्षमता है। कान ध्वनि पकड़ने का माध्यम है किन्तु जिनके कान नहीं हैं, वे समूचे शरीर से ध्वनि को पकड़ लेते हैं । उनके शरीर की संवेदना इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वे समूचे शरीर से ध्वनि को पकड़ लेते हैं । ध्वनि को पकड़ने की जरूरत भी नहीं है । ध्वनि पकड़ने के माध्यम से कान को विकसित कर हमने ध्वनि को सीमित कर दिया । हम कानों पर इतने निर्भर हो गए कि केवल कानों से ही सुन सकते हैं।

## इन्द्रिय निर्भरता : परिणाम

हमारी अतीन्द्रिय क्षमताएं विस्मृत हो गई । ध्वनि तब होती है जब कोई बोलता है। ध्वनि कोई बड़ी बात नहीं है। बडी बात है। तंरग । जो व्यक्ति तरंगों को, सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़ सकता है, वह जितना जान सकता है, उतना ध्वनि को सुनने वाला नहीं जान सकता । हम इन्द्रियों पर इतने निर्भर हो गए कि जब कानों में कोई शब्द पड़ता हैं तभी हम सुन सकते हैं । कान की क्षमता सीमित है । वह अमुक फ्रीक्वेन्सी के शब्द ही सुन पाता है, पकड़ पाता है किन्तु जो व्यक्ति प्रकंपनों को पकड़ सकता है, वह सूक्ष्म ध्वनियों को पकड़ सकता है, जान सकता है। जैन दर्शन में कहा गया-- तीर्थंकर जब बोलते हैं तब सुनने वाले उसे अपनी अपनी भाषा में समझ जाते हैं,

पशु भी अपनी भाषा में समझ जाते हैं । यह कैसे होता है ? इसके पीछे बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तीर्थंकर बोलते नहीं, दिव्य ध्वनि निकलती है, यदि इम इस बात को मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर के वाणी के नहीं, मन के परमाणु निकलते हैं, उनमें स्पंदन होता है । उन स्पंदनों को लोग पकड़ते हैं और वे उनको अर्थ-बोध करा देते हैं। भाषा के पुद्गल नहीं पकड़े जा सकते, तरंगों को पकड़ा जा सकता है, स्पंदनों को पकड़ा जा सकता है। हमारे पास तरंगों को पकड़ने की क्षमता अधिक है, भाषा को पकड़ने की क्षमता कम है । कान ही सुनने का साधन है, यह मानकर हमने अन्य क्षमताओं को विस्मृत कर दिया।

## संभिन्नस्रोतोलब्धि

आज का विज्ञान कहता है कि कानों की अपेक्षा दांतों से अच्छा सुना जा सकता है । दांत सुनने के शक्तिशाली साधन हैं । यदि थोड़ा-सा यांत्रिक परिवर्तन किया जाए तो जितना अच्छा दांत से सुना जा सकता है, उतना अच्छा कान से नहीं सुना जा सकता । एक लब्धि का नाम् है--संभिन्न-स्रोतों-लब्धि । जो व्यक्ति इस लब्धि से सम्पन्न होता है, उसकी चेतना का इतना विकास हो जाता है कि उसका समूचा शरीर कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्श का काम कर सकता है । उसके लिए कान से सुनना या आंख से देखना आवश्यक नहीं होता । वह शरीर के किसी हिस्से से सुन सकता है, देख सकता है। वह पांचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है । उसके ज्ञान का स्रोत संभिन्न हो जाता है, व्यापक बन जाता है । समूचा शरीर संभिन्न हो जाता है, व्यापक बन जाता है ।

## अतीन्द्रिय चेतना का प्रकटीकरण

मनुष्य का स्थूल शरीर सूक्ष्मतर शरीर का संवादी होता है। सूक्ष्मतर शरीर में जिन क्षमताओं के स्पंदन होते हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शरीर में केन्द्र बन जाते हैं । उसमें शक्ति और चैतन्य की अभिव्यंजना के अनेक केन्द्र हैं । वह सुप्त अवस्था में रहते हैं। अभ्यास के द्वारा उन्हें जागृत किया जाता है । जागृत अवस्था में वे 'करण' बन जाते है। 'करण' को विज्ञान की भाषा में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र (एलेक्ट्रो मेग्नेटिक फील्ड) कहा जा सकता है । तंत्रशास्त्र और हठयोग में छह या सात चक्रों का सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है। प्रतिपादन की प्राचीन शैली रूपकमय है अतः चक्रों के विषय में स्पष्ट कल्पना करना कठिन है। बहुत लोगों ने उन्हें किसी विशिष्ट अवयव के रूप में स्थूल शरीर में खोजने का प्रयत्न किया पर उन्हें अपनी खोज में कभी सफलता नहीं मिली । स्थूल शरीर में ग्रन्थियां हैं । शरीरशास्त्र के

अनुसार उनका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है । उन्हें चक्र माना जा सकता है। चक्रों और ग्रन्थियों के स्थान भी प्रायः एक ही हैं। मूलाधार चक्र का किसी ग्रन्थि से सीधा संबंध नही हैं। स्वाधिष्ठान चक्र का काम ग्रन्थि (गोनाड्स) से संबंध है । मणिपुर चक्र का एड्रीनल से, अनाहत चक्र का थाइमस से, विशुद्धि-चक्र का थाइराइड से, आज्ञाचक्र का पिच्यूटरी से और सहस्रार चक्र का पिनियल से संबंध स्थापित किया जा सकता है।

## विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र

जैन पराविद्या के अनुसार शक्ति और चैतन्य के केन्द्र अनगिन हैं । वे पूरे शरीर में फैले हुए हैं । उन्हें ग्रन्थियों तक सीमित नहीं किया जा सकता । ग्रन्थियों का काम सूक्ष्मतर या कर्मशरीर से आने वाले कर्म-रसायनों और भावों का प्रभाव प्रदर्शित करना है । अतीन्द्रिय चेतना को प्रकट करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। वे अतीन्द्रिय चेतना की अभिव्यक्ति के लिए विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकते हैं अथवा उनके आसपास का क्षेत्र विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकता है। उनके अतिरिक्त शरीर के और भी अनेक भाग विद्यत् चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकते हैं इसलिए शक्ति-केन्द्रों और चैतन्य-केन्द्रों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है । हमारी कोख के नीचे बहुत शक्तिशाली चैतन्य-केन्द्र है । हमारे कंधे बहुत बड़े शक्ति-केन्द्र हैं । फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि शक्ति-केन्द्र और चैतन्य शरीर के अवयव नहीं हैं किन्तु शरीर के वे भाग हैं, जिनमें विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बनने की क्षमता है। वे भाग नाभि से नीचे पैर की एड़ी तक तथा नाभि से ऊपर सिर की चोटी तक, आगे भी हैं, पीछे भी हैं, दाएं भी हैं और बाएं भी हैं। जब समता, ऋजुता आदि विशिष्ट गुणों की साधना के द्वारा वे केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं, 'करण' बन जाते हैं , तब उनमें अतीन्द्रिय चेतना प्रकट होने लग जाती है । यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं है । यह एक स्थाई विकास है । एक बार चैतन्य-केन्द्र के सक्रिय हो जाने पर जीवन भर उसकी सक्रियता बनी रहती है। अतीन्द्रिय-ज्ञानी जब चाहे तब अपनी अतीन्द्रिय चेतना का करणभूत चैतन्य-केन्द्र के द्वारा उपयोग कर सकता है। वह सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थ का साक्षात् कर सकता है ।

## अतीन्द्रिय ज्ञान : प्रत्यक्ष ज्ञान

अतीन्द्रिय चेतना की प्रारम्भिक अवस्था– पूर्वाभास, अतीतबोध और उसकी विकसित अवस्था की सीमा को समझा जा सकता है। मनः पर्यवज्ञान या परचित्तज्ञान भी अतीन्द्रिज्ञान है। विचार-संप्रेषण विकसित इन्द्रिय-चेतना का ही एक स्तर है । उसे

अतीन्द्रिय ज्ञान कहना सहज-सरल नहीं है । विचार-संप्रेषण की प्रक्रिया में अपने मस्तिष्क में उभरने वाले विचार-प्रतिबिम्बों के आधार पर दूसरे के विचार जाने जाते हैं। मनःपर्यव-ज्ञान में विचार-प्रतिबिम्बों का साक्षात्कार होता है प्रत्येक विचार अपनी आकृति का निर्माण करता है। विचार का सिलसिला चलता है । तब नई-नई आकृतियां निर्मित होती जाती हैं और प्राचीन आकृतियां विसर्जित हो आकाशिक रेकार्ड में जमा होती जाती हैं। मनःपर्यवज्ञानी उन आकृतियों का साक्षात्कार कर संबद्ध व्यक्ति की विचारधारा को जान लेता है। उसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य के विचारों को जानने की भी क्षमता होती है । मानसिक चिन्तन के लिए उपयुक्त परमाणुओं की एक राशि होती है । वह परमाणुराशि हमारे चिंतन में सहयोग करती है । उसको ग्रहण किए बिना हम कोई भी चिंतन नहीं कर सकते । उस राशि के परमाणुओं के भावी परिवर्तन के आधार पर मनःपर्यवज्ञानी भविष्य में होने वाले विचार को भी जान सकता है ।

अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है । जिस ज्ञान के क्षण में इन्द्रिय और मन को माध्यम बनाना आवश्यक नहीं होता, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान विशिष्ट कोटि का होने पर भी परोक्ष ही होता है ।

**वीतराग : अवीतराग**

हमारे जीवन की दो अवस्थाएं हैं--वीतरार और अवीतराग अवस्था । भगवान् महावीर ने कहा—अवीतराग या छद्मस्थ व्यक्ति का यह एक लक्षण है कि उसकी कथनी और करनी में अन्तर होगा। जो वीतराग होगा, वह जैसा कहेगा, वैसा करेगा, जैसा करेगा, वैसा कहेगा । कोई अन्तर नहीं होगा । वीतराग होने का अर्थ है– चेतना की सूक्ष्म भूमिका में प्रवेश पा जाना । यह अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका है।

मनोविज्ञान ने चेतन मन और अचेतन मन की चर्चा की है किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने इनसे भी सूक्ष्म चेतना के स्तरों की चर्चा की है । अचेतन मन से परे अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका है । जब व्यक्ति अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका पर चला जाता है तब उसके सारे विरोधाभास मिट जाते हैं । उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित हो जाता है । अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति दोहराता नहीं, स्वयं सत्य को जीता है, अनुभव करता है । वह यह कभी नहीं कहेगा—अहिंसा अच्छी है क्योंकि महावीर या बुद्ध ने उसकी गुणगाथा गायी । वह कहेगा—मैंने स्वयं उसकी श्रेष्ठता का साक्षात् अनुभव किया है । वैसा व्यक्ति अपनी अनुभव की भाषा में बोलेगा, उधार की भाषा में नहीं । जब तक व्यक्ति उस अतीन्द्रिय चेतना के स्तर तक नहीं पहुंचता तब तक वह दूसरों की भाषा की पुनरावृत्ति करता

है, उसे दोहराता जाता है ।

## विचार-ध्यान : एक प्रक्रिया

आत्मा-साक्षात्कार की दो पद्धतियां हैं। एक है--सविचार-ध्यान और दूसरी है—निर्विचार-ध्यान । हम आत्मा को मानते हैं, जानते नहीं । हम शास्त्रों के आधार पर आत्मा को मानते हैं। सबसे पहले हमें श्रुत का सहारा लेना होगा, आगम का सहारा लेना होगा। जिन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध हुआ, उन्होंने अपनी अनुभव की वाणी में जो बताया, उसका सहारा लेना होगा। सबसे पहले व्यक्ति अपने आपको इन संस्कारों से भावित करे--'आत्मा है। वह चैतन्यमय, अनाकार, निर्लेप, शब्दातीत, रूपातीत, गंधातीत, रसातीत और स्पर्शातीत है। वह केवल चैतन्यमय है। चैतन्य ही चैतन्य है। वह एक सूर्य है, इस भावना से अपने मन को भावित करे । यह आरोपण करे—मैं अनाकार हूं; मैं निरंजन हूं । मैं पदार्थ और पुद्‌गल से परे हूं। मैं अमूर्त्त हूं। मैं चेतनामय, आनंदमय और शक्तिमय हूं। मैं शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से परे हूं। इस भावना से चित्त को भावित कर व्यक्ति अपने स्वरूप का ध्यान करता है। वह प्रारम्भ करता है श्रुत से, विकल्प से किन्तु आत्म-स्वरूप से चित्त को भावित कर वह तन्मय बन जाता है, एकाग्र हो जाता है, विचारों को छोड़ देता है। यह आत्म-साक्षात्कार की, विचार-ध्यान की एक पद्धति है। विचार-ध्यान के द्वारा आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। जब तल्लीनता और एकाग्रता बढ़ती है, कल्पित स्वरूप्र-साक्षात् होने लगता है। व्यक्ति ध्यान में बैठा है । उसे आभास होता है, जैसे सामने ही आत्मा स्थित है या भीतर वैसी ही आत्मा सक्रिय हो रही है। प्रत्यक्षतः साक्षात्कार हो जाता है। इस ध्यान को आज्ञा-विचय ध्यान कहा जाता है। हमने स्थूल का आलंबन लिया, स्थूल का विचार किया, वह स्थूल हट गया और सूक्ष्म सामने प्रस्तुत हो गया । चित्त सूक्ष्म हुआ, चेतना सूक्ष्म हुई और तद्‌रूप आत्मा का आभास हो गया यह अतीन्द्रिय तत्त्वों के साथ संपर्क स्थापित करने की एक पद्धति है, सूक्ष्म तत्त्वों को जानने की एक प्रक्रिया है।

## वैज्ञानिक युग की उपलब्धि

इस वैज्ञानिक युग ने मनुष्य जाति का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितना सम्यग् दृष्टिकोण है वह ५०-१०० वर्ष पूर्व नहीं हो सकता था। आज सूक्ष्म सत्य के प्रति जितनी गहरी जिज्ञासा है, उतनी पहले नहीं थी। कुछ समय पूर्व जब कभी सूक्ष्म सत्य की बात प्रस्तुत होती तब मनुष्य उसे पौराणिक या मनगढंत मानकर टाल लेता था । उसे अन्धविश्वास कहता था। अन्धविश्वास ऐसा शब्द है,

जिसकी ओट में सब कुछ छिपाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान ने जैसे-जैसे सूक्ष्म सत्य की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की, वैसे-वैसे अन्धविश्वास का स्वर कमजोर पडा है। आज विज्ञान जिन सूक्ष्म सत्यों का स्पर्श कर चुका है, दो शताब्दी पूर्व उनकी कल्पना करना भी असंभव था । कहा जा सकता है–विज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुंच रहा है। प्राचीन काल में साधना द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास और सूक्ष्म सत्यों का साक्षात्कार किया जाता था। आज के आदमी ने अतीन्द्रिय ज्ञान की साधना भी खो दी और अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास करने का अभ्यास भी खो दिया, पद्धति विस्मृत हो गई। अब सिवाय विज्ञान के कोई साधन नहीं है। वैज्ञानिकों ने कोई साधना नहीं की, अध्यात्म का गहरा अभ्यास नहीं किया, किन्तु इतने सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया, जिनके माध्यम से अतीन्द्रिय सत्य खोजें जा सकते हैं, देखे जा सकते हैं। वे सारे सत्य सूक्ष्म उपकरणों से ज्ञात हो जाते हैं। इसका फलित यह हुआ कि आज का विज्ञान अतीन्द्रिय तथ्यों को जानने-देखने और प्रतिपादन करने में सक्षम है।

## एस्ट्रलप्रोजेक्शन और समुद्घात

हब्शी महिला लिलियन अतीन्द्रिय-प्रयोग में दक्ष है। उससे पूछा गया–तुम अतीन्द्रिय घटनाएं कैसे बतलाती हो? उसने कहा-- मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओं को जान लेती हूं। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राण-शरीर से बाहर निकल कर, जहां घटना घटित होती हैं, वहां जाती हूं और सारी बातें जानकर दूसरों को बता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रलप्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परम्परा में वर्णित समुद्घात प्रक्रिया है । समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जब विशिष्ट घटना घटित होती है तब व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को बाहर निकाल कर घटने वाली घटना तक पहुंच जाता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह प्राणशरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएं हैं।

समुद्घात सात हैं--वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और केवली समुद्घात। जब व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तब उसका प्राणशरीर बाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है । जब आदमी के मन में अति लालच आता है तब भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है । इसी प्रकार भयंकर बीमारी में, मरने की अवस्था में भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। इस वैज्ञानिक युग में ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं।

एक रोगी ऑपरेशन थियेटर में टेबल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर ऑपरेशन

होना है। डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है । उस समय उस व्यक्ति में वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राणशरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर छत के आसपास स्थिर हो गया । ऑपरेशन चल रहा है और वह रोगी अपने प्राण शरीर से सारा ऑपरेशन देख रहा है । ऑपरेशन करते-करते एक बिन्दु पर डॉक्टर ने गलती की। तत्काल रोगी ने कहा--डॉक्टर! भूल कर रहे हो। डॉक्टर को पता नहीं चला--कौन बोल रहा है। उसने भूल सुधारी । वेदना कम होते ही रोगी का प्राण शरीर पुनः स्थूल शरीर में आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, छत पर लटकते हुए मैंने पूरा ऑपरेशन देखा है।

शरीर प्रक्षेपण की अनेक प्रक्रियाएं हैं । उन प्रक्रियाओं में प्राणशरीर बाहर चला जाता है।

## विचार संप्रेषण

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिको ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बना लेता, एलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड नहीं बना लेता तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती । चैतन्य-केन्द्रों और चक्रों की कल्पना का मूल उद्देश्य है--शरीर को चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास--इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

आज के पेरासाइकोलॉजिस्ट टैलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टैलीपैथी का अर्थ है--विचार-संप्रेषण । एक आदमी कोसों की दूरी पर है । उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारों कोसों पर रहने वाले अपने व्यक्तियों से बात कर लेता है। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, टैलीपैथी शब्द भी नहीं था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय विचारों को हजारों कोस दूर भेजना विचार-संप्रेषण की प्रक्रिया से होता था। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार कोश की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे? उस समय विचार-संप्रेषण की साधना की जाती थी, जिससे विचारों का आदान प्रदान हो जाता था।

## अतीन्द्रिय चेतनाः विकास की प्रक्रिया

विकास के क्रम अनुसार प्रत्येक प्राणी में चेतना अनावृत होती है। इन्द्रिय,

मानसिक और बौद्धिक चेतना के साथ-साथ कुछ अस्पष्ट या धुंधली-सी अतीन्द्रिय चेतना भी अनावृत होती है । पूर्वाभास, विचार-संप्रेषण आदि उसी कोटि के हैं । उनकी स्पष्टता के लिए शरीरगत चैतन्य-केंद्रों को निर्मल बनाना होता है। संयम और चरित्र की साधना जितनी पुष्ट होती है, उतनी ही उनकी निर्मलता बढ़ती है । चैतन्य-केंद्रों को निर्मल बनाने का सबसे सशक्त साधन है ध्यान । प्रियता और अप्रियता के भाव से मुक्त चित्त नाभि के ऊपर के चैतन्य-केन्द्रों—आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र, प्राण-केन्द्र, दर्शन-केंन्द्र, ज्याति-केंन्द्र और ज्ञान-केन्द्र पर केन्द्रित होता है, तब वे निर्मल होने लग जाते हैं। उसका दीर्घकालीन अभ्यास अतीन्द्रिय ज्ञान की आधारभूमि बन जाता है। अतीन्द्रियज्ञान के धुंधले रूप चरित्र के विकास के बिना भी संभव हो सकते हैं किंतु अतीन्द्रिय चेतना के विकास के साथ चरित्र के विकास का गहरा संबंध है। यहां चरित्र का अर्थ समता है, राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता के भाव से मुक्त होना है। उसकी अभ्यास पद्धति प्रेक्षा-ध्यान है। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना । देखने का अर्थ है चित्त को राग-द्वेष से मुक्त कर ध्येय का अनुभव करना। दर्शन की इस प्रक्रिया को अतीन्द्रिय चेतना के विकास की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

# मस्तिष्क प्रशिक्षण

स्वभाव को बदलना जटिल माना जाता है । जिसका जो स्वभाव बन गया, आदत बन गई, वह चाहने पर भी कठिनाई से त्यक्त होती है। अनेक लोग हैं, अनेक स्वभाव और आदतें हैं । किसी में क्रोध का, किसी में घृणा का, किसी में लोभ का, किसी में काम-वासना का और किसी में भय का स्वभाव है। प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई नया स्वभाव होता ही है । ये सारे भाव हैं, वृत्तियां हैं। इन्हें बदलने की बात इसलिए कठिन है कि मस्तिष्क के विषय में हमारी जानकारी कम है। वर्तमान में हजारों-हजारों वैज्ञानिक मस्तिष्क के अध्ययन में लगे हुए हैं और प्रतिवर्ष इस विषय पर प्रचुर साहित्य सामने आ रहा है। फिर भी यह माना जा रहा है कि अभी तक मस्तिष्क का दो प्रतिशत भाग भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। कितना गूढ़ है मस्तिष्क ! मस्तिष्क के विषय में बहुत कम ज्ञान है इसीलिए परिवर्तन के सूत्र भी हस्तगत नहीं हो रहे हैं।

**वृत्ति-प्रवृत्ति का केन्द्र**

प्राचीन साहित्य में हृदय विषयक चर्चा बहुत मिलती है पर मस्तिष्क के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है,जबकि हृदय से मस्तिष्क बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः मस्तिष्क बहुत उपयोगी और अत्यन्त शक्तिशाली है । संस्कृत में इसका एक नाम है 'उत्तमांग' । इसमें जीवन को संचालित करने वाली असंख्य शक्तियां विद्यमान हैं । क्रोध करना भी इसमें विद्यमान है और क्रोध पर नियंत्रण करना भी इसमें विद्यमान है। हमारी सारी वृत्तियों और प्रवृत्तियों के केन्द्र मस्तिष्क में हैं। स्वभाव का निर्माण भी वहीं होता है और स्वभाव का परिवर्तन भी वहीं से होता है।

हम इस तथ्य पर शारीरिक दृष्टि से विचार करें। मस्तिष्क का एक हिस्सा है भावनात्मक तंत्र, जिसे होईपोथेलेमस कहा जाता है। दूसरा एड्रीनल ग्लेण्ड और तीसरा पिच्यूटरी या पिनियल । इनका साझा है। इन सबका योग मिलता है तो भाव और स्वभाव विकृत बनते हैं । इनका साझा को तोड़ दिया जाए। इनमें से किसी एक पर

कन्ट्रोल कर लिया जाए तो साझा टूट जाएगा और भाव विकृति की बात गौण बन जाएगी।

सम्राट् अशोक ने कलिंग में लाखों व्यक्तियों की हत्या की थी। उसने बडे युद्ध लड़े। हजारों सैनिक मारे गए । बाद में वह बदल गया और इतना बदला कि अशोक एक अहिंसा का दूत बन गया, शान्ति का संदेश-वाहक बन गया। उसने शान्ति का सन्देश मात्र हिन्दुस्तान में ही नहीं, बाहर भी अनेक देशों में पहुंचाया । यह वही अशोक था, जो एक दिन महान् लड़ाकू, योद्धा और नर-संहार करने वाला था और वही अशोक शांतिप्रिय और धर्म का वाहक बन गया। यह कैसे हुआ ? उस समय उसका नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितन्त्र दूसरी ओर काम कर रहा था, हिंसा की ओर उन्मुख था। जब उस पर नियंत्रण हुआ तो आमूलचूल बदल गया, शान्तिप्रिय हो गया, अहिंसा का पुजारी बन गया।

## नियंत्रण का साधन : आसन

बदलने के अनेक कारण हैं, हिंसक से अहिंसक होने के अनेक कारण हैं। उन कारणों में योगासन भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। उनके अभ्यास के द्वारा उस तंत्र को बदला जा सकता है, जो हिंसा का तंत्र है।

योगासनों का यह कार्य है और इनके द्वारा यह हो सकता है। थाइरायड पर नियंत्रण करना है तो सर्वांगासन का प्रयोग लाभप्रद है। सर्वांगासन के द्वारा इसे संतुलित बनाया जा सकता है।

ये आसन हमारे नाड़ीतन्त्र और गन्थितंत्र को भी संतुलित बनाते हैं।

एड्रीनल ग्लेण्ड उत्तेजना के लिए काफी काम करती है। शशांकासन का प्रयोग करने से एड्रीनल पर नियंत्रण पाया जा सकता है। यदि प्रतिदिन इस आसन का प्रयोग किया जाए तो बहुत सारी वृत्तियों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। जितने निषेधात्मक भाव और जितनी मूर्च्छा की प्रकृतियां हैं, एड्रीनल ग्लेण्ड उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम वनता है। यदि हमारा एड्रीनल ग्लेण्ड पर नियंत्रण होता है तो हिंसात्मक दृष्टियां कम होती हैं, हिंसात्मक उत्तेजनाएं कम हो जाती हैं।

## मस्तिष्कीय तरंगें : उनके कार्य

आनन्द जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मैं इस आनन्द की व्याख्या वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करना चाहता हूं। मेडिकल इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, मद्रास ने एक उपकरण का निर्माण किया, जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को

देखा जा सकता है और उन्हें संप्रेषित भी किया जा सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरंगें होती हैं–अल्फा, बीटा, डेटा, थेटा आदि-आदि । जब 'अल्फा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी आनन्द से भर जाता है । उसके सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं। जब 'बीटा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी अवसाद से भर जाता है। इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत् तरंगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है ।

अध्यात्म की भाषा में इसे दुःख का चक्र और विज्ञान की भाषा में इसे तरंगों का चक्र कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में बीटा, थेटा आदि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं, वह चाहे अरबपति हो या सारी सुख-सुविधाओं में पलता हो, वह दुःख ही दुःख भोगता चला जाता है । रॉक फैलर का जीवन इसका स्पष्ट उदाहरण है । यह विश्व का महान् धनपति था । उसे धन से कभी भी सुख का अनुभव नहीं हुआ। वह अपने विशाल आर्थिक साम्राज्य को छोड़ एक वर्ष भर के लिए छुट्टियां मनाने अन्यत्र चला गया । वहां उसे धनहीनता में भी जो सुख की अनुभूति हुई, वह अनिर्वचनीय थी।

**आनंद का स्रोत**

अध्यात्म का सूत्र है कि अल्फा तरंगों को पैदा किया जाए और आनन्द को बढ़ाया जाए। उस आनन्द की इतनी वृद्धि हो कि इन्द्रियों की संवेदनाओं से होने वाली क्षणिक आनन्दानुभूति उसके सामने फीकी पड़ जाए। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का बाह्य आकर्षण छूटने लगता है और आंतरिक आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आरम्भ हो जाता है। यही दूरी को मिटाने का आदि-बिन्दु है । जब तक व्यक्ति को लगता है कि इन्द्रियजन्य आनन्द को छोड़ना बहुत बड़े आनन्द से वंचित रहना है तब तक व्यक्ति उसे छोड़ नहीं सकता । वह उसे तभी छोड़ सकता है जब वह आनन्द छोटा बन जाए, अर्थहीन बन जाए । सब यह जानते हैं कि अब्रह्मचर्य से शक्ति क्षीण होती है, उर्जा क्षीण होती है पर सभी ब्रह्मचारी कहां बन पाते हैं? ब्रह्मचारी तब तक नहीं हुआ जा सकता जब तक उसे बड़ा आनन्द प्राप्त न हो जाए। अल्फा तरंगों का उत्पादन बड़े आनन्द को उपलब्ध करा सकता है। इस स्थिति में सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं । मन आनन्द, सुख और शक्ति से भर जाता है । ऐसा अनुभव होता है कि जो प्राप्तव्य था, वह प्राप्त हो गया । उस स्थिति में न सुन्दर रूप आकर्षण पैदा करता है और न मधुर संगीत ही मन को लुभा पाता है। संगीत सुनने की अपेक्षा ही महसूस नहीं होती । अपने भीतर इतना मधुर संगीत प्रारम्भ हो

जाता है कि सुनते-सुनते जी नहीं अघाता । अपने भीतर रस का बड़ा झरना बहने लग जाता है। सरसता की प्राप्ति के बिना कथनी और करनी की दूरी मिट नहीं सकती। ध्यान का नशा चढ़े बिना आनन्द उपलब्ध नहीं होता । मदिरापान करने वाला भी आनन्द पाने के लिए मदिरा पीता है किन्तु वह मदिरा कथनी और करनी की दूरी को बनाए रखती है । यदि इससे छुटकारा पाना है तो ध्यान की मदिरा पीनी होगी।

## आर० एन० ए० रसायन

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करें । अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है ? अध्यात्म की भाषा में आनन्द की उपलब्धि का मार्ग यह है कि पहले उपाधियां मिटे । इसका तात्पर्य है कि कषाय के सारे आवेग समाप्त हों। उपाधियों के मिटने पर आधियां--मानसिक बीमारियां विनष्ट हो जाती हैं। उसके अभाव में शारीरिक रोग नहीं रह सकते । व्याधि के मिटने पर जीवन आनन्द से भर जाता है।

ध्यान रूपान्तरण की प्रक्रिया है । उससे आदतें बदलती हैं, स्वभाव बदलता है और पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है । इस रूपान्तरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है । आज विज्ञान भी इस बात को साबित करने लगा है कि आदमी का रूपांतरण हो सकता है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क में आर०एन०ए० रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतों पर छाया रहता है। विज्ञान ने यह खोज निकाला है कि यह रसायन व्यक्ति के रूपान्तरण का घटक है। इसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसके आधार पर ही रूपांतरण घटित होता है, आदतें बदलती हैं, पुरानी आदतों को छोड़कर नई आदतें डाली जा सकती हैं। जीवशास्त्री जेम्स ओल्ड्स ने एक प्रयोग किया। उसने चूहों के मस्तिष्क में एक प्रकार की विद्युत् तरंगें प्रसारित की । कुछ ही समय बाद उसके मन का भय भाग गया। वे चूहे बिल्ली के सामने निःसंकोच आने-जाने लगे। उनका भय समाप्त हो गया।

## मस्तिष्क नियंत्रण और जैविक घड़ी

श्वास नियंत्रण के द्वारा मस्तिष्क तरंग, हार्मोन के स्राव तथा चयापचय की क्रिया पर नियंत्रण किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों की नयी खोजों से पता चला है कि स्वरचक्र की भांति दाएं-बाएं मस्तिष्क पटलों का भी एक चक्र है। मस्तिष्क का एक पटल नब्बे से सौ मिनट तक सक्रिय रहता है। उसके पश्चात् वह निष्क्रिय हो जाता है, दूसरा पटल सक्रिय हो जाता है। आटोनोमिक नाड़ीतंत्र के दो भाग हैं--पेरासिम्पेथेटिक और सिम्पेथेटिक। पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता

है। अनुलोम-विलोम श्वास पद्धति के द्वारा इनमें संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

भावनाओं का उद्‌गम स्थल लिम्बिक तंत्र का एक भाग हाइपोथेलेमस है। सूक्ष्म शरीर से भाव के प्रकंपन स्थूल शरीर में मस्तिष्क में आते हैं और वे हाइपोथेलेमस में प्रकट होते हैं। फिर मन के साथ जुड़कर मनोभाव बनते हैं। उनके आधार पर हमारा व्यवहार संचालित होता है। लयबद्ध दीर्घश्वास के द्वारा लिम्बिक तन्त्र पर नियंत्रण किया जा सकता है।

**परिवर्तन चक्र**

श्वास और मस्तिष्क के चक्रों का जैविक घड़ी के साथ गहरा संबंध है। विलियम फ्लीश के अनुसार पुरुष की शक्ति, सहिष्णुता और साहस का समयचक्र तेईस दिन का होता है। दूसरा मत है कि मनुष्य में बुद्धिमत्ता का समयचक्र तीस दिन का होता है। स्त्रियों में ग्रहणशीलता और अन्तर्दर्शन का समयचक्र अट्‌ठाईस दिन का होता है। ये समयचक्र प्रत्येक कोशिका में प्राप्त हैं। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां--भूख, नींद, जागरण आदि-आदि समयबोधक जीवन घड़ी के साथ जुड़ी हुई हैं। प्राणधारा का प्रवाह शरीर के अंगों में सदा एक समान नहीं होता, वह बदलता रहता है। उसका परिवर्तन-चक्र इस प्रकार है--

| | |
|---|---|
| सुबह तीन बजे से पांच बजे तक | फेफड़े |
| सुबह पांच से सात बजे तक | बड़ी आंत |
| सुबह सात से नौ बजे तक | पेट |
| सुबह नौ से ग्यारह बजे तक | तिल्ली, अग्न्याशय |
| दोपहर ग्यारह से एक बजे तक | हृदय |
| दोपहर एक से तीन बजे तक | छोटी आंत |
| दोपहर तीन से पांच बजे तक | उत्सर्जन तंत्र |
| सायंकाल पांच से सात बजे तक | गुर्दे |
| सायंकाल सात से नौ बजे तक | हृदय की झिल्ली |
| रात्रि में नौ से ग्यारह बजे तक | श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र |
| रात्रि में ग्यारह से एक बजे तक | मूत्र तंत्र |
| रात्रि में एक से तीन बजे तक | यकृत् |

**आधार है मस्तिष्क**

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बौद्धिक विकास पर बहुत बल दिया जा रहा है। विकास चाहे बौद्धिक हो या चारित्रिक, सबका आधार बनता है मस्तिष्क। हमारे

स्वभाव, व्यवहार और बुद्धि का नियंत्रण मस्तिष्क से होता है और फिर उसकी कुछ सहयोगी क्रियाएं (रिफ्लेक्स एक्टीविटी) होती है तो रीढ़ की हड्डी आदि उसमें सहभागी बनते हैं परन्तु सबका मूल आधार है मस्तिष्क। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना बहुत आवश्यक है। जिस समाज-व्यवस्था के साथ आदमी जीता है, उस समाज-व्यवस्था के अनुरूप मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा समाज-व्यवस्था और शिक्षा के बीच कोई संवादिता स्थापित नहीं की जा सकती। समाज व्यवस्था और कहीं जा रही है तथा शिक्षा और कहीं जा रही हैं। दोनों के बीच कोई सामंजस्य या सामरस्य नहीं होता है तो शिक्षा की सार्थकता भी उतनी नहीं रहती। समाज व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा का तंत्र होना चाहिए और शिक्षा के द्वारा समाज-व्यवस्था लाभान्वित होनी चाहिए। यह संबंध बहुत आवश्यक है।

## मूल्यात्मकता और शिक्षा

मूल्यात्मकता और शिक्षा--दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जो सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं, उनको छोड़कर शिक्षा को स्वतंत्र रूप में नहीं देखा जा सकता इसलिए मस्तिष्क का वैसा प्रशिक्षण हो, जिससे ये सारे मूल्य एक साथ संभाविता के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टि से मस्तिष्क के सभी केन्द्रों को विकसित करना जरूरी है।

मस्तिष्क के दो पटल हैं। बायां पटल भाषा, तर्क गणित आदि के लिए जिम्मेदार है और दायां पटल अन्तःप्रज्ञा, आध्यात्मिक चेतना, आन्तरिक प्रेरणा, स्वप्न आदि के लिए जिम्मेदार है। दोनों पटलों का संतुलित विकास न होने पर समस्याएं उत्पन्न होती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बाएं पटल पर अधिक भार पड़ा हुआ है और दायां पटल सोया पड़ा है, सुप्त है। यह आवश्यक है कि दोनों का संतुलित विकास हो, तभी हम बौद्धिक विकास और चारित्रिक विकास–दोनों की कल्पना कर सकते हैं। यदि एक पटल का ही विकास हुआ, दूसरा सोया रहा तो समस्या कभी सुलझ नहीं पाएगी।

## समस्या का कारण

आज शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षानीति और शिक्षा-प्रणाली के सामने एक प्रश्न है कि बौद्धिक विकास के साथ व्यक्ति के चरित्र का विकास क्यों नहीं हो रहा है? समाज को ऐसा व्यक्तित्व चाहिए, जो समाज की समस्या को सुलझा सके। मूलतः मस्तिष्क का असंतुलन बना हुआ है। जीवन-विज्ञान की प्रणाली का आधारभूत तत्त्व यह है कि मस्तिष्क का संतुलन केवल पढ़ने से नहीं हो सकता, केवल बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्धि का कार्य है विश्लेषण करना, निर्धारण और निश्चय करना।

चरित्र का निर्माण करना बुद्धि का काम नहीं है। मस्तिष्क में अनेक केन्द्र हैं। बुद्धि का केन्द्र भिन्न है और चरित्र निर्माण का केन्द्र भिन्न है। मस्तिष्क-विद्या के आधार पर मस्तिष्क के केन्द्रों का निर्धारण भी कर लिया गया है कि कौन-सा केन्द्र किसके लिए उत्तरदायी है। कौन से रसायनों के द्वारा कैसे विद्युत्-संवेग पैदा होते हैं, संवेदना पैदा होती है। किस रसायन के द्वारा उनका नियंत्रण होता है और किस केन्द्र से कौन-सी प्रवृत्ति होती है--यह सारा ज्ञान कर लिया गया है।

**चरित्र और बुद्धि के केन्द्र**

व्यक्ति के चरित्र का केन्द्र है--हाइपोथेलेमस। यह ब्रेन का एक हिस्सा है। रीजनिंग माइंड बौद्धिक विकास या विवेक के लिए जिम्मेदार है।

क्षिप्रग्राही, सूक्ष्मग्राही, बहुविधग्राही--ये सारे बौद्धिक विकास के परिचायक हैं। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना। चरित्र-विकास के कुछ पहलू हैं। नैतिकता का विकास, व्यवहार-शुद्धि का विकास और अनुशासन का विकास--ये सारे चरित्र-विकास के तत्त्व हैं। चाहे सुपर लर्निंग की बात हो या जीवन-विज्ञान की बात हो, केवल सैद्धांतिक पक्ष से काम नहीं चलता, प्रयोगात्मक पक्ष आवश्यक होता है।

मस्तिष्क के मूल स्रोतों को प्रशिक्षित करना प्रयोगात्मक पक्ष है। जो निष्क्रिय हैं, उन्हें सक्रिय करना, जो सुप्त पड़े हैं उन्हें जागृत करना--यह प्रयोग से संबंधित है।

**मस्तिष्क प्रशिक्षण के प्रयोग**

प्रयोग की पहली बात है--तनाव से मुक्ति। व्यक्ति में ग्रहणशीलता तब बढ़ेगी जब वह तनावमुक्त होगा। कायोत्सर्ग से तनाव विसर्जित हो जाता है। शरीर में कहीं तनाव नहीं रहता। मस्तिष्क तनाव रहित होता है तब ग्रहण की क्षमता बढ़ जाती है।

दूसरा प्रयोग है--लयबद्ध श्वास। योग में प्राणायाम का बहुत महत्त्व रहा है। धर्म का यह अनिवार्य अंग है। प्राणायाम मस्तिष्कीय विकास के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इससे मस्तिष्क के सुप्त और निष्क्रिय केन्द्र जागृत और सक्रिय होते हैं।

लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां जागती हैं। सारा तंत्र उससे प्रभावित होता है। लयबद्ध चलना, बोलना, श्वास लेना--ये शक्ति-जागरण के प्रेरक तत्त्व हैं। जीवन विज्ञान की प्रणाली में इनको बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है।

जीवन-विज्ञान पद्धति के तीन मुख्य आधार हैं--कायोत्सर्ग, समवृत्ति-श्वास और अनुप्रेक्षा। पश्चिमी जगत् में जिसे सजेशन, ऑटो-सजेशन कहा जाता है, वह अनुप्रेक्षा का ही रूप है। चिकित्सा के क्षेत्र में पहले सजेशन का प्रयोग होता था। आजकल

सम्मोहन के द्वारा बड़े-बड़े ऑपरेशन कर देते हैं। इससे न बीमार व्यक्ति को कोई कष्ट होता है और न डॉक्टर को। संदेश देना, सुझाव देना, अनुप्रेक्षा करना,भावना से भावित करना--ये सब भारतीय योगविद्या के अंग हैं। इनसे मस्तिष्क की शक्तियों को जगाया जा सकता है।

**जीवन विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण**

मस्तिष्क प्रशिक्षण के संदर्भ में जीवन विज्ञान की परिकल्पना से कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं--

० मस्तिष्क में असीम शक्ति है।

० उसको जागृत किया जा सकता है।

० शक्ति की जागृति तनाव और थकान के बिना की जा सकती है।

० जीवन-विज्ञान की शिक्षा प्रणाली मस्तिष्क के दाएं और बाएं--दोनों पटलों के सन्तुलित विकास की पद्धति है।

० अनुकम्पी नाड़ीतन्त्र (पेरासिम्पेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति आक्रामक, उद्दण्ड बनता है, बैचेनी का अनुभव करता है। परानुकम्पी नाड़ीतंत्र (सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अतिसक्रियता से व्यक्ति डरपोक, दब्बू, हीनभावना से ग्रस्त होता है। यह स्नायविक असन्तुलन है। जीवन-विज्ञान इन दोनों के सन्तुलन की पद्धति है।

० विवेक (रीजनिंग माइण्ड) और संवेग (इमोशन) में संघर्ष होता रहता है। विवेक कहता है--यह काम गलत है, नहीं करना है। संवेग प्रबल होता है, उसे करा देता है इसलिए ज्ञान और आचरण की दूरी बनी रहती है।

जीवन-विज्ञान संवेग नियंत्रण की पद्धति है।

० संवेद (सेंस एनर्जी) निरन्तर क्रियाशील रहते हैं, इससे शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। अति सक्रियता से मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली पर दबाव पड़ता है। उससे स्वचालित नाड़ीतंत्र की प्रणाली पर दबाव पड़ता है।

जीवन-विज्ञान संवेद-नियंत्रण की पद्धति है।

० प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) में शक्ति संचित है। अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) उसका नियंत्रण करने वाला है। उसके द्वारा शक्ति प्रवाहित होकर सुषुम्ना शीर्ष (मेडुलाआबलांगेटा) में जाती है। वहां से यह मेरुदंड में जाती है। वहां से शरीर की सारी प्रक्रियाएं चालू होती हैं।

जीवन-विज्ञान के द्वारा चेतना-प्रक्रिया (कांसस एक्टिविटी) को कम कर बिंब प्रक्रिया (रिफ्लेक्स एक्टिविटी) को बढ़ाया जा सकता है, जिससे मस्तिष्क पर दबाव

न पड़े।

० पीनियल ग्लेंड की निष्क्रियता से नियन्त्रण की क्षमता कम हो जाती है। थाइमस ग्लेंड की निष्क्रियता से आनन्द की अनुभूति में कमी आ जाती है, बाहर की ओर झुकाव बढ़ जाता है।

० व्यवहार और आचरण का मुख्य आधार भावधारा है। भाव दो भागों में विभक्त हैं--विधेयात्मक (पोजिटिव) और निषेधात्मक (नेगेटिव)।

मनोविज्ञान के अनुसार इसका विश्लेषण इस प्रकार है--

**विधेयात्मक** ***(आचार/व्यवहार)***

| **भाव** | **व्यक्तित्व** | **परिणाम** |
|---|---|---|
| विश्वास | उत्साही | सफलता |
| अभय | आशावादी | समादर |
| धैर्य | प्रसन्न | निश्चिंतता |
| सहिष्णुता | तनावमुक्त | आंतरिक शांति |
| मृदुता | विनयशील | मैत्री |
| श्रद्धा | सहृदय | स्वस्थता |
| निष्ठा | सहानुभूतिपूर्ण | सुख |
| सामंजस्य | वीरतापूर्ण | विकास |
| पारस्परिक समझ | अनुशासनबद्ध | साहस |
| आदि-आदि | आदि-आदि | प्रेम आदि-आदि |

**निषेधात्मक** ***(आचार-व्यवहार)***

| **भाव** | **व्यक्तित्व** | **परिणाम** |
|---|---|---|
| घृणा | दुर्बल | कुण्ठा |
| ईर्ष्या | कठोर | निराशा |
| संदेह | उद्दण्ड | लाचारी |
| लोभ | नीरस | उद्विग्नता |
| माया | चिड़चिड़ा | दुःख |
| दीनता/हीनता | रूखा | असफलता |
| छिद्रान्वेषण | आलसी | रुग्णता |
| अहं | डांवाडोल | दरिद्रता |
| आग्रह | धोखेबाज | थकावट |
| द्वेष | स्वार्थी | ऊब, असंतोष |
| आदि-आदि | आदि-आदि | आदि-आदि |

जीवन-विज्ञान के द्वारा विधेयात्मक भाव का विकास कर निषेधात्मक भाव से मुक्ति पाई जा सकती है।

**मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति**

जीवन-विज्ञान मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति है। उसके तीन अंग हैं--

१. संवेद-नियंत्रण पद्धति
२. संवेग-नियंत्रण पद्धति
३. विचार-नियंत्रण पद्धति

इसके साध्य तत्त्व सात हैं--

१. श्वास नियंत्रण
२. शरीर नियंत्रण
३. चैतन्य-केन्द्र जागरण
४. स्वभाव परिवर्तन
५. आभामंडलीय निर्मलता
६. सामुदायिक चेतना का विकास
७. रचनात्मक शक्ति का विकास

इसके साधक तत्त्व पांच हैं--

१. श्वास-प्रेक्षा
२. शरीर-प्रेक्षा
३. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा
४. अनुप्रेक्षा (सुझाव और अनु-चिन्तन)
५. लेश्या-ध्यान (आभामंडल का ध्यान)

अनुप्रेक्षा मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रक्रिया है। उसमें पुनरावृत्ति की जाती है। संस्कार निर्माण के लिए एक मास से तीन मास तक प्रतिदिन ५० से १०० आवृत्तियां की जाती हैं। शिक्षण के लिए ३२ से ५० आवृत्तियां करना आवश्यक है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण प्रणाली के द्वारा मस्तिष्क और शरीर को प्रतिदिन नियन्त्रित ( सूचना द्वारा सूचित या निर्दिष्ट) कर स्वास्थ्य को नियमित किया जा सकता है।

इसके द्वारा व्यवसाय, खेलकूद, अन्तरिक्ष यात्रा, समुद्र यात्रा, पर्वतारोहण आदि विभिन्न क्षेत्रों में कठिन प्रतीत होने वाले कार्य सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। इस प्रणाली के द्वारा अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) को विकसित कर अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जा सकते हैं। व्यवसाय प्रबंधक, राजनयिक, प्रशासन तंत्र के अधिकारी, न्यायाधीश और कार्यपालिका के सदस्य--ये सभी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। पुलिस और सेना के लिए भी इसका बहुत मूल्य है। एकाग्रता, संकल्पशक्ति, नियंत्रण की क्षमता और स्वभाव की पुनर्रचना--ये जीवन की उपलब्धियां हैं। जीवन-विज्ञान के प्रयोग द्वारा इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

# पारिभाषिक शब्द

अंतरात्मा--आत्माभिमुखी चेतना।
अघ्रात--जिसे सूंघा न गया हो।
अचेतन--जड़।
अचेतन मन--मनोविज्ञान की भाषा में अज्ञात मन, सूक्ष्म मन।
अजीव--अचे तन तत्त्व।
अणिमा सिद्धि--अणुरूप बनने की क्षमता।
अतिसूक्ष्म शरीर--कार्मण शरीर--कर्म से निष्पन्न शरीर।
अतीन्द्रिय ज्ञान--पौद्‌गलिक साधनों की अपेक्षा रखे बिना केवल आत्मा द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान।
अदस् मन--वह मन, जिसमें प्रवृत्यात्मक इच्छाएं एवं आकांक्षाएं पैदा होती हैं।
अदृष्ट--जिसे देखा न गया हो।
अधिशास्ता मन--अहं मन का नियामक।
अध्यवसाय--चेतना का सूक्ष्म रूप।
अनंत अनुप्रेक्षा--संसार परम्परा का अनुचिन्तन ।
अनंत चतुष्टयी--अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतशक्ति और अनंत आनंद।
अनंतानुबंधी कषाय--तीव्रतम कषाय--सम्यक्त्व का प्रतिबंधक।
अननुभूत--जिसका अनुभव न किया गया हो।
अनन्यदर्शी--आत्मदर्शी।
अनित्य अनुप्रेक्षा--'जितने संयोग हैं, उनका वियोग निश्चित है' इस भावना का अनुचिन्तन।
अनिमेष प्रेक्षा--त्राटक।
अनेकान्त--द्रव्य के एक पर्याय के माध्यम से शेष अनंत पर्यायों को स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।
अन्तर्यात्रा--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग--सुषुम्ना में चित्त की यात्रा।
अन्नमय कोष--अन्नमय वलय।
अन्यत्व अनुप्रेक्षा--'मैं शरीर नहीं हूं' 'आत्मा अलग है, शरीर अलग है,' इस भावना का अनुचिन्तन।
अन्वय--साधन के होने पर साध्य का होना अथवा साध्य में ही साधन का होना।

**अपानप्राण**—पीठ, पीठ के अन्त्यभाग और पार्ष्णियों (एडियों) में परिव्याप्त वायु।

**अपूर्वकरण**—ऐसे मनोभाव का जागरण, जो पहले कभी नहीं हुआ। यह दो बार घटित होता है—जब व्यक्ति में सम्यग्दृष्टि का जागरण होता है अथवा जब व्यक्ति क्षपकश्रेणी का आरोहण करता है।

**अप्रत्याख्यान कषाय**—तीव्रतर कषाय—अणुव्रत का प्रतिबंधक।

**अप्रमाद**—अध्यात्म में उत्साह, जागरूकता।

**अबुद्ध जागरिका**—महाव्रत की भूमिका से लेकर वीतराग की भूमिका तक में होने वाला आत्म-जागरण

**अमनस्क योग**—निर्विकल्प ध्यान।

**अमूर्त**—जिसका कोई आकार न हो।

**अयोग**—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध।

**अरसित**—जिसका स्वाद न चखा गया हो ।

**अर्थव्यक्त चेतना**—हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा—इष्ट की प्रवृत्ति और अनिष्ट की निवृत्ति करने में क्षम चेतना।

**अर्हत्**—वीतराग।

**अवग्रह**—वस्तु के सामान्यरूप का प्रथम ग्रहण अथवा प्राथमिक बोध।

**अवधान**—मन का किसी एक वस्तु पर केन्द्रित होना।

**अवधिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा होने वाला मूर्त द्रव्यों का ज्ञान।

**अवाय**—वस्तु स्वरूप का निर्णय।

**अविरति**—आकांक्षा।

**अव्यक्त चेतना**—आत्मा का अध्यवसाय—परिणाम।

**अव्याबाध सुख**—बाधा रहित सुख।

**अशरण अनुप्रेक्षा**—'कोई त्राण या शरण नहीं है' इस भावना का अनुचिन्तन ।

**अश्रुत**—जिसे सुना न गया हो।

**अश्विनी मुद्रा**—अश्व की भांति गुदा का संकोचन और विकोचन ।

**असंज्ञी**—अमनस्क।

**अस्पृष्ट**—जिसका स्पर्श न किया गया हो।

**अहं मन**—इच्छा को नियंत्रित करने वाला मन।

**आगम**—आप्त वचन।

**आचार्य**—धर्मसंघ के अधिशास्ता, तीर्थंकर के प्रतिनिधि।

**आतापना**—सूर्य का आतप लेना।

**आत्मा**--चैतन्यमय सत्ता।

**आधि**--मानसिक रोग।

**आनंदकेन्द्र**--हठयोग की भाषा में अनाहत चक्र।

**आर्त्तध्यान**--प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग होने पर उत्पन्न एकाग्र चिन्तन।

**आलोचना**--अपने प्रमाद या भूलों को गुरु के समक्ष निवेदित करना।

**आश्रव**--कर्म को ग्रहण करने वाले आत्मा के परिणाम।

**आहार पर्याप्ति**--आहार योग्य पुद्‌गलों का ग्रहण, परिणमन एवं विसर्जन करने की शक्ति।

**इन्द्रिय**--स्पर्श, रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली चेतना।

**इन्द्रिय प्रतिसंलीनता**--इन्द्रिय विषय का अग्रहण तथा प्राप्त विषय पर राग-द्वेष न करना।

**ईहा**--निर्णय की चेष्टा, वस्तु स्वरूप का परामर्श, वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन।

**उदान प्राण**--हृदय, कण्ठ, तालु और सिर में विचरने वाला वायु।

**उदीरणा**--निश्चित समय से पहले कर्मों को उदय में लाना।

**उपकरण इन्द्रिय**--विषय को ग्रहण करने में समर्थ पौद्‌गलिक इन्द्रिय।

**उपयोग इन्द्रिय**--चेतना का व्यापार--जानने की क्षमता का उपयोग।

**उपशान्त मोह गुणस्थान**--उपशमन की भूमिका, जिसमें अन्तर्मुहूर्त तक मोह का सर्वथा उपशमन होता है।

**उपाधि**--भावनात्मक रोग।

**उपाध्याय**--श्रुत के अध्ययन एवं अध्यापन के लिए नियुक्त।

**एकत्व अनुप्रेक्षा**--'मैं अकेला हूं'-- इस भावना का अनुचिन्तन।

**एकाग्र मन**--एक ही आलम्बन पर टिकने वाला मन।

**एकेन्द्रिय**--वे जीव, जिनमें एक इन्द्रिय--स्पर्शन इन्द्रिय का विकास होता है।

**ओघ संज्ञा**--समूह चेतना (कलेक्टिव माइंड)।

**औत्पत्तिकी बुद्धि**--प्रतिभा या सहज बुद्धि, अदृष्ट या अश्रुत विषय का ज्ञान करने में सक्षम बुद्धि।

**औदयिक भाव**--मोह कर्म के उदय से होने वाला जीव का स्पंदन।

**औदारिक शरीर**--स्थूल शरीर--अस्थि-चर्ममय शरीर।

**औपशमिक भाव**--मोह कर्म के उपशमन से होने वाला जीव का स्पंदन।

**करण**--चैतन्य केन्द्र।

**कर्म**--आत्मा की शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट पुद्गल।

**कर्मज रोग**--पूर्व कृत कर्म से उत्पन्न रोग।

**कषाय**--क्रोध, मान, माया और लोभ से रंजित आत्म-परिणाम।

**कषाय चतुष्टयी**-- क्रोध, मान, माया, लोभ।

**कषाय प्रतिसंलीनता**--क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को उदय में न लाना और उदय प्राप्त को विफल करना।

**कांक्षा**--लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।

**कापोत लेश्या**--कापोत वर्ण के पुद्गल द्रव्यों के योग से होनेवाला आत्मा का परिणाम।

**कायगुप्ति**--कायिक प्रवृत्ति का निरोध।

**कायोत्सर्ग**--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग--शरीर के शिथिलीकरण एवं ममत्व के विसर्जन का अभ्यास।

**कार्मिक बुद्धि**--कार्य करते-करते अभ्यास से प्राप्त कौशल।

**कृष्ण लेश्या**--कृष्ण पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम।

**कैवल्य**--सर्वज्ञता--सम्पूर्ण ज्ञान।

**क्रियकेन्द्र**--मस्तिष्क का वह केन्द्र, जो प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी है।

**क्रियावाहीतंतु**--प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी तंतु।

**क्षपक श्रेणी**--वीतराग अवस्था के आरोहण का सोपान, घातिकर्म को क्षीण कर ऊर्ध्वारोहण करने वाली आत्मिक परिणाम धारा।

**क्षायिक भाव**--कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला जीव का स्पंदन।

**क्षायोपशमिक भाव**-- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला जीव का स्पंदन।

**गुणस्थान**--आध्यात्मिक विकास की भूमिका।

**गर्भज**--गर्भ से पैदा होने वाले जीव।

**चतुरिन्द्रय**--वे प्राणी, जिनमें स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु इन चारइन्द्रियों का विकास होता है।

**चारित्र मोह**--आचरण को विकृत बनाने वाले मोह के परमाणु।

**चित्त**-स्थूल शरीर के मस्तिष्कीय स्तर पर काम करने वाली चेतना।

**चेतन मन**--मनो विज्ञान की भाषा में ज्ञातमन, स्थूलमन।

**चैतन्य केन्द्र**--शरीर में अवस्थित विशिष्ट शक्तिस्रोत।

**छद्म**--आवरण।

**छद्मस्थ**--आवरण सहित ज्ञान वाला।

**जागरिका**--आत्म निरीक्षण, आत्मालोचन, आत्मा अथवा चैतन्य के प्रति जागृत होना।

**जातिस्मृति**--पूर्वजन्म की याद।

**जालंधर बंध**--कंठकूप में ठुड्डी को लगाना।

**जिन**--ज्ञाता, रागद्वेष-विजेता।

**जिनशासन**--अर्हत् का शासन।

**जीव**--जो प्राण धारण करता है, जो चैतन्यवान् है।

**जीवन विज्ञान**--शिक्षा-क्षेत्र की अपूर्णता को मिटाने वाला प्रायोगिक उपक्रम, मानसिक एवं भावात्मक विकास की प्रयोग पद्धति।

**ज्ञानकेन्द्र**--हठयोग की भाषा में सहस्रार चक्र।

**ज्ञानग्राही तंतु**--सेंसरीनर्व--विषय को ग्रहण करने वाले तंतु।

**ज्ञानवाही तंतु**--गृहीत विषय को मस्तिष्क तक पहुंचाने वाले तंतु।

**ज्ञानात्मक मन**--भावमन, चित्त से अनुप्राणित मन।

**ज्ञानावरणीय कर्म**--वह कर्म, जिससे व्यक्ति की ज्ञान-चेतना आवृत होती है।

**ज्योति केन्द्र**--ललाट के मध्य में अवस्थित चैतन्य केन्द्र।

**तीर्थंकर**--साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका--इन चार तीर्थों के संस्थापक।

**तेजोलेश्या**--अरुण पुद्गल द्रव्यों के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम।

**तैजस केन्द्र**--हठयोग की भाषा में मणिपूर चक्र।

**त्रीन्द्रिय**--वे प्राणी, जिनमें स्पर्शन, रसन और घ्राण--इन तीन इन्द्रियों का विकास होता है।

**त्रैकालिक संज्ञान**--वर्तमान, भूत और भविष्य का बोध।

**दर्शन**--वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध।

**दर्शनकेन्द्र**--हठयोग की भाषा में आज्ञा चक्र।

**दीर्घकालिकी संज्ञा**--त्रैकालिक एवं आलोचनात्मक मन।

**दृष्टि मोह**--दर्शन शक्ति को मूढ बनाने वाले मोह के परमाणु।

**देशविरति गुणस्थान**--अणुव्रत की भूमिका।

**द्वीन्द्रिय**--वे प्राणी, जिनमें स्पर्शन और रसन--इन दो इन्द्रियों का विकास होता है।

**द्रव्यलेश्या**--पौद्गलिक लेश्या।

**द्रव्येन्द्रिय**--इन्द्रियों की बाह्याभ्यन्तर आकार रचना।

**धर्म्यध्यान**--वस्तु के स्वभाव का चिन्तन या विश्लेषण।

**धारणा**--निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति।

**धारणा**--चित्त को किसी एक देश में सन्निविष्ट करना।

**निदान**--पौद्गलिक सुख, पदार्थ अथवा पद-प्रतिष्ठा को पाने का मानसिक संकल्प ।

**निरालम्बन ध्यान**--निर्विकल्प ध्यान।

**निरुद्ध मन**--बाह्य आलंबन से शून्य, केवल आत्मपरिणत मन।

**निर्जरा**--आत्मा की उज्ज्वलता।

**निर्वृत्ति इन्द्रिय**--इन्द्रिय की बाह्य-आभ्यन्तर आकार रचना।

**नीललेश्या**--नील पुद्गल द्रव्यों के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम।

**नोकर्म**--कर्मबंध की सहायक सामग्री।

**नोकषाय**--ईषत् कषाय--हास्य, रति, अरति, भय, शोक आदि।

**पंचेन्द्रिय**--वे प्राणी, जिनमें पांचों इन्द्रियों--स्पर्शन,रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का विकास होता है।

**पद्मलेश्या**--पीले पुद्गल द्रव्यों के निमित्त से होने वाला आत्मा का परिणाम।

**परमाणु**--जिसको तोड़ा न जा सके वैसा अणु।

**परमाणु-प्रचय**--परमाणुओं का समूह।

**परमात्मा**--अति निर्मल चेतना।

**परिश्रव**--संवर, निरोध।

**पर्याप्ति**--जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति का निर्माण।

**पाप**--अशुभ कर्मों का उदय।

**पारिणामिक भाव**--सहज रूप में होने वाला परिणमन, परिवर्तन।

**पारिणामिकी बुद्धि**--आयु की परिक्वता के साथ विकसित होनेवाली बुद्धि।

**पुण्य**--शुभ कर्मों का उदय।

**पुद्गल**--स्पर्श, रस, वर्ण एवं गंधयुक्त द्रव्य।

**पौद्गलिक मन**--ज्ञानात्मक मन का सहायक मन।

**प्रज्ञा**--अंतर्दृष्टि।

**प्रतिक्रमण**--आत्मनिरीक्षण, आलोचन, कृत का विशोधन।

**प्रतिसंलीनता**--बाह्य जगत् से विरत होकर अन्तर्जगत् में लीन होना।

**प्रत्यभिज्ञा**--पहचान--'यही वह है' इस आकार का ज्ञान।

**प्रत्यय**--प्रतीति, ज्ञान।

**प्रत्याख्यान कषाय**-- मंद कषाय--महाव्रत का प्रतिबंधक।

**प्रसन्नता**--हर्ष और शोक से परे की स्थिति।

**प्राण**--जीवनी शक्ति।

**प्राण**--नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैरों के अंगूठे तक व्याप्त रहने वाला वायु।

**प्राणकेन्द्र**--नासाग्र पर अवस्थित चैतन्य केन्द्र।
**प्राणमय कोष**--प्राणमय वलय।
**प्राणायाम**--प्राण का संयम।
**प्रायश्चित्त**-दोष विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।
**बंध**--जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संबध होना।
**बहिरात्मा**--शरीराभिमुखी चेतना।
**बुद्ध जागरिका**--केवली अथवा सर्वज्ञ में होने वाला आत्मजागरण।
**बुद्धि**--विवेक और निर्णय करने में सक्षम चेतना।
**भावक्रिया**-कर्म और मन का सामंजस्य, जो क्रिया हो, उसी में मन का निवेश।
**भावना**--अभ्यास, पुनः पुनः प्रवृत्ति, किसी चिन्तन अथवा विचार से मन को प्रभावित करना--वासित करना।
**भावलेश्या**--आत्मिक लेश्या।
**भावितात्मा**--जिसकी चेतना भावना से संस्कारित है।
**भावेन्द्रिय**--जानने की योग्यता और प्रवृत्ति।
**भेदविज्ञान**--आत्मा और शरीर के पृथक्त्व की अनुभूति।
**मतिज्ञान**--इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान।
**मन**--स्मृति, कल्पना और चिन्तन का क्रियातंत्र जो चित्त द्वारा संचालित है।
**मनःपर्यवज्ञान**--मनोवर्गणा के पुद्गलों के अनुसार होने वाला मानसिक अवस्थाओं का बोध।
**मनोगुप्ति**--मानसिक प्रवृत्ति का निरोध।
**मार्गणा**--खोज, अनुसंधान।
**मिथ्यादृष्टि**--तत्त्व की विपरीत श्रद्धा, तत्त्व की विपरीत श्रद्धा से युक्त व्यक्ति।
**मुनि**--पंच महाव्रत को स्वीकार करने वाला।
**मूढ**--मूर्च्छा से ग्रस्त।
**मूर्त्त**--वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त वह द्रव्य, जिसका कोई आकार हो, मूर्त्ति हो।
**मूलबंध**--गुदा का ऊपर की ओर आकर्षण।
**मोक्ष**--कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्म-स्वरूप की उपलब्धि ।
**यातायात मन**--वह मन, जो कभी बहिर्मुखी बनता है और कभी अंतर्मुखी।
**यूथचारिता**--समूह में रहने की मनोवृत्ति।
**राग**--पदार्थ के प्रति आसक्ति।
**रौद्रध्यान**--हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-भोगों की रक्षा के निमित्त होने वाला एकाग्र चिन्तन।

**लब्धि**--योगज विभूति।

**लब्धि इन्द्रिय**--चेतना की योग्यता--इन्द्रियों की जानने की क्षमता।

**लेश्याध्यान**--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग--रंगों का ध्यान, आभामण्डलीय ध्यान।

**लोकसंज्ञा**--लोकानुकरण की चेतना।

**लोकसंज्ञा**--वैयक्तिक चेतना।

**वर्गणा**--एकजातीय पुद्‌गलों का समूह।

**वाक्‌गुप्ति**--वाचिक प्रवृत्ति का निरोध।

**वाममार्ग**--तान्त्रिक पद्धति।

**विक्षिप्त मन**--इधर-उधर विचरण करने वाला मन।

**विक्षेप**--मन की चंचलता।

**विचिकित्सा**--लक्ष्यपूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता।

**विज्ञानमयकोष**--विज्ञानमय वलय।

**विपश्यना**--प्रेक्षा।

**विपाक**--कर्म का फल।

**विरति**--आकांक्षा से मुक्ति।

**विशुद्धिचक्र**--कंठ में अवस्थित चैतन्य केन्द्र।

**वीतराग**--जिसने रागद्वेष को क्षीण कर दिया है वह व्यक्ति।

**वैनयिकी बुद्धि**--शिक्षा से विकसित होने वाली बुद्धि। आत्मसंयम, अनुशासन अथवा गुरुशुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि।

**वैभाविक पर्याय**--दूसरे के निमित्त से होने वाली अवस्था।

**व्यंजन**--ज्ञाता और ज्ञेय का उचित सन्निधान।

**व्यग्र मन**--नाना आलम्बनों पर गतिशील मन।

**व्यतिरेक**--साध्य के अभाव में साधन का अभाव।

**व्याधि**--शारीरिक रोग।

**व्यान प्राण**--त्वग् मात्र में विचरने वाला वायु।

**शंका**--लक्ष्य के प्रति संदेह।

**शक्ति केन्द्र**--हठयोग की भाषा में मूलाधार चक्र।

**शरीर प्रेक्षा**--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग, शरीर के प्रकम्पनों पर ध्यान एकाग्र करना।

**शल्य**--अन्तर्व्रण।

**शान्तिकेन्द्र**--मस्तिष्क के ऊपरी भाग में अवस्थित चैतन्य केन्द्र।

**शुक्लध्यान**--निर्मल प्रणिधान--समाधि।

**शुक्ललेश्या**--श्वेत पुद्‌गल द्रव्यों के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम।

**शैलेशी अवस्था**--अप्रकंप अवस्था।

**श्लिष्ट मन**--अपने ध्येय में स्थिर मन।

**श्वास-प्राण**--श्वास-उच्छ्वास के पुद्‌गलों के ग्रहण एवं उत्सर्जन की शक्ति।

**श्वास प्रेक्षा**--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग, श्वास पर ध्यान एकाग्र करना।

**श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति**--श्वास योग्य पुद्‌गलों का ग्रहण, उत्सर्जन और परिणमन करने वाली शक्ति।

**श्रद्धा**--घनीभूत इच्छा, ध्येय के प्रति समर्पण।

**श्रुतज्ञान**--वाच्य और वाचक का संबंध-ज्ञान।

**संक्रमण**-एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति में परिवर्तित होना।

**संज्वलन कषाय**--मंदतर कषाय--वीतरागता का प्रतिबंधक।

**संज्ञा**--चित्तवृ त्ति, सं वे दना।

**संज्ञी**--समनस्क।

**संवर**--कर्म निरोध करने वाले आत्मा के परिणाम।

**संशय**--वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प।

**समवृत्तिश्वासप्रेक्षा**--प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग--दाएं नथुने से श्वास लेना, बाएं से निकालना। पुनः बाएं से लेना, दाएं से निकालना।

**समाधि**--मन की एकाग्रता अथवा निर्विकल्प अवस्था।

**समान प्राण**--सारे संधिभागों, हृदय तथा नाभि में विचरने वाला वायु।

**समुद्‌घात**--बलपूर्वक आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालना अथवा इतस्ततः प्रक्षेपण करना।

**सम्मूर्च्छिम**--बिना गर्भधारण के उत्पन्न होने वाला जीव।

**सम्यग् चारित्र**--रागद्वेष मुक्त आचरण।

**सम्यग् ज्ञान**--यथार्थ बोध।

**सम्यग् दर्शन**--यथार्थ दृष्टि--सत्य के प्रति श्रद्धाशील दृष्टिकोण।

**सम्यग् दृष्टि**--तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा, तत्वश्रद्धा से संपन्न व्यक्ति।

**सम्यग् दृष्टि गुणस्थान**--व्रतरहित सम्यग्दर्शन की भूमिका।

**सर्वविरति गुणस्थान**--महाव्रत की भूमिका।

**सर्वार्थग्राही**--स्पर्श , रस आदि सभी इन्द्रिय ग्राह्य विषयों का ग्रहण करने वाला ज्ञान--मन। मन सर्वा र्थ ग्र ाही हो ता है ।

**सामायिक**--समता की साधना का विशेष प्रयोग, जिसकी आराधना अडचास मिनट तक की जाती है।

**सालम्बन ध्यान**--सविकल्प ध्यान।

**सावद्य योग**--पापकारीप्रवृत्ति।

**सिद्ध**--समस्त कर्मों को क्षय करने वाली आत्मा।

**सुदृष्ट जागरिका**--सम्यक्त्व और व्रत संपन्न व्यक्ति में होने वाला आत्म-जागरण।

**सुलीन मन**--अपने ध्येय में अधिक सुस्थिर मन।

**सूक्ष्म शरीर**--तैजस शरीर, विद्युत् शरीर (इलेक्ट्रीकल बाडी)।

**स्त्यानर्द्धि निद्रा**--गाढतम नींद।

**स्मृति**--संस्कार के जागरण से उत्पन्न 'वह' इस आकार का ज्ञान।

**स्वाभाविक पर्याय**--किसी बाह्य निमित्त के बिना स्वभाव से होने वाला पर्याय।

**स्वास्थ्य केन्द्र**--हठयोग की भाषा में स्वाधिष्ठान चक्र।

**स्थितप्रज्ञा**--जिसकी प्रज्ञा निश्चल हो, जो बाह्य प्रभाव, इन्द्रिय और मन की चंचलता से प्रभावित न हो।

**स्थितात्मा**--जिसका इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण हो।